विभाजन की त्रासदी

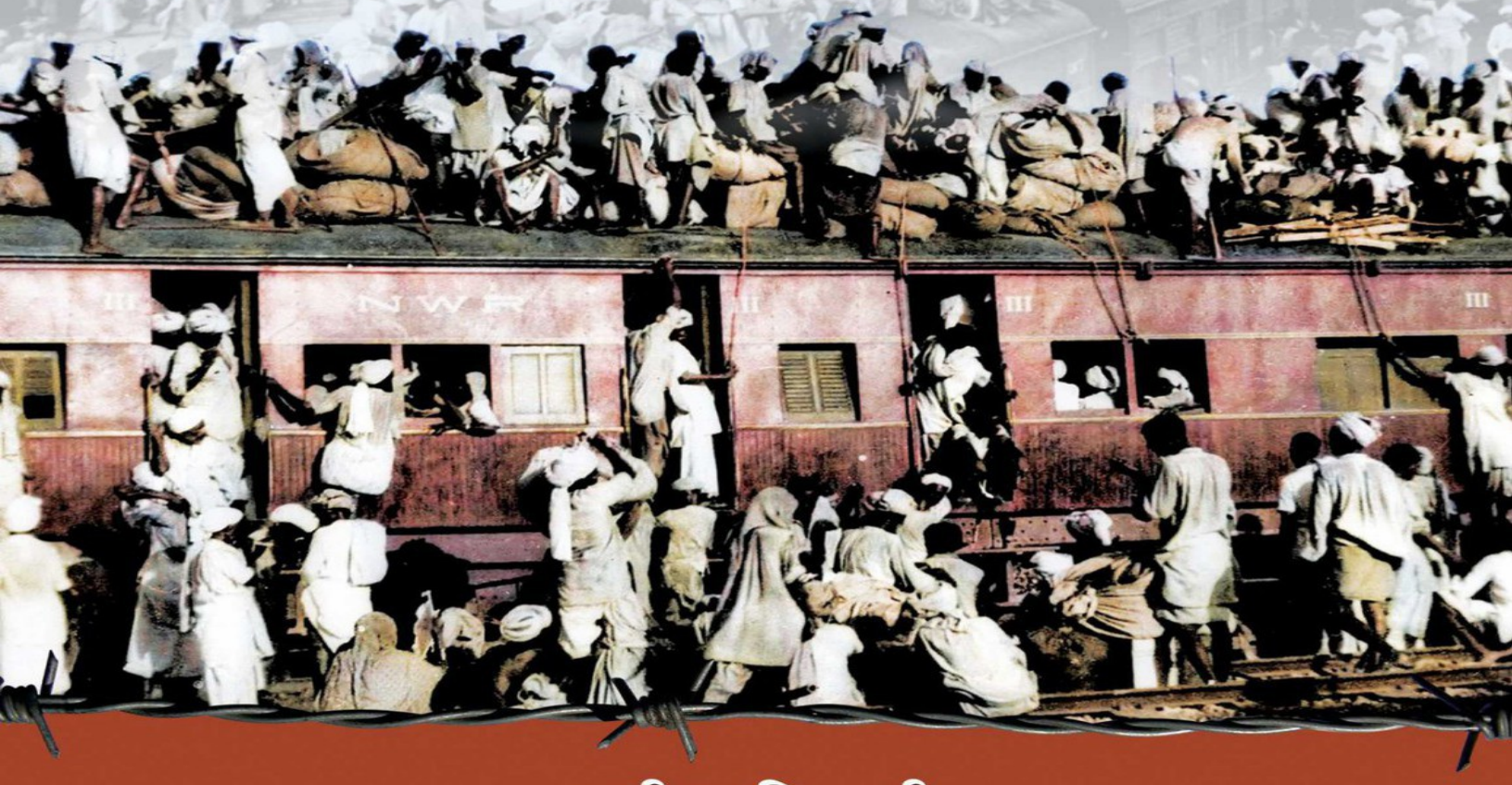

मुनीश त्रिपाठी

विभाजन की त्रासदी

मुनीश त्रिपाठी

प्रभात प्रकाशन
ISO 9001:2015 प्रकाशक

मैं यह पुस्तक
भारत के विभाजन के दौरान मारे गए उन लाखों लोगों की हुतात्माओं तथा करोड़ों विस्थापित हुए
उन परिवारों को समर्पित करता हूँ, जिनको बेबसी के आलम में वेवतनी होना पड़ा। साथ ही यह पुस्तक समर्पित है,
मेरे पूज्य पिता **श्री ओमप्रकाश त्रिपाठी** तथा
माता श्रीमती राधारानी को,
जिनसे मुझे यह जीवन प्राप्त हुआ और जिन्होंने मुझे इस लायक बनाया कि मैं आज आपको संबोधित कर सकूँ।

भूमिका

भारत की आजादी के कालखंड पर नजर डालें तो आज लगभग 71 बरस से ऊपर का समय बीत चुका है। जंगे आजादी का यह घमासान 110 सालों तक चला। उसके बाद आजादी का सूरज चमका। आजादी के बाद से आज तक देश ने क्या पाया और क्या खोया, यह इस किताब का मुद्दा हरगिज नहीं है। होना चाहिए भी नहीं। वस्तुत: चीन भी भारत के बाद ही आजाद हुआ था, जो आज विकास की नई गाथा लिखकर अमेरिका जैसी महाशक्ति के बराबर जा खड़ा हुआ, मगर भारत उससे पूरा एक कालखंड पीछे है और महज चीन के बराबर खड़े होने के लिए ही हमें अभी बहुत चाँद-सूरज देखने होंगे। इसमें हमारे उन नीति-नियंताओं की अदूरदर्शिता को दोषी ठहराया जा सकता है, जिनके हाथ में आजादी के तुरंत बाद से देश की बागडोर रही और जिनकी ऐतिहासिक भूलों और महात्त्वाकांक्षों ने भारतवर्ष के इतिहास की धारा को एक धुंध की तरफ मोड़ दिया। वह धुंध बीते सत्तर सालों में कितनी छँटी, यह तो बुद्धिजीवी जानें। मुझे तो वह और ज्यादा गहराती नजर आती है।

आजादी का जश्न अभी क्षितिज तक भी न चढ़ सका था कि मुल्क के दो फाड़ होने का बिगुल बज गया और सांप्रदायिक सद्भाव तार-तार हो गया। जिसके साथ ही दोनों तरफ की बेकसूर आवाम के खून का एक दरिया बह निकला। लाखों लोग मारे गए। करोड़ों बेघर हुए। लगभग एक लाख महिलाओं, युवतियों का अपहरण हुआ। यही बँटवारा इस पुस्तक का मुख्य मुद्दा है, जो मेरी कड़ी मेहनत और बरसों के शोध का नतीजा है। बँटवारे में मरनेवालों का सरकारी आँकड़ा केवल छह लाख दर्ज है, लेकिन इस संदर्भ में अगर तत्कालीन अंग्रेज अधिकारी मोसले पर गौर करें तो वह गैरसरकारी आँकड़ा दस लाख दरशाता है। यानी कि बँटवारे में छह लाख नहीं, बल्कि दस लाख लोग मारे गए। गौरतलब है कि न पहले और न ही बाद में, इतना बड़ा खून-खराबा और बर्बरता आज दुनिया के किसी भी मुल्क में पेश नहीं हुआ।

इस फ्रंट पर कुछ ऐसे चौंकानेवाले तथ्य मिलते हैं, जो सोचने पर मजबूर करते हैं। विभाजन को रोकने के लिए गांधी ने भले ही आखिर तक प्रयास किया, मगर एक समय के बाद पटेल व नेहरू विभाजन के पक्ष में जा खड़े हुए। नोआखली में गांधी के फँसे होने के कारण माउंटबेटन ने अपनी कूटनीतिक चाल चली और पटेल व नेहरू को विभाजन के लिए राजी कर लिया। कांग्रेस कार्यसमिति भी पूरी तरह विभाजन के पक्ष में थी। मात्र 15 सदस्य ही थे, जिन्होंने मतदान के दौरान विभाजन का विरोध किया था। जिन्ना की कलकत्ता में प्रत्यक्ष काररवाई के बाद डरे-सहमे नेहरू का मानना था कि विभाजन दंगों को रोकने के लिए जरूरी था। पटेल को अंतरिम सरकार के दौरान महसूस हो चुका था कि अगर विभाजन नहीं हुआ तो देश में एक नहीं कई-कई पाकिस्तान खड़े हो जाएँगे।

अब एक बड़ा सवाल उठता है कि देश का विभाजन आखिर सुनिश्चित कैसे हुआ? क्या जिन्ना का द्विराष्ट्रवाद इसके लिए जिम्मेदार था या फिर अंग्रेजों की कुटिल नीति? क्या गांधी और कांग्रेस के खून में बुनियादी रूप से मुसलिम तुष्टीकरण का बीज विद्यमान था, जिसने अंतत: बँटवारे का एक खूनी वटवृक्ष तैयार किया और जिसकी तपिश आज भी ठंडी नहीं हो पाई है। गांधीजी द्वारा असहयोग आंदोलन में खिलाफत एक अहम मसला था, जो सरासर गैरजरूरी था, मगर जिसे असहयोग आंदोलन में शामिल कर देश के मुसलिम समुदाय को जानबूझकर धर्मांधता की आग में झोंक दिया गया। क्या गांधी के इस कदम से सामाज में सांप्रदायिकता का विष नहीं फैला? अंग्रेज सरकार ने 1909 में जो पृथक् अधिनियम पास किया, जिसे मार्ले मिंटो सुधार के नाम से जाना गया, मगर क्या कयामत थी कि जिसमें विधान परिषदों व नगर पालिका बोर्डों में मुसलिमों के निर्वाचन के लिए अलग से आरक्षण की व्यवस्था की गई थी। यह पहली बार हुआ था और यह देश की धमनियों में सांप्रदायिकता का विष

घोलने की खुली बेहयाई थी। मुसलिम तुष्टीकरण को वैधानिक मान्यता देने का खुला और बेशर्मी भरा खेल था। क्या कोई छिपी बात थी कि तत्कालीन नीति नियंताओं का यह कदम भविष्य में एक वर्ग विशेष के हृदय में और अधिक सांप्रदायिक माँगों का मार्ग प्रशस्त करने की कोशिश करेगा? आखिरकार बिल्कुल यही हुआ। आनेवाले कल में सभी अधिनियमों में मुसलिमों के पृथक् अधिकारों की माँग का दायरा अजगर के मुँह की तरह बढ़ता चला गया। देश के पालनहारों द्वारा इन सांप्रदायिक माँगों के निरंतर माने जाने और इनका दायरा क्रमबद्ध तरीके से बढ़ते चले जाने की परिणति ने ही अंतत: देश के विभाजन की मजबूत लकीर खींच डाली।

एक अहमतरीन सवाल यह भी है कि क्या देश का विभाजन जरूरी हो गया था? क्या तुष्टीकरण ने बँटवारे का ताबूत तैयार किया और क्या इस बँटवारे को रोका जा सकता था? एक सवाल और भी है। वह यह कि इस विभाजन में सबसे ज्यादा नुकसान किस समुदाय को हुआ? जब हमने बारीकी से तथ्यों और इतिहास को खँगाला तो पता चला कि भारत की राजनीति के तत्कालीन और दिग्गज खेवनहारों से न केवल गलतियाँ हुईं, बल्कि गंभीर चूक भी हुई। यह मैं नहीं इतिहासकारों का कहना है। असहयोग आंदोलन में खिलाफत के मसले को शामिल करने के गांधी के फैसले को ताराचंद सहित कई इतिहासकारों ने सरासर गलत ठहराया और इसे गांधी द्वारा तत्कालीन परिस्थिति का सही आकलन न कर पाने का उन्हें जिम्मेदार ठहराया। गांधीजी के कई ऐसे निर्णय थे, जो एक वर्ग को आहत करते थे।

खिलाफत आंदोलन के बाद मालाबार तट पर धर्मांध मुसलमानों द्वारा बड़ी संख्या में निर्दोष हिंदुओं का कत्लेआम हुआ और गांधी ने इस मजहबी कत्लेआम की निंदा तक नहीं की। न ही उनके प्रभाव वाली कांग्रेस ने।

एक अन्य किरदार राममनोहर लोहिया का था। जो विभाजन के प्रबल विरोधी थे। उन्होंने तो नेहरू को राजनैतिक पदलोलुप तक करार दिया और सत्ता में बने रहने की महत्त्वाकांक्षा को भारत विभाजन के लिए जिम्मेदार बताया। लोहिया ने उन्हें बहुरूपिया तक कहने में संकोच नहीं किया।

डॉ. भीमराव अंबेडकर, जो कांग्रेस और गांधीजी की इकतरफा मुसलिम पक्षधर नीति का मुखर विरोध करते आए थे—उन्होंने असहयोग आंदोलन में गांधी के खिलाफत के मसले को शामिल करने का प्रबल विरोध किया था। अंबेडकर ने अपनी 'पाकिस्तान अथवा भारत विभाजन' पुस्तक में लिखा कि जिस तरह की परिस्थिति है, उससे विभाजन तो तय है, लेकिन स्थायी समाधान के लिए एक मात्र रास्ता उन्होंने दोनों देशों की सांप्रदायिक आधार पर जनसंख्या की अदला-बदली को ही बताया। उन्होंने तथ्यों की रोशनी में यह ऐतिहासिक बात लिखी, जो आज के सियासी, खासतौर पर खुद को दलितों का मसीहा कहनेवाले खेवनहारों की आँखें खोल देने के लिए काफी है। उन्होंने लिखा—'हिंदू समुदाय लचीला है, जो सुधारों के लिए सक्रियता रखता है, जबकि मुसलिम समुदाय सुधारों के प्रति निष्क्रिय है। विभाजन के दौरान सबसे ज्यादा जानमाल का नुकसान हिंदू समुदाय को हुआ, यद्यपि मुसलिम समुदाय को भी भारी नुकसान हुआ, मगर हिंदुओं की अपेक्षा कम था। हिंदुओं में सबसे ज्यादा नुकसान दलित समुदाय का हुआ। क्योंकि सवर्ण और अन्य हिंदू, सिख, सिंधी समुदाय घटनाओं के प्रति जागरूक थे और आर्थिक रूप से मजबूत थे। उनमें ज्यादातर शहरी भी थे। दलित समुदाय जो हर तरह से कमजोर होने के साथ-साथ अज्ञानी भी था। सूचनाओं की कमी के चलते वह सही समय पर विस्थापन का निर्णय नहीं ले सका। आर्थिक कमजोरी के चलते वह यातायात के साधन जुटाना भी उसके लिए बड़ी समस्या थी। दो वक्त की रोटी की जुगाड़ दिन-रात करनेवाले दलित के लिए विस्थापन के सुरक्षित संसाधन जुटाना दुष्कर काम था। इन्ही स्थितियों के चलते वह दंगों की विभीषिका में प्रारंभ से ही फँस गया और फिर निकल न सका।'

दलितों पर अमानवीय अत्याचार की सूचना पर गांधी ने कहा था, जिन दलितों का पेशा पाखाना साफ करना नहीं था, उनसे भी कराया जा रहा है। उन्हें

जबरन रोका जा रहा है। दलित नेता जगजीवन राम ने भी दलितों पर अमानवीय अत्याचार की सूचना पर अपील की कि पाकिस्तान के दलित जैसे-तैसे भारत आ जाएँ। तत्कालीन नेता जो भारत में दंगों को रोकने के लिए विभाजन ही एक मात्र समाधान मानते थे, जब विभाजन हो गया और इस त्रासदी के दौरान बड़ा नरसंहार हुआ, तब उन्हें भी पश्चात्ताप में सुलगते देखा गया। नेहरू ने 16 अक्तूबर, 1949 को न्यूयॉर्क के यू.एन.ओ. अधिवेशन में अपने संबोधन में कहा कि अगर उन्हें पता होता कि बँटवारे में इतना बड़ा नरसंहार हो जाएगा तो वे कभी बँटवारा नहीं होने देते। भारत विभाजन में निश्चित तौर पर द्विराष्ट्रवाद की प्रमुख भूमिका थी, परंतु इससे भी ज्यादा खतरनाक विचार वामपंथियों के थे। वे भारत को दो राष्ट्रों वाला देश नहीं मानते थे, बल्कि वे भारत को कई राष्ट्रों वाला देश मानते थे। 1946 में वामपंथी दलों के सदस्यों का एक दल आजादी की संभावनाओं का पता लगाने भारत आया तो कैबिनेट मिशन के समक्ष उसने अपनी यह चौंकानेवाली बेशर्म राय जाहिर की कि भारत को 17 संप्रभु राष्ट्रों में बाँटकर आजाद कर दिया जाए।

वर्तमान तुष्टीकरण व्यवस्था का विमर्श

यह ऐसा अध्याय है, जिसमें 2012 से 2017 तक के भारत और विश्व के कई देशों की कितनी ही ऐसी घटनाओं का तार्किक विश्लेषण किया गया है, जो अतीत के परिप्रेक्ष्य में हमारे वर्तमान और भविष्य को दरशाती हैं। फिर वह चाहे भारत में रोहिंग्या शरणार्थियों का मसला हो या जे.एन.यू. में 'भारत तेरे टुकड़े होंगे' जैसे देश विरोधी नारे लगाए जाने का मामला। कश्मीर का मसला हो या हिंदू मान्यताओं पर विश्वविद्यालयों में कुठाराघात करनेवाली घटनाएँ। मदनमोहन मालवीय को भारत रत्न देना हो या फिर पश्चिम बंगाल में मुसलिम कट्टरपंथियों के हमले हों। ममता सरकार का मौलवियों को मानदेय देने की घोषणा हो या फिर हैदराबाद में ओवैसी बंधुओं की पंद्रह करोड़ मुसलमानों द्वारा सौ करोड़ हिंदुओं को काट डालने की खुली धमकी हो। केरल में लवजेहाद पर कोर्ट और एन.आई. की कार्यप्रणाली हो या इंग्लैंड, फ्रांस, केन्या और सीरिया में इसलामिक चरमपंथियों के खूनी हमले हों। आजादी के पहले भी कमोबेश ऐसी कई घटनाएँ पेश आईं, जिसकी आग में आमजन उस दौर में भी जला, मगर उस समय की कांग्रेसी और वामपंथी जमात ने ऐसी घटनाओं पर करीब-करीब वैसी ही दुर्भाग्यपूर्ण प्रतिक्रिया हमेशा जताई, जैसी कि वह वर्तमान में जताती है। फर्क इतना है कि आज उसके समर्थन में दूसरे कई तथाकथित सेक्युलर दलों की भी कतार लग जाती है, जो महज एक ही कौम के वोटों की गोलबंदी के लिए पागलपन व उन्मादी हो रहे हैं। ये प्रतिक्रियाएँ स्तब्धकारी और निराशाजनक हैं, मगर किसके लिए? इसके साथ ही अन्य कई पहलुओं पर भी हमने गहराई तक जाकर खोजपूर्ण तर्कसंगत और विस्तृत विवेचन किया है और बताया है कि आनेवाले खतरों से निपटने की तैयारी सजगतापूर्वक ढंग से तथा राजनैतिक भेदभाव के बिना होनी चाहिए।

पुस्तक अगर राजनीति पर हो, शोधपरक हो और अतीत के कालजयी किरदारों को कठघरे में खड़ा करती हो तो उसे लिखना एक बड़ी चुनौती और हिम्मत का काम होता है, मगर उससे भी कई गुना ज्यादा बड़ी चुनौती ऐसी पुस्तक के प्रकाशन को लेकर होती है। जो कोई मध्यम दर्जे का प्रकाशन नहीं उठा सकता। यह काम कोई दिग्गज प्रकाशन ही कर सकता है।

प्रेरणा हवाओं से नहीं मिलती। उसके लिए कहीं कोई भौतिक स्रोत जरूरी होता है। मेरी इस पुस्तक 'विभाजन की

त्रासदी' के लेखन के प्रेरणास्रोत हमारे पूज्य गुरुदेव हैं, जिन्हें 'महामंडलेश्वर स्वामी हरिहरानंद सरस्वती' के नाम से जाना जाता है और जिनके बारे में मेरा यह लिखना अतिशयोक्ति न होगा कि उनकी रगों में हिंदुस्तान बहता है और दिल में राष्ट्रवाद धड़कता है। जिनके दिलोदिमाग में केवल जनकल्याण की भावना ही समाई है। उनके सामाजिक एवं रचनात्मक कार्य उ.प्र., पंजाब, मध्य प्रदेश तथा छत्तीसगढ़ जैसे कई सूबों में अनवरत चल रहे हैं।

प्रकाशन से पहले यदि 'विभाजन की त्रासदी' की पांडुलिपि के पहले पाठक की बात करें तो वह बरेली के रहनेवाले हमारे अभिन्न मित्र श्री रोहितजी हैं, जो एक सामाजिक कार्यकर्ता हैं। जिन्होंने इस पुस्तक को पढ़कर अपनी निष्पक्ष राय से हमें नवाजा। उसकी खूबियों पर मुक्त कंठ से प्रशंसा की तो खामियों की तरफ भी मजबूती से मेरा ध्यानाकर्षण कराया। उनका यह उत्साहवर्धन और निष्पक्ष पाठन प्रशंसा के योग्य है। इस शृंखला में अगला नाम दिबियापुर निवासी हमारे सहपाठी रवींद्र कुमार का है, जो कि तुलसी पेपर बुक्स, शास्त्री नगर मेरठ के पूर्व संपादक हैं। उन्होंने 'विभाजन की त्रासदी' के संपादन के अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य को अंजाम दिया। पुस्तक के शोध में जौनपुर निवासी डॉक्टर अनिरुद्ध सिंह, हमारी पत्नी अंजूलता का योगदान है। एक अन्य सामाजिक कार्यकर्ता सुभाष मिश्र तथा अवध यूनिवर्सिटी फैजाबाद में इतिहास के शोधार्थी आलोक यादव का भी मैं आभारी रहूँगा।

❑

विभाजन की त्रासदी

भारत देश में जब कभी सांप्रदायिक विप्लव, तनाव पैदा होता है तो सांप्रदायिक समस्याओं के लिए इतिहास के विभिन्न लोगों, संगठनों को जिम्मेदार ठहराया जाता है, परंतु उन सबके बीच सांप्रदायिकता का सबसे बड़ा दुष्परिणाम भारत के विभाजन के रूप में देखने को मिला है। ज्यादातर इतिहासकार, मनीषी, मुहम्मद अली जिन्ना और उसके संगठन मुसलिम लीग को विभाजन के लिए दोषी मानते हैं। यद्यपि ऐसे भी प्रबुद्ध वर्ग खासकर वामपंथी सोच के लोगों की कमी नहीं है, जो भारत विभाजन के लिए हिंदूवादी संगठनों, जैसे—हिंदू महासभा, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ, आर्य समाज के शुद्धीकरण आंदोलन को भी जिम्मेदार मानते हैं। ऐसा मानने वाला वर्ग ज्यादातर भारत का साम्यवादी वर्ग है, हालाँकि साम्यवादियों पर भी भारत का विभाजन कराने वालों का सहयोग करने का आरोप लगा है। जिसके पुख्ता प्रमाण भारतीय इतिहास के पन्नों में दर्ज हैं।

इतिहास का गहन अध्ययन करने पर पता चलता है कि भारत विभाजन का तात्कालिक मुख्य कारण जिन्ना का सांप्रदायिक रवैया एवं द्वि-राष्ट्रवाद का सिद्धांत अवश्य था, परंतु इस सांप्रदायिक बीज का बीजारोपण मुसलिम लीग के निर्माण के लगभग डेढ़ सौ वर्ष पहले हो चुका था। मुसलिम समाज के पतन और पंजाब के सिक्ख साम्राज्य के बाद यदि हम सैयद अहमद बरेलवी के आंदोलन की बात करें तो यही पहला आंदोलन था, जिसने सबसे पहले 1786 में भारत को दार-उल-हर्व (काफिरों का देश) फतवा देकर कहा और मुसलमानों से अपील की कि संपूर्ण भारत को दार-उल-इसलाम बनाने की आवश्यकता है। प्रारंभ में इस आंदोलन का लक्ष्य पंजाब से सिक्ख साम्राज्य का उन्मूलन था, परंतु जैसे ही 1849 में पंजाब का अधिग्रहण ब्रिटिश हुकूमत ने कर लिया वैसे ही इस आंदोलन का मुख्य उद्देश्य इसलामी राज्य की स्थापना करना हो गया। यह आंदोलन जो कि बहावी आंदोलन के नाम से जाना जाता था, इसके समर्थकों ने 1820 और 1870 के बीच बंगाल में हिंसक काररवाई शुरू कर दी। यहाँ यह काररवाई ब्रिटिश हुकूमत के प्रति ही नहीं थी, अपितु हिंदुओं के खिलाफ भी थी।[1]

बंगाल के जयसोर और नदिया जिलों में सन् 1831 में मुसलमानों ने हिंदू जमींदारों पर आक्रमण शुरू कर दिए। पूर्ना नामक ग्राम में पुजारी की हत्या करके तथा गायों का वध करके उनका रक्त मंदिरों में छिड़क दिया गया।

अपने प्रारंभिक काल में सर सैयद अहमद खाँ हिंदू-मुसलिम एकता के प्रबल पक्षधर थे। उन्होंने हिंदू और मुसलमान को एक सुंदर बंधु (भारत देश) की दो आँखें बताया। जो कभी सर सैयद खाँ अपने आपको हिंदू मानने से गुरेज नहीं करते थे, वही सर सैयद अहमद खाँ इसलाम के नाम पर सबसे बड़ी सांप्रदायिकता के जनक बने। उन्होंने सबसे पहले कहा कि भारत एक देश नहीं, बल्कि उप-महाद्वीप है। यहाँ की दो कौमें—हिंदू और मुसलमान कभी एक नहीं रह सकते। सर सैयद अहमद खाँ अंग्रेजी भाषा के समर्थक होने के साथ-साथ हिंदी के जबरदस्त विरोधी थे। उनका मानना था कि मुसलमानों के हिंदी अपनाने से उनकी संस्कृति व सभ्यता पर खतरा बढ़ जाएगा। सर सैयद अहमद खाँ न केवल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के विरोधी थे, बल्कि वे खुलेआम अंग्रेजी सत्ता के समर्थक थे।[2]

सैयद के इस विचार का मुसलिम समाज पर इतना अधिक दुष्प्रभाव पड़ा कि 1880 के दशक में हिंदू-मुसलिम तनाव में तीव्र वृद्धि हुई। मुसलमानों ने धार्मिक जागरण के फलस्वरूप इस बात पर बल दिया कि बकरीद के अवसर पर गायों की कुरबानी होनी चाहिए, जिसके कारण 1893 में सांप्रदायिक दंगे भड़क गए। इसकी शुरुआत सबसे पहले उत्तर प्रदेश के मऊ नगर से हुई। इन दंगों की लपटें बिहार के प्रमुख शहरों से होती हुई मुंबई तक पहुँच गईं। कांग्रेस के बढ़ते प्रभाव से मुसलमानों में बेचैनी व्याप्त हो गई। उनको भय सताने लगा कि स्वतंत्रता प्राप्त होने

के बाद हिंदुओं का राज्य भारत में स्थापित हो जाएगा। फलस्वरूप बैरिस्टर शरीफुद्दीन और वकारमुल्क जैसे ज्यादातर मुसलमानों ने निर्णय लिया कि मुसलमानों का हित ब्रिटिश हुकूमत में है। सभी मुसलमान कांग्रेस से दूरी बनाए रखेंगे। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उन्होंने मुहम्डन पोलिटिकल एसोसिएशन की शाखाएँ समस्त भारत में खोलीं, परंतु इसकी स्वीकार्यता अगले कई वर्षों तक ज्यादातर मुसलमानों के बीच न हो सकी, लेकिन जैसे ही मार्ले मिंटो सुधार घोषित हुआ वैसे ही उपरोक्त एसोसिएशन में सक्रियता आ गई और वह अपनी सांप्रदायिक माँगें पूरी कराने में लग गई। अब बहुसंख्य मुसलमानों के अंदर सांप्रदायिक भावना व्याप्त हो चुकी थी। ढाका का नवाब सरीमुल्ला खाँ अपनी सांप्रदायिक नीतियों के लिए जाना जाता था। उसने देश भर के मुसलमान मित्रों से पत्र लिखाकर माँग की कि मुसलमान भी अपने राजनैतिक दल का गठन करें और मुहम्मडन एसोसिएशन का अधिवेशन ढाका में किया जाए। परिणामत: अधिवेशन ढाका में संपन्न हुआ। 30 दिसंबर, 1906 को नवाब वकारमुल्क की अध्यक्षता में मुसलिम लीग नाम के राजनैतिक दल का गठन हुआ और इस तरह भारतीय राजनीति में एक सशक्त सांप्रदायिक संगठन का उदय हुआ, जिसकी सांप्रदायिक नीतियों के आगे भारत विभाजन होने तक बड़े-बड़े राजनीतिक दल घुटने टेकते रहे।[3]

बंगाल के विभाजन का समर्थन और स्वदेशी आंदोलन की खिलाफत की भावना ने बंगाल के मुसलमानों को एकजुट किया। लीग की स्थापना के तुरंत बाद पूर्वी बंगाल में भीषण दंगे हुए, मुसलमानों ने लाल इश्तहार छपवाकर हिंदुओं के खिलाफ उत्तेजनात्मक बातें कहीं। हिंदुओं के साथ सामाजिक मेल-मिलाप वर्जित किया गया। ऐतिहासिक घटनाक्रमों से पता चलता है कि अधिकतर मुसलमान आरंभ से ही स्वतंत्रता आंदोलन से पृथक् रहे। जो कुछ थोड़े मुसलमान कांग्रेस के साथ थे, उनका मुसलिम समाज के ऊपर कोई प्रभाव नहीं था। कांग्रेस के अंदर भी जो मुसलमान थे, वे भी कभी सांप्रदायिकता के प्रभाव में आकर सांप्रदायिक बयानबाजी करने लगते थे।

जियाउद्दीन, जो अलीगढ़ विश्वविद्यालय के 1908 में कुलपति थे, उन्होंने अब्दुल्ला सुहरावर्दी को लिखा कि होमरूल सोसाइटी की नीतियाँ अलीगढ़ नीति के विपरीत हैं। आपने होमरूल सोसाइटी का उपाध्यक्ष पदभार ग्रहण किया है। इस प्रकार का कृत्य आपको नहीं करना चाहिए।

आसफ अली ने सन् 1909 में श्यामजी वर्मा को लिखा कि मेरे मुसलमान मित्र नहीं चाहते कि मैं राष्ट्रवादियों के साथ कोई संबंध रखूँ। मोहम्मद अली जिनकी गिनती राष्ट्रवादी मुसलमानों में की जाती है, उन्होंने भी 1908 में एक सार्वजनिक सभा में बोलते हुए कहा कि मुसलमानों के हित सर्वथा हिंदुओं से भिन्न हैं, इसलिए उनको हिंदुओं के साथ राष्ट्रीय आंदोलन में भाग नहीं लेना चाहिए।[4]

ज्यादातर इतिहासकारों का मानना है कि ब्रिटिश हुकूमत भारत में राज्य करने के लिए हिंदुओं और मुसलमानों के बीच दरार बनाए रखना चाहती थी, परंतु यह भी सत्य है कि पृथक् निर्वाचन को 1909 में मार्ले मिंटो सुधार में शामिल करने के पीछे, मुसलिम लीग और तमाम सशक्त मुसलमानों का ब्रिटिश हुकूमत पर भारी दबाव था। इसका उल्लेख मुसलिम डाक्यूमेंट्स में स्पष्ट तौर पर किया गया है। मियाँ मोहम्मद शफी ने 8 जनवरी, 1908 को डनलप स्मिथ को पत्र में लिखा कि वे पृथक् मतदान की माँग करते हैं। इसी प्रकार सैयद हुसैन बिलग्रामी आगा खाँ और एहतशाम अली ने पृथक् प्रतिनिधित्व की माँग ब्रिटिश हुकमत से की।

संपूर्ण स्वतंत्रता आंदोलन के कालखंड में बहुसंख्य मुसलमान केवल खिलाफत आंदोलन के साथ ही रहे। अन्य किसी स्वतंत्रता आंदोलन में बहुसंख्य मुसलमान पृथक् ही रहे। जो कुछ मुसलमान इन आंदोलनों में शरीक हुए (असहयोग आंदोलन को छोड़कर), उन्हें मुसलिम समाज में हिकारत की नजर से देखा गया। यद्यपि इन मुसलमानों

का कांग्रेस में भी बहुत असर नहीं था। असहयोग आंदोलन में मुसलमानों के शरीक होने का कारण अंग्रेजों से मुक्ति की आकांक्षा न होकर, वैश्विक परिदृश्य में मुसलमानों की धार्मिक असुरक्षा की भावना थी। क्योंकि इसके अलावा ईरान के विरुद्ध इंग्लिश-एशिया समझौता और टर्की की घटना ने भारतीय मुसलमानों के हृदय में एक बात बैठा दी कि अंग्रेज मुसलमानों के दुश्मन हैं और वे विश्व से मुसलमानों का पराभव चाहते हैं। जाहिर तौर पर भारतीय मुसलमानों के अंदर भी उपरोक्त घटनाओं ने धार्मिक असुरक्षा की भावना भरने का काम किया। धार्मिक भावना ही एक मात्र वह तत्त्व था, जिसने असहयोग आंदोलन के दौरान मुसलमानों को हिंदुओं के साथ खड़ा कर एकाएक अंग्रेजों के खिलाफ कर दिया। यदि धार्मिक भावना मुसलमानों के लिए प्रमुख तत्त्व न होती, तो गांधीजी यूरोप में अंग्रेजों द्वारा मुसलमानों के पराभव पर भारत में इस मुद्दे को लेकर अंग्रेजों के खिलाफ क्यों होते? गांधीजी भी भलीभाँति जानते थे कि मुसलमानों के लिए धार्मिक कट्टरता प्रमुख तत्त्व है। लिहाजा वह इस मुद्दे पर हिंदुओं के साथ एवं अंग्रेजों के विरुद्ध हो सकते थे। यदि पहले से ही मुसलमान स्वतंत्रता आंदोलन में बहुसंख्य से कांग्रेस के साथ होते तो विदेशी मसले को देशी आंदोलन में शामिल करने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। जाने अनजाने में कांग्रेस ने खिलाफत स्वीकार कर बड़े स्तर पर सांप्रदायिकता को स्वीकार कर लिया था। मुसलिम बंधुत्व की विजय हुई, ऐसा मानने की भारतीय मुसलमान को वजह मिल गई थी।

इसीलिए जनवरी 1918 के लीग अधिवेशन में स्वागत कमेटी के अध्यक्ष अब्दुल लतीफ ने कहा कि लीग ने कांग्रेस को हथिया लिया है। असहयोग आंदोलन के बाद लीग के ज्यादातर अधिवेशनों में एकता की जगह खिलाफत का मुद्दा छाया रहा।[5] खिलाफत के मुद्दे पर गांधीजी द्वारा असहयोग आंदोलन चलाना एक ऐसी स्वीकारोक्ति थी, जिससे भारतीय समाज को कोई लेना-देना नहीं था। इसे हिंदुओं ने महज इसलिए स्वीकार किया, क्योंकि इस आंदोलन के अगुआ महात्मा गांधी थे। गांधी के लिए हिंदुओं के हृदय में बड़ा आदर था। हालाँकि हिंदुओं का धार्मिकता के आधार पर भी इस आंदोलन से कोई संबंध नहीं था। जैसा कि धर्म के नाम पर मुसलमानों ने हिंदुओं के साथ मिलकर इस आंदोलन में खूब बढ़-चढ़कर हिस्सेदारी की। यहाँ पर यह जान लेना आवश्यक है कि मुसलमानों का भी मुसलिम विश्व बंधुत्व के अलावा किसी और महत्त्वपूर्ण राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक मसलों से कोई सरोकार नहीं था। इस आंदोलन के दौरान कांग्रेस ने भी मुसलिम सांप्रदायिकता को स्वीकार कर इसलाम धर्म को सभी मसलों से ऊँचा बना दिया। जिस तथ्य को कांग्रेस के नेताओं ने मार्ले मिंटो सुधार के समय पृथक् निर्वाचन प्रणाली का विरोध यह कहकर किया था कि यह अंग्रेजों द्वारा सांप्रदायिक भावना बढ़ाकर 'फूट डालो राज करो' की नीति है। कांग्रेस के निर्माण और भारत की स्वतंत्रता तक जिस तादाद में मुसलमानों ने खिलाफत आंदोलन में बढ़-चढ़कर भाग लिया वैसा तब तक के किसी भी स्वतंत्रता आंदोलन में नहीं लिया था। मुसलमानों की बड़ी तादाद एक बार फिर से पाकिस्तान की माँग को लेकर ही खड़ी हुई। असहयोग आंदोलन में खिलाफत को शामिल करना शायद गांधीजी के जीवन की सबसे बड़ी भूल थी, क्योंकि इस आंदोलन की समाप्ति के बाद धार्मिक वर्चस्व का स्वाद भारत के मुसलिम समाज में फैल गया था और यही भावना बाद में भारत के विभाजन का कारण बनी और आइंदा होनेवाले कई-कई सांप्रदायिक दंगों का कारण बनी। इसका तात्कालिक उदाहरण केरल के मालावार तट पर मोपला आंदोलन की शुरुआत थी, जहाँ धर्मांधता के कारण हजारों हिंदू महिलाओं, पुरुषों तथा बच्चों को अकारण ही मौत के घाट उतार दिया गया। चाहे धर्म परिवर्तन का मसला हो या हिंदुओं पर अकारण हमला। दंगों के दौरान उन्हें मौत के घाट उतार देना ही उनका इकलौता उद्देश्य बन चुका था। इन सभी मामलों में कांग्रेस और उसके नेता हमेशा मुसलिम सांप्रदायिकता के आगे घुटने टेकते नजर आए और वह

ऐसी लोमहर्षक घटनाओं को पूरी तरह से नजरअंदाज करते रहे। कांग्रेस का तर्क हो सकता है कि ऐसी हिंसक काररवाइयों को उन्होंने इसलिए नजरअंदाज किया, ताकि स्वतंत्रता की लड़ाई कमजोर न पड़ जाए और एकजुटता प्रतीत हो। यह अलग बात है कि यह कांग्रेस नेताओं की सरासर अदूरदर्शिता साबित हुई और उनकी इस अदूरदर्शिता ने जाने अनजाने मुसलिम सांप्रदायिकता की आग में घी डालने का काम किया।

राजगोपालाचारी ने स्पष्ट शब्दों में ऐलान किया कि बेशक सारे हिंदू मुसलमान बन जाएँ, परंतु उन्हें केवल भारत की स्वतंत्रता की चिंता है।[6] ऐसा प्रतीत होता है कि कांग्रेस ने अपने मूल्यों और सिद्धांतों की उपेक्षा कर एक कृत्रिम राष्ट्रीय एकता बनाए रखने का दिखावा किया, जो आगे चलकर देश के लिए घातक सिद्ध हुआ। खिलाफत आंदोलन की समाप्ति के बाद इस आंदोलन में सम्मिलित हुए नेता उन्हीं गांधीजी पर आरोप लगाने लगे, जिन्होंने ऐसे धार्मिक मसले को स्वीकार किया था, जिसका इस देश से रत्ती भर लेना-देना नहीं था। इन नेताओं ने गांधीजी पर आरोप लगाया कि वे मदन मोहन मालवीय और लाला लाजपत राय जैसे हिंदूवादी नेताओं के प्रभाव में हैं, इसलिए हिंदू-मुसलिम एकता की बात सफल नहीं हो सकती। फलस्वरूप कई मुसलिम क्षेत्रीय संगठन अस्तित्व में आए, जिनसे सांप्रदायिकता दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ने लगी। बंगाल, पंजाब में इसका सर्वाधिक प्रभाव दिखा। जिसका सबसे व्यापक नतीजा यह हुआ कि 1925 में मृत प्राय: सी दिख रही मुसलिम लीग को संजीवनी मिल गई, और वह पुन: जीवित हो गई।

कह सकते हैं कि 1926 तक भारतीय राजनीति में कमोबेश सभी जगह सांप्रदायिकता का प्रभाव फैल गया। इस मजहबी आग ने देश के प्रमुख शहरों कलकत्ता, मुल्तान, अमृतसर, इलाहाबाद, मेरठ और मुरादाबाद को अपनी चपेट में ले लिया। 1923 से 1927 के बीच छोटे-बड़े कुल 88 मजहबी फसाद हुए, जिनमें सैकड़ों लोग मारे गए और हजारों लोग घायल हुए। 1927 से 1928 के बीच 19 दंगे हुए। दंगों ने भारत के मद्रास प्रांत को छोड़कर लगभग सभी प्रांतों को प्रभावित किया।

खिलाफत आंदोलन के कमजोर होने के बाद मुसलिम लीग पुन: मजबूत हुई। मुसलिम लीग को मजबूत होने का मौका तब और प्रभावी हो गया, जबकि 'नेहरू रिपोर्ट' को कांग्रेस ने हूबहू स्वीकार कर लिया। जिन्ना को कांग्रेस की इस घोषणा से भारी आघात पहुँचा और वह कांग्रेस के विरोधी बन गए। जिन्ना का खयाल था कि यह कांग्रेस की एक कपटपूर्ण चाल है, जिससे कि मुसलमान अपमानित होंगे। ऐसा नहीं था कि 1921 से 1930 के बीच एक मात्र मुसलिमों का संगठन मुसलिम लीग हो। इसके अतिरिक्त बंगाल, पंजाब, सिंध में भी क्षेत्रीय मुसलिम संगठन सक्रिय थे, जो घोर सांप्रदायिक थे। जिन्ना ने ही सबसे पहले 28 मार्च, 1929 को दिल्ली में सभी मुसलिम दलों के एक साझा सम्मेलन का आयोजन किया, जिसमें उन्होंने 14 सूत्री माँगें रखीं। अब मुसलिम लीग कांग्रेस का खुलकर विरोध करने लगी थी। जिन्ना के कुशल नेतृत्व में मुसलिम सांप्रदायिकता में गुणोत्तर वृद्धि हुई। ऐसा नहीं था कि राष्ट्रवादी मुसलमानों ने जिन्ना और लीग के सांप्रदायिक एजेंडे का विरोध न किया हो। अब्दुल कलाम आजाद, एस.आर. बरेलवी, अंसारी जैसे राष्ट्रवादी मुसलमानों ने एक अलग संगठन बनाकर सांप्रदायिकता का विरोध शुरू कर दिया और तत्कालीन मुसलिमों के अंदर राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करने का पुरजोर प्रयास किया, परंतु वे इस पुनीत कार्य में सफल नहीं हो सके। इसका कारण आजाद सरीखे राष्ट्रवादी मुसलमानों का अपने समुदाय में प्रभावहीन होना था। अब तक अधिकतर मुसलमानों के अंदर सांप्रदायिकता का जहर पूरी तरह घुल चुका था और उनका मजहब राष्ट्रवाद की हर भावना से ऊपर हो चुका था। यहाँ तक कि स्वतंत्रता के ध्येय से हटकर मुसलमानों की मजहबी माँगों का दिनोदिन विस्तार होने लगा था। संवैधानिक सुधारों के विषयों पर मुसलमानों और कांग्रेस के

बीच प्रबल विरोधाभास था। मुसलमानों की यदि एक माँग स्वीकार हो जाती तो वह तुरंत ही दूसरी माँग खड़ी कर देते। दुर्भाग्यवश इन सभी माँगों की बुनियाद मजहबी थी। कभी-कभी तो खुलेआम हिंदुओं के खिलाफ जाती थीं। कांग्रेस राष्ट्रीय एकता बनाए रखने के लिए जिस अनुपात में मुसलिम लीग के आगे घुटने टेकती जा रही थी, उसी अनुपात में मुसलिम लीग का सांप्रदायिक एजेंडा और बढ़ता जा रहा था। मुसलिम लीग और अन्य संगठनों के कट्टरपंथी मुसलमान समझ चुके थे कि कांग्रेस स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए मुसलिम सांप्रदायिकता के आगे झुकती रहेगी। कांग्रेस के नेतृत्व में दृढ़ता और संकल्प शक्ति का सर्वथा अभाव दिख रहा था। इसका उदाहरण 1932 में तब देखने को मिला, जबकि गोलमेज कॉन्फ्रेंस के बाद सांप्रदायिक अनुपात के आधार पर प्रांतीय तथा केंद्रीय विधान मंडलों में आरक्षण की माँग को कांग्रेस के द्वारा स्वीकार कर लिया गया। उसके बाद शीघ्र ही मुसलिम लीग अपने प्रस्तावित समझौते से पीछे हट गई, जो कि सरासर अप्रत्याशित था। माँग स्वीकार कर लेने के बाद लीग को कांग्रेस के साथ होना चाहिए था। वस्तुत: लीग कांग्रेस के साथ समझौता कर भी कैसे सकती थी। उसे तो विभाजनकारी अधिकार गोलमेज समझौते के बाद लगभग संवैधानिक रूप से प्राप्त हो चुके थे। लीग ने हर बार की तरह इस बार भी कांग्रेस, गांधी, नेहरू पर मनगढ़ंत आरोप लगाकर और उन्हें हिंदुओं का पक्षधर ठहराकर समझौते को ठुकरा दिया। लीग के नेता बड़ी चालाकी और धृष्टता के साथ जानबूझकर यह सब कर रहे थे।[7] मुसलिम लीग जिसकी स्थिति 1935 तक इतनी मजबूत नहीं थी कि वह मुसलमानों बाहुल्य क्षेत्रों में भी अपने बलबूते पर चुनाव जीत पाती। यद्यपि पूरे देश के मुसलमानों के बीच मुसलिम लीग की पहचान बन चुकी थी। लीग को मुसलिमों के बीच तेजी से पकड़ बनाने के लिए जब भी कोई अवसर मिलता तो वह कट्टरवादी रुख अपनाकर सांप्रदायिक रवैया अख्तियार करने से नहीं चूकती। सन् 1935 में संघात्मक व्यवस्था लागू हो जाने के बाद सन् 1937 में प्रांतीय असेंबलियों के चुनाव हुए। कांग्रेस को 6 प्रांतों में बहुमत प्राप्त हुआ। जिसमें एक मुसलिम बाहुल्य बंगाल भी था। सिंध में किसी भी दल को बहुमत नहीं मिला, क्योंकि इन प्रदेशों में मुसलिम वोटों का बँटवारा विभिन्न मुसलिम प्रभाव वाले दलों के बीच हो गया था। हालाँकि इन प्रदेशों में मुसलिम नेतृत्व वाले दल ही कांग्रेस से ज्यादा सीटें पाने में सफल रहे थे। पंजाब में सिकंदर हैयात खाँ की पार्टी सबसे बड़े दल के रूप में उभरी। उसे 125 सीटों में से 96 सीटें प्राप्त हुई थीं। बंगाल में मुसलिम नेतृत्व वाली प्रजा कृषक पार्टी बहुमत के करीब पहुँच गई। मुसलिम बाहुल्य सिंध में भी तमाम मुसलिम दलों में मुसलिम वोटों का बँटवारा हो गया। यहाँ सिंध हिंदू महासभा को कांग्रेस से ज्यादा सीटें मिलीं। इस दल को 11 जबकि कांग्रेस को 9 सीटें प्राप्त हुईं। इसी प्रकार की स्थिति कुछ असम में रही। उत्तरी पश्चिमी प्रांत में लालकुर्ती दल का प्रभाव था। इस दल ने 1937 का चुनाव लड़ा और बाद में कांग्रेस में विलय हो गया। उत्तर प्रदेश के चुनाव में गौर करनेवाली बात यह रही कि कुल 64 मुसलिम आरक्षण वाली सीटों में से मात्र एक सीट ही कांग्रेस को मिली। जबकि लीग को 26 सीटें प्राप्त हुईं। स्पष्ट था कि उत्तर प्रदेश में कांग्रेस का प्रभाव मुसलिमों पर न के बराबर था।

चुनाव के बाद जिन प्रांतों में कांग्रेस को सरकार बनानी थी, कांग्रेस ने सरकार नहीं बनाई। कांग्रेस ने यह विरोध, प्रांतों में गवर्नर को दिए गए असीमित विरोधाभासी अधिकारों और अनावश्यक दखलंदाजी को लेकर किया।

1 अप्रैल, 1937 से जुलाई 1937 तक कांग्रेस ने मंत्रिमंडलों का निर्माण नहीं किया और इस प्रकार सरकारों का गठन नहीं हुआ। यह कांग्रेस की भारी भूल थी। इन छह प्रांतों में अंतरिम सरकार का गठन किया गया। इस समय का फायदा लीग ने अपने सांप्रदायिक एजेंडे को मजबूत करने में किया। इन अंतरिम सरकार में उत्तर प्रदेश और बिहार में मुसलिम मुख्यमंत्री बनाए गए। उत्तर प्रदेश, बिहार में क्रमश: नवाब छतारी और मोहम्मद युनुस मुख्यमंत्री

बने। जब कांग्रेस ने जुलाई 1937 को इन प्रांतों में मंत्रिमंडल गठन का फैसला किया तो मुसलिम लीग ने कांग्रेस के इस कदम को फिर मुसलिम विरोधी बताया। जब किसी भी प्रदेश में मुसलिम लीग को अपने बलबूते पर सरकार बनाने में कामयाबी नहीं मिली तो लीग परेशान हो उठी। यद्यपि सिंध और बंगाल की लीग दूसरे मुसलिम दलों के साथ मिलकर मंत्रिमंडल में शामिल हो गई थी। लीग के नेताओं ने यह कहकर विषवमन शुरू कर दिया कि जहाँ भी कांग्रेस की सरकारें हैं, वहाँ मुसलमानों पर भारी अत्याचार हो रहा है। जैसे-जैसे कांग्रेस के नेता मुसमलानों को करीब लाने का प्रयास करते, वैसे-वैसे मुसलिम लीग इसका विरोध और दुष्प्रचार करती।[8] 1937 में प्रांतीय एवं शासन के क्रियान्वयन के बाद सत्ता संघर्ष, वर्चस्व को लेकर हिंदुओं और मुसलमानों के बीच उन्माद बढ़ गया। यह तनाव कांग्रेस शासित राज्यों में अधिक था। इसका कारण यह था कि यहाँ पर लीग ने गंभीर दुष्प्रचार फैलाकर मुसलिमों के दिलोदिमाग में असुरक्षा की भावना भर दी थी। यद्यपि लीग के नेताओं के आरोप उच्च ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा जाँच में पूरी तरह से मनगढ़ंत पाए गए। लीग की सांप्रदायिकता से निकलने के लिए कांग्रेस सरकार ने मुसलमानों के लिए बड़े पैमाने पर आर्थिक सुधार कार्यक्रम भी चलाए, परंतु लीग मुसलमानों के बीच भ्रम फैलाने में सफल रही और इस प्रकार कांग्रेस सरकारों का एकता का यह प्रयास भी असफल हो गया। लीग कांग्रेस सरकारों पर हिंदू राज्य स्थापित करने का आरोप लगाती रही। जबकि कांग्रेस के मंत्रिमंडलों में पर्याप्त संख्या में मुसलमान शामिल थे। कांग्रेस ने 1939 में ब्रिटिश सरकार द्वारा भारत को बिना शर्त द्वितीय विश्वयुद्ध में झोंकने पर कांग्रेस ने सभी प्रांतों के मंत्रिमंडलों से त्याग पत्र दे दिया। मुसलिम लीग ने इस घटना पर मुक्ति दिवस मनाया। यहाँ तक कि कट्टरपंथियों ने मसजिदों में नमाज पढ़कर दुआ माँगी कि कांग्रेस का राज्य कभी न आए।[9] तत्कालीन मुसलिम समाज के अगुवाकारों की यह मानसिकता आज के राजनेताओं के लिए गौर करने लायक है। यह भारत के लिए दुर्भाग्य और साथ ही में अचरज भरा तथ्य था, जो विद्वान् मुसलमान भारतीय एकता के प्रबल समर्थक थे और जो हिंदू-मुसलिम एकता के लिए अपने आप को मुसलमान होते हुए भी हिंदू संबोधित कराने का प्रयास करते थे, वे ही मुसलमान सबसे ज्यादा कालांतर में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच खाई खींचने वाले सिद्ध हुए। बाद में इनके विचारों ने ही भारतवर्ष के दो भाग किए। ऐसे लोगों में पहला नाम अलीगढ़ आंदोलन के सूत्रधार सर सैयद अहमद खाँ का आता है। दूसरा नाम 'सारे जहाँ से अच्छा हिंदुस्ताँ हमारा' के रचयिता मुहम्मद इकबाल का है, और अगला नाम खिलाफत आंदोलन का मुखर विरोध करनेवाले मुहम्मद अली जिन्ना का है। यह दुर्भाग्य ही है कि इन्हीं तीनों दिग्गजों ने सांप्रदायिकता के विस्तार में गुणोत्तर वृद्धि की।

अपने प्रारंभिक काल में सर सैयद अहमद खाँ ने हिंदू और मुसलमानों को दो सुंदर बंधु अर्थात् भारत की दो आँखें बताया। अपने एक अन्य वक्तव्य में उन्होंने पंजाबी हिंदू श्रोताओं को संबोधित करते हुए कहा कि भारत का प्रत्येक नागरिक हिंदू है। अफसोस है कि आप लोग मुझे हिंदू नहीं मानते।[10]

अब जरा 16 मार्च, 1888 को मेरठ में दिए गए भाषण पर गौर कीजिए, हिंदू और मुसलमान न केवल दो राष्ट्र हैं, अपितु विरोधी राष्ट्र हैं। यदि अंग्रेज भारत से चले गए तो कभी भी एक साझा जीवन व्यतीत नहीं किया जा सकता। गौर करनेवाली बात यह है कि सर सैयद के विचारों में ऐसा विरोधाभास क्यों उत्पन्न हुआ? जब नगर निकायों के चुनाव की प्रणाली प्रारंभ हुई तो मुसलमानों की ओर से धार्मिक आधार पर पृथक् निर्वाचक मंडल की माँग प्रारंभ हो गई। यही इसका मूल कारण था, और यही वह कारण भी था, जिसने सर सैयद को धर्म निरपेक्षता से सांप्रदायिकता की ओर मोड़ दिया। सर सैयद खाँ, जो कि मुसलमानों के हितैषी थे, उन्हें अंदेशा था कि अशिक्षित मुसलमानों में इतनी राजनैतिक परिपक्वता नहीं है कि वे लोकतांत्रिक प्रणाली का लाभ उठा पाएँगे? उन्हें इस बात

की भी आशंका थी कि उनका संप्रदाय पृथक् प्रणाली प्रतिनिधित्व के बिना कोई लाभ उठा सकेगा? सर सैयद अहमद खाँ मुसलमानों का भला अंग्रेजी राज्य में ही देखते थे। अंग्रेजी राज्य की सुदृढ़ता के लिए वे विभिन्न उपाय भी करने लगे। मुसलमान कांग्रेस के आंदोलन में शरीक न होने पाए इसके लिए वे विभिन्न उद्‌बोधनों द्‌वारा मुसलमानों के बीच कारण बताकर उनके दिलों में भय और आशंका का बीज बोने लगे। बाकायदा उन्होंने अगस्त 1888 में अंग्रेजी राज्य के समर्थन में संयुक्त भारतीय राज्यभक्त सभा (United Indian Patriotic Association) का निर्माण किया।[11] उस समय के अलीगढ़ कॉलेज के तीन अंग्रेज प्रिंसिपल थियोडोर बैंक, मॉरिसन, अर्चवोल्ड जिन्होंने शिक्षित मुसलिमों के बीच अंग्रेजों और मुसलमानों की एकता की आवश्यकता समझाई और कांग्रेस को हिंदुओं की संस्था बताकर विरोध किया।[12]

इस संबंध में रैमजे मैकडोलैंड का साक्ष्य ब्रिटिश अधिकारियों की कुटिल चालों को उजागर करता है। उन्होंने लिखा कि मुसलमान नेताओं को कुछ अंग्रेज अधिकारियों ने प्रेरित किया है। इन अधिकारियों ने शिमला और लंदन में सूत्रधार के रूप में काम किया है और पहले से मन में ईर्ष्या और द्‌वेष पालकर हिंदू और मुसलिम संप्रदायों में मतभेद के बीच बोए हैं। मुसलिम सांप्रदायिकता बढ़ाने में अंग्रेजी सरकार की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। अंग्रेजों ने मुसलिम संप्रदायवादियों की खुलेआम सरकारी सहायता की है।[13]

मुसलमानों के कांग्रेस के प्रति बढ़ते रुझान को रोकने के लिए वायसराय मिंटो मुसलमानों के समक्ष भय और लालच का दाँव खेलता रहा। जब मिंटो को पता चला कि मुसलमानों के महत्त्वपूर्ण लोग कांग्रेस में शामिल होने जा रहे हैं तो मिंटो ने अपने इसी दाँव के बल पर मुसलमानों को कांग्रेस में शामिल होने से रोक लिया।[14]

फलस्वरूप शिक्षित मुसलमानों में अंग्रेजों के पक्ष में राज्यभक्ति उत्पन्न हुई तथा हिंदुओं के प्रति कटुता। कुछ ऐसे अन्य ब्रिटिश अधिकारी थे, जो कि हिंदुओं और मुसलमानों के बीच फूट डालकर लंबे समय तक भारत में निर्बाध शासन करना चाहते थे। लॉर्ड जॉन एल्फिंस्टन, जो कि 1853 से 1860 तक बंबई प्रांत के गवर्नर थे, उन्होंने लिखा था कि 'बाँटो और राज्य करो।' यह प्राचीन रोमन कहावत थी। इसे भारत के अंग्रेजों को भी अपनाना चाहिए।[15] इस तरह अवसर मिलते ही कुछ अंग्रेज भी अपने हितों के लिए सांप्रदायिकता बढ़ाने के कार्य में मशगूल रहे।

ब्रिटिश राज मुसलमानों के प्रति इतना ज्यादा आग्रही था कि विभिन्न विधान परिषदों और बोर्डों में मतदान के लिए मतदाता के रूप में मुसलमानों के पंजीकृत होने की शर्त यह थी कि वे तीन हजार सालाना आयकर देते हो, लेकिन हिंदुओं के लिए यह शर्त थी कि वे तीन लाख रुपया आयकर देते हो। इसके अलावा मुसलमानों के लिए ग्रैजुएट के बाद तीन साल का ही अनुभव हो, जबकि हिंदुओं के लिए तीस वर्ष का अनुभव होना चाहिए।[16]

यदि हम राजनैतिक विचारक और कवि मुहम्मद इकबाल की बात करें, जिन्होंने देश को सारे जहाँ से अच्छा हिंदुस्ताँ हमारा जैसा गर्व कराने का एहसास करनेवाला गीत दिया, सबसे पहले उन्होंने ही मुसलमानों के लिए पृथक् राज्य का विचार उछाला। इसलामिक भावना से प्रेरित होकर 1930 में इलाहाबाद में संपन्न हुए मुसलिम लीग के सम्मेलन में मुसलमानों के लिए पृथक् राज्य का विचार रखा। उन्होंने कहा कि पंजाब, उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रांत, सिंध और बलूचिस्तान को मिलाकर मुसलमानों के लिए पृथक् राज्य बना दिया जाए, जिससे कि मुसलमानों के लिए अपनी धर्म संस्कृति, सभ्यता संरक्षण का अवसर मिल जाए और सदैव के लिए हिंदू और मुसलमानों के बीच फसाद भी मिट जाएगा। यद्यपि मुसलमानों के पृथक् राज्य के लिए पाकिस्तान का नाम कैंब्रिज के स्नातक छात्र, रहमत अली ने दिया।[17]

अब जरा ब्रिटेन से उच्च शिक्षा प्राप्त मुहम्मद अली जिन्ना पर नजर डालते हैं, जो कि अपने प्रारंभिक जीवन

काल में धर्म निरपेक्ष थे और सांप्रदायिकता का प्रबल विरोध करते थे। 1927 में साइमन कमीशन और 1930-32 के बीच संपन्न हुए गोलमोल कॉन्फ्रेंसों में सांप्रदायिक निर्णयों की स्वीकारोक्ति के बाद मृत पड़ी मुसलिम लीग में जान आ गई। इसके अलावा कांग्रेस के अंदर नेहरू का प्रभाव भी जिन्ना को हमेशा खलता रहा। फलस्वरूप कल तक का धर्म निरपेक्ष अब पूरी तरह से सांप्रदायिक बन चुका था। अब जो भी वाक्य जिन्ना के मुँह से निकलते, वे पूर्ण रूप से सांप्रदायिक ही होते, जिनमें हिंदुओं के प्रति दुराग्रह व द्वेष साफ-साफ झलकता। जिन्ना ने 1940 के लाहौर अधिवेशन में स्पष्ट शब्दों में कहा कि "हिंदू और मुसलमान पृथक्-पृथक् जातियाँ हैं," उन्होंने इसके आगे कहा कि "हिंदू और मुसलमानों को मिलाकर एक राष्ट्र बनाना एक स्वप्न ही है। क्योंकि दर्शन, रीति-रिवाज और साहित्य सभी में भिन्नता है।"[18] अंग्रेज भारत के अंतिम वायसराय माउंटबेटन का स्पष्ट रूप से मानना था कि उन्हें हिंदुओं की अपेक्षा मुसलमान ज्यादा अच्छे लगते हैं। मुसलमानों को विजेता जाति मानते थे, जबकि हिंदुओं को पराजित जाति। उनकी दोस्ती भी मुसलमानों से शीघ्र हो जाती थी। उनका मानना था कि मुसलमान स्वतंत्रता नहीं चाहते हैं, बल्कि अंग्रेजी राज्य को बनाए रखना चाहते हैं। उनका यह भी विश्वास था कि भारत की बहुसंख्यक जनता की रजामंदी से ही अंग्रेज कुशलतापूर्वक शासन कर रहे हैं। हिंदुओं का पढ़ा-लिखा वर्ग, जिसने इंग्लैंड से शिक्षा प्राप्त की थी, वे ही लोग भारत से अंग्रेजी राज्य की समाप्ति चाहते हैं।[19] (यद्यपि माउंटबेटन खुद भारत के विभाजन के प्रबल विरोधी थे, उनका मानना था कि अंग्रेजों ने ही तत्कालीन भारत को एकीकृत किया था, जिसे वे बड़ी उपलब्धि मानते थे।)

मुहम्मद अली जिन्ना जिनको कि तपेदिक हो गया था, परंतु यह बात जिन्ना ने छिपाए रखी थी। माउंटबेटन का मानना था कि यदि जिन्ना की मौत महज एक-दो वर्ष पूर्व हो जाती है तो भारत का विभाजन मैं रोक लेता। उन्होंने स्पष्ट किया कि जिन्ना के पास जो कुंजी थी, वह न गांधी के पास थी और न ही नेहरू के पास।[20] इसका आशय यह हुआ माउंटबेटन को जिन्ना से दंगा भड़काने का डर था। गृहयुद्ध के डर से वायसराय को अनैच्छिक रूप से भारत का विभाजन स्वीकार करना पड़ा, क्योंकि कलकत्ता में मुसलिम लीग की कारगुजारी से महज दो दिन में पाँच हजार हिंदुओं का कत्लेआम हो चुका था। मुंबई, बिहार में भी सैकड़ों लोग मारे जा चुके थे। जिन्ना की इस प्रत्यक्ष काररवाई में लगभग 7000 लोग काल कवलित हो गए थे।[21]

माउंटबेटन और जिन्ना के बीच भारत विभाजन को लेकर वृहद् वार्त्ता भी हुई। माउंटबेटन ने भारत को अभिभाजित बनाए रखने के लिए तमाम दलीलें दीं। यहाँ तक कि वायसराय ने कहा, "बंगाल और पंजाब को अधिक स्वायत्त अधिकार देकर शासन करें। इस व्यवस्था में केंद्र का हस्तक्षेप न्यून होगा।" परंतु जिन्ना ने इसे भी अस्वीकार कर दिया और कहा, "मैं भारत का एक हिस्सा नहीं बनना चाहता। हिंदू राज्य के अधीन होने से तो मैं सबकुछ खो देना ज्यादा पसंद करूँगा।"[22] भारत का विभाजन तमाम कारणों से फलीभूत उस समय के बहुसंख्यक मुसलमानों के मस्तिष्क में यह तथ्य गूँजता था कि उन्होंने हिंदुओं पर विजय प्राप्त की है। वे शासक वर्ग हैं, हिंदू शासित वर्ग है। शासित वर्ग का शासक मानना उनके लिए दुष्कर था। अंग्रेजों के आगमन और उनकी सत्ता का समस्त भारत में विस्तार के बाद कांग्रेस का उदय हुआ, जिसकी स्थापना के साथ ही मुसलिम वर्ग को लगने लगा कि हिंदुओं का उदय हो रहा है। अंग्रेजी शासन में इनको लाभ मिल रहा है। ब्रिटिश भारत के अधीन तमाम हिंदुओं ने शिक्षा प्राप्त कर समाज में प्रतिष्ठा हासिल कर ली थी। साथ ही सरकारी नौकरियाँ भी प्राप्त कर ली थीं। उस समय तक मुसलिम वर्ग में अंग्रेजी शिक्षा के प्रति जागरूकता की कमी थी, परंतु जो शिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित मुसलमान थे, उन्हें हिंदुओं के उत्थान से ईर्ष्या होने लगी थी। जो सर सैयद अहमद खाँ, जिन्हें कल तक अपने आप को हिंदू कहने

में गर्व महसूस होता था, वे ही कांग्रेस की स्थापना के बाद द्वि-राष्ट्रवाद की माला जपने लगे थे। उन्होंने मुसलमानों से अपील करना शुरू कर दिया कि उनका हित अंग्रेजी राज्य में है। सर सैयद अहमद खाँ का प्रभाव, जो कि उस समय पढ़े-लिखे मुसलमानों में अधिक था इसलिए मुसलमान जो कि कांग्रेस से जुड़ सकते थे, नहीं जुड़े। वरन् इसी विचारधारा के विकास ने 1906 में पृथक्कतावादी मुसलिम लीग को जन्म दिया, जो कि 1916 में लखनऊ में कांग्रेस व मुसलिम लीग में समझौते के कारण लीग खेमे में शांति बनी रही। लीग खेमे की यह शांति खिलाफत आंदोलन की समाप्ति तक बरकरार रही। इस शांति का यह मतलब हरगिज भी नहीं था कि लीग ने अपने सांप्रदायिक एजेंडे को तिलांजलि दे दी थी। तुर्की में खलीफा के पदच्युत होने के बाद महात्मा गांधी ने 1920 में भारत में ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ खिलाफत आंदोलन छेड़ दिया। गांधीजी का मंतव्य था इस आंदोलन से भारत में हिंदू-मुसलिम एकता कायम होगी। इस आंदोलन के कारण जो कि भारत में निहित नहीं थे, तुर्की का खलीफा जो कि प्रतीकात्मक रूप से वैश्विक मुसलिम धर्मगुरु था। खलीफा के पद को ही वहाँ की तत्कालीन सरकार ने खुद ही कुछ महीनों बाद तुर्की से सदैव के लिए समाप्त कर दिया था। आश्चर्यजनक तरह से उस पद को भारत में धार्मिक महत्त्व दिया गया। मुसलिमों की इस धार्मिक भावना के लिए हिंदुओं ने इतना बड़ा आंदोलन छेड़ा, जिससे कि मुसलिम लीग इस अवधि तक अप्रासंगिक हो गई। इस अवधि में हिंदू-मुसलिम एकता खूब दिखाई भी दी, जो कि कृत्रिम थी, क्षणिक थी। आज हम कह सकते हैं कि कांग्रेस और मुसलिम लीग की स्थिति वास्तव में तेल और पानी की तरह थी, जो साथ होकर भी कभी नहीं मिलते। इस आंदोलन का लाभ ब्रिटिश सत्ता के खिलाफ तो नहीं मिला, लेकिन आंदोलन की समाप्ति के बाद बहुसंख्यक मुसलमानों ने, जिन्होंने कि खिलाफत आंदोलन में बढ़-चढ़कर भाग लिया था, बाद के स्वाधीनता आंदोलन में हिस्सेदारी बहुत कम कर दी। जिस गांधी की अपील पर मुसलमानों ने खिलाफत आंदोलन में बढ़-चढ़कर भाग लिया था, उसी गांधी के नेतृत्व वाले सविनय अवज्ञा आंदोलन में मुसलिमों की भागीदारी बेहद कम हो गई। इस आंदोलन का सबसे बड़ा दुष्प्रभाव यह पड़ा कि मुसलिमों की धार्मिक भावना बलवती हो गई थी। कांग्रेस के सामने पहले से भी ज्यादा धार्मिक माँगों का सिलसिला शुरू हो गया, जिससे मुसलिम लीग की सांप्रदायिक विषबेल और हरी हो गई।

इतिहासकार ताराचंद के शब्दों में, खिलाफत आंदोलन में गांधीजी की संबद्धता की नैतिक और मानवीय दृष्टि उचित हो सकती है, परंतु उसका राजनैतिक और व्यावहारिक मूल्य संदेहास्पद था। बाद की घटनाओं से सिद्ध हो गया है कि उनका उद्देश्य विफल रहा। खिलाफत आंदोलन के निहितार्थों को पूरी तरह न मुसलमान नेता ही समझ पाए न ही गांधीजी।[23] खिलाफत आंदोलन के समय केरल के मालावार तट पर धर्मांध मुसलमानों द्वारा कई हजार (4,000) हिंदुओं का कत्लेआम कर दिया गया। तमाम हिंदुओं को धर्म-परिवर्तन कराकर जबरन मुसलमान बनाया गया। गांधीजी का खिलाफत आंदोलन का प्रयोग शायद गांधीजी के जीवन की सबसे बड़ी भूल थी, जो कि प्रथम दृष्टया लगता नहीं कि उन्होंने जानबूझकर की थी। गांधी इस आंदोलन के परिणामों के बारे में सही आकलन नहीं कर सके थे। इसका परिणाम यह हुआ कि मुसलिम लीग को यकीन हो गया कि मजहबी मुद्दों पर कांग्रेस को आसानी से झुकाया जा सकता है, अथवा थोड़े से संघर्ष और इनकार के बाद इकरार कराया जा सकता है। मुसलिम सांप्रदायिकता दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ती जा रही थी। कांग्रेस तात्कालिक परिणाम और दीर्घकालिक समस्या को टालने के लिए मुसलिम सांप्रदायिकता के आगे नतमस्तक हो रही थी। परिणामस्वरूप छोटी-छोटी बातों पर हिंदू-मुसलिम फसाद होना आरंभ हो गए। बँटवारा होने तक अविभाजित भारत के लगभग सभी प्रमुख शहरों में सांप्रदायिक दंगे हुए। सबसे भीषण दंगा कलकत्ता शहर में जिन्ना की प्रत्यक्ष कारवाई से 16 अगस्त, 1946 को

हुआ। इस शहर में केवल तीन दिन में 6000 हिंदुओं को कत्लेआम कर दिया गया। 20,000 महिलाओं के साथ बलात्कार हुए। बंगाल के मुख्यमंत्री सुहारावर्दी ने इन दंगों को रोकने के बजाय दंगाइयों को उकसाने का प्रयास किया। इसकी प्रतिक्रिया बिहार दंगे के रूप में सामने आई। जो बिहारी कलकत्ता में रोजगार के लिए गए हुए थे, वे दंगों के कारण वापस बिहार लौटे तो उन्होंने हिंदुओं पर हुए प्रत्यक्ष अत्याचार का वर्णन किया, जिस पर बिहार में भी हिंसा फैल गई और हजारों लोगों को जीवन से हाथ धोना पड़ा।

अंग्रेज सरकार ने ऐसी भयावह स्थिति को रोकने के लिए बल प्रयोग नहीं किया, जबकि यह उस वक्त की माँग थी। दंगे रोकने के लिए बल प्रयोग की आवश्यकता थी, पर सरकार ने जानबूझकर ऐसा नहीं किया।[24]

सांप्रदायिकता की विषबेल पर तुष्टीकरण का घी निरंतर पड़ता रहा, जिससे मुसलिम समाज, राष्ट्रीय आंदोलन से शनै-शनै अलग होता चला गया। पृथक्कता की भावना प्रबल होती गई। गांधीजी ने यद्यपि खिलाफत आंदोलन का समर्थन मुसलिमों को कांग्रेस से जोड़ने के लिए किया था, परंतु अनजाने में ही सही गांधीजी ने खिलाफत के बहाने सांप्रदायिकता को बढ़ावा दे डाला। यहाँ कह सकते हैं कि गांधीजी से मनोवैज्ञानिक और ऐतिहासिक दोनों पक्षों को समझने में भारी भूल हुई।[25]

खिलाफत की शिथिलता में जब धर्मांध मालावर तट के मुसलिमों ने देखा कि उनके धर्मांध उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो रही, तो उन्होंने 20 अगस्त, 1921 को सशस्त्र विद्रोह कर दिया और अली मुसालियर को अपना राजा घोषित कर दिया। मोपला आंदोलन की आँधी, सरकार के प्रति कम हिंदुओं के प्रति ज्यादा थी। हजारों हिंदुओं का कत्लेआम, धर्म परिवर्तन, मंदिरों का विनाश, बलात्कार, बलात् धर्म परिवर्तन जैसी विभीषिकाएँ कई दिनों तक चलती रहीं। इन धर्मांध खून के प्यासे मोपलाओं ने गर्भवती महिलाओं को भी नहीं बख्शा। उनके गर्भस्थ शिशु बाहर आ गए। यह कत्लेआम और बर्बरता की इंतहा थी। हिंदुओं का कत्लेआम इसलिए किया गया, क्योंकि धर्मांध मुसलिम हिंदुओं को काफिर कहते थे। उन्हें मारने की इजाजत उनका धर्म देता था। मालाबार की स्त्रियों ने लेडी रीडिंग के लिए जो मेमोरियल दिया, वह दिल दहलाने वाला था। पीड़ित संभारन नैयर ने भी अपने बयान में कहा कि कुछ लोगों को पकड़कर उनसे उन्हीं के सामने कब्रें खुदवाई गईं और उन्हें फिर कत्ल करके उन्हीं कब्रों में दफना दिया गया।[26]

बड़ी मुश्किल से ब्रिटिश फौज ने मोपला विद्रोह पर काबू पाया, जिसमें लगभग 3,000 मोपला भी मारे गए। अब जरा मोपलाओं के इतने बड़े अमानुषिक कृत्य को तत्कालीन, कई दलों के नेताओं ने उचित ठहराया। गांधीजी ने मोपलाओं के अत्याचार का यह कहकर विरोध नहीं किया कि मोपला अपने धर्म के लिए लड़ रहे थे। गांधीजी की यह टिप्पणी बहुसंख्य हिंदुओं की भावनाओं को लहूलुहान करनेवाली थी। 30 दिसंबर, 1921 को हसरत मोहानी ने भी इलाहाबाद में मोपलाओं की बर्बरता को उचित ठहराया।[27]

उससे भी बड़ा दुर्भाग्य यह था कि इतने बड़े भीषण नरसंहार के विरोध में कोई भी कांग्रेसी नेता खुलकर नहीं बोला। दंगों पर कांग्रेसियों के शुतुरमुर्ग रवैये से तत्कालीन मुसलिम दल सुरसा की तरह अपनी माँगों में वृद्धि करने लगा। इन माँगों के ना-नुकुर पर मुसलिम समाज की ओर से दंगे होने लगे। इन दंगों पर भी कांग्रेसी नेताओं का ढुल-मुल रवैया, सांप्रदायिकता की विषबेल बढ़ाने में मददगार साबित हुआ। कांग्रेस के इस लचर रवैये ने प्रभावहीन मुसलिम लीग की जड़ों को मुसलिम समाज में बहुत अंदर तक मजबूत कर दिया।

यह मराठा शक्तियों के उदय का दौर था। औरंगजेब की सल्तनत सिमटने लगी थी। अगर यह कहा जाए कि मराठा शक्ति ने दिल्ली की मुसलिम सल्तनत को प्रतीकात्मक बना दिया था तो अतिशयोक्ति न होगी। मराठे बाहुल्य

भारत से चौथ वसूलते थे। जिनमें ज्यादातर शासक मुसलिम ही थे। मराठों को चौथ देने में ही दिल्ली की सल्तनत समझदारी समझती थी। क्योंकि चौथ देने की शर्त पर ही मराठे मुसलिम रियासतों पर आक्रमण नहीं करते थे। दिल्ली की मुसलिम सल्तनत की कमजोरी और असहायपन का अंदाजा एक ही घटना से लगाया जा सकता है कि मराठा सरदार पेशवा बाजीराव प्रथम ने मात्र 500 घुड़सवारों को लेकर 29 मार्च, 1737 को दिल्ली पर आक्रमण करने के लिए कूच किया था। इस सूचना पर तात्कालिक दिल्ली का सुल्तान मुहम्मद रंगीला दिल्ली छोड़कर भाग खड़ा हुआ था। मुहम्मद शाह पेशवा से इतना अधिक घबरा गया था कि उसे पेशवा के चित्र से भी डर लगने लगा था।[28]

लगातार दिल्ली सल्तनत के कमजोर होने तथा ब्रिटिश हुकूमत के उदय के बाद दिल्ली सल्तनत के पतन से कट्टरपंथी मुसलमान चिंतित हो उठे। उन्हें डर था कि ऐसी स्थिति ज्यादा दिनों तक बनी रही तो इसलाम खतरे में पड़ जाएगा।

मुसलिम शासन की प्राप्ति हेतु जगह-जगह मुसलिम आंदोलन शुरू हो गए। सशस्त्र विद्रोह भी होने लगे। 1786 और 1831 के बीच सैयद अहमद बरेलवी ने पंजाब में सिक्ख शासन तथा बंगाल में ब्रिटिश हुकूमत के उन्मूलन के लिए आंदोलन शुरू कर दिया। शाहबली-उल्ला देहलवी ने भी इसी तरह का सशस्त्र आंदोलन किया था। सन् 1820 से 1870 के मध्य बहावी आंदोलन शुरू हुआ। बंगाल में फैले सशस्त्र विद्रोह को ब्रिटिश हुकूमत बड़ी मुश्किल से कुचल पाई।[29]

इन घटनाओं से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि तत्कालीन मुसलमान अपने शासक होने की भावना भूल नहीं पाया था। अपने पृथक् अस्तित्व को भूलने में वह असहाय था। उसकी पृथक्कता की भावना ही उसे हिंदू समाज के साथ समरस नहीं होने दे रही थी। उसकी पृथक्कता में ही श्रेष्ठ होने का दंभ छिपा प्रतीत हो रहा था। पृथक्कता को अक्षुण बनाए रखने तथा कभी-कभी पृथक्कता की अभिव्यक्ति करने के लिए हिंदुओं पर आक्रमण शुरू हो जाते थे। पृथक् अस्तित्व की भावना उन्हें दूसरे समाज पर आक्रमण करने के लिए उद्वेलित करती थी। इस भावना में वृद्धि के लिए कट्टरपंथी मौलवी खाद पानी दे रहे थे। हैरत की बात यह थी कि सर सैयद अहमद खाँ जैसे शिक्षित मुसलमानों ने भी इसे खाद-पानी देने में कोई कसर नहीं छोड़ी।

ब्रिटिश भारत में मुसलिमों के उद्धारक माने जानेवाले सर सैयद अहमद खाँ ने कांग्रेस में मुसलिमों के प्रवेश का पुरजोर विरोध किया। कांग्रेस को हिंदुओं का दल बताया। उन्होंने मुसलमानों से अपील की कि वे कांग्रेस का समर्थन न करें। उन्होंने कांग्रेस के राष्ट्रीय आंदोलन से अलग रहने की वकालत की। सर सैयद अहमद खाँ को डर सता रहा था कि चुनावों की स्वतंत्रता मिल गई तो हिंदुओं को बहुमत मिल जाएगा। अल्पसंख्यक मुसलिमों की मुसीबतें बढ़ेंगी। अहमद खाँ, जो खुद ब्रिटिश कर्मचारी थे, मुसलिमों को ब्रिटिश सरकार में ज्यादा नौकरी दिलवाने के पक्षधर थे। ये नौकरियाँ तभी मुसलिमों को मिल सकती थीं, जबकि ब्रिटिश सरकार चाहती। ब्रिटिश हुकूमत तभी चाहती, जब मुसलिम ब्रिटिश की वफादारी करते, राजभक्ति करते। इसी सोच के तहत अहमद खाँ ने अधिक मुसलिमों को कांग्रेस के आंदोलन से जुड़ने नहीं दिया। जिस संदेह का बीजारोपण अहमद खाँ ने बहुत पहले ही मुसलिमों के अंदर कर दिया था, उस बीज का विस्तार तीव्रता से होता चला गया, जो आखिरकार आजादी के साथ ही भारतभूमि के विभाजन का मजबूत कारण बना।

पृथक् निर्वाचन ऐसा विषय था, जो कि भारत के विभाजन का मुख्य कारण बना। बस पृथक् निर्वाचन के विषय पर जिसे 1909 में मार्ले मिंटो सुधार में लागू किया गया था, कांग्रेस ने खुलकर विरोध किया था। उसको 1916 के लखनऊ पैक्ट में कांग्रेस ने मुसलिम लीग के साथ समझौते में मान लिया, जो कि कांग्रेस की सबसे बड़ी भूल थी।

भारत के विभाजन की नींव कांग्रेस के पृथक् निर्वाचन की स्वीकारोक्ति के साथ पड़ गई। शुरुआती दौर में निर्वाचन का दायरा कम था। धीरे-धीरे यह दायरा आगामी विभिन्न अधिनियमों में बढ़ता गया। कांग्रेस की ना-नुकुर थोड़े समय बाद ही स्वीकारोक्ति में बदलती गई। मुसलिम लीग, कांग्रेस को ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ आंदोलन में सहयोग देने के बदले राजनैतिक सौदेबाजी करने लगी, जिसे अगर ब्लैकमेलिंग कहा जाए तो गलत न होगा। हालाँकि खिलाफत आंदोलन के अलावा भारत विभाजन तक मुसलिम लीग ने कभी भी कांग्रेस और उसके आंदोलन को सहयोग नहीं दिया। पृथक् निर्वाचन की स्वीकारोक्ति ही विभाजन का मूल कारण बनी। मुसलिम लीग ने कांग्रेस की घुटना टेक नीति को देखते हुए अपनी सांप्रदायिक माँगें सुरसा के मुँह की तरह फैला दीं। इन माँगों के कारण ही आखिरकार भारतमाता खंडित हो गई। यदि कांग्रेस पृथक् निर्वाचन को स्वीकार न करती तो भारत का विभाजन नहीं होता। तब मुसलिम लीग की सांप्रदायिकता रूपी अमरबेल को खाद-पानी नहीं मिल पाता।

गांधीजी के अनुसार, मार्ले मिंटो सुधार ने हमारा बहुत अहित किया है, यदि इस समय पृथक् निर्वाचन की पद्धति को लागू किया गया होता तो हम आपस में मतभेदों को दूर कर लेते। नेहरू ने भी इसका विरोध करते हुए लिखा, इसके कारण भारत में राजनैतिक गतिरोध उत्पन्न हो गया। मुसलमानों को शेष भारत से अलग कर दिया गया एकीकरण की प्रक्रिया का प्रवाह, जो शताब्दियों से चल रहा था बंद ही नहीं कर दिया गया, बल्कि एकीकरण की प्रक्रिया विपरीत चलने लगी। पहले निर्वाचक मंडल का दायरा बहुत छोटा था, परंतु धीरे-धीरे इसका विस्तार होता गया। जिला बोर्डों तथा नगरपालिकाओं में सांप्रदायिक राजनीति का बोलबाला हो गया। सांप्रदायिकता का जहर इन संस्थाओं से फैलता हुआ आम जनमानस में फैल गया। राष्ट्रीयता की भावना कमजोर होने लगी। सांप्रदायिकता का ज्वार फैलने लगा। इस अधिनियम से कांग्रेस के आंदोलन को गहरा आघात पहुँचा। कांग्रेस की ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ लड़ाई कमजोर पड़ गई।[30]

असल में भारतीय सचिव मार्ले और वायसराय मिंटो दोनों ही बड़े साम्राज्यवादी थे और मुसलमानों के समर्थक थे। यद्यपि मार्ले अपने आपको खुलकर मुसलमान समर्थक कहने से बचता था, जबकि मिंटो को खुलकर मुसलिम समर्थक कहे जाने पर आपत्ति नहीं थी। मार्ले ने मिंटो को पत्र लिखा कि सच तो यह है कि मैं एक पाश्चात्य व्यक्ति हूँ, पूर्वी नहीं, लेकिन यह रहस्य आप किसी से खोलिएगा नहीं, वरना मैं बरबाद हो जाऊँगा। मैं समझता हूँ कि मुसलमानों को मैं पसंद करता हूँ।[31]

मार्ले को यह दृढ़ विश्वास था कि भारत में दोनों संप्रदायों के बीच की दूरी कभी नहीं पाटी जा सकती। भारतीय परिषद् के द्वितीय वाचन के दौरान उसने कहा कि उन्होंने सभा को याद दिलाया कि "हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हिंदुओं और मुसलमानों के मतभेद केवल धार्मिक विश्वास पर आधारित नहीं हैं, बल्कि उनका जीवन, उनकी परंपराएँ, इतिहास, सामाजिक तथा आस्थागत विश्वास, वस्तुत: वे सभी उपादान जो किसी समुदाय से भिन्न होते हैं, एक-दूसरे से नितांत भिन्न हैं।"[32]

अब जरा वायसराय मिंटो के विचारों पर गौर करें, जो ज्यादा खतरनाक थे। कांग्रेस को कमजोर करने और बढ़ रही राष्ट्रीयता को कमजोर करने के लिए मिंटो विभाजनकारी नीति पर चल रहे थे। उनका मत था कि मुसलमानों का समर्थन प्राप्त किया जाए और उस उद्देश्य को कमजोर किया जाए, जो दोनों समुदायों के बीच एकता कायम करने के लिए किया जा रहा है।[33]

इसी क्रम में मिंटो ने 1 अक्तूबर, 1906 को मुसलिम प्रतिनिधि मंडल को आश्वासन दिया कि मुसलिमों को विधान परिषद् के चुनाव में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिल रहा है। वे चाहते हैं कि उन्हें जनसंख्या के आधार पर न

केवल प्रतिनिधित्व मिले, बल्कि उनका राजनैतिक दृष्टि से भी महत्त्व हो, क्योंकि मुसलमानों ने साम्राज्य के हितसाधन में बहुमूल्य योगदान किया है।[34]

पृथक् निर्वाचन अधिनियम के लागू होने से सांप्रदायिक विद्वेष सर्वत्र फैल गया। इस प्रकार मार्ले-मिंटो सुधार ने जो मतभेद पैदा किए, वे कभी दूर नहीं किए जा सके।[35] पृथक् राष्ट्रीयता की भावना प्रबल होती गई। सांप्रदायिकता के जो विषदंत मार्ले-मिंटो सुधार में जमे थे। उनका विष पहले संभ्रांत मुसलमानों में फैला, उसके बाद यह उत्तरोत्तर आम मुसलमानों में भी फैलने लगा। 1909 में पृथक् निर्वाचन प्रतिनिधित्व में मुसलिमों का ब्रिटिश राज्य की प्रजा में विशेष पृथक् वर्ग बना दिया गया। इसके लागू होने के समय कांग्रेस के भीतर विरोध के स्वर उठे, परंतु 1916 में लखनऊ पैक्ट में कांग्रेस ने लीग के आगे समर्थन कर दिया। कांग्रेस के पृथक् निर्वाचन की स्वीकारोक्ति के साथ कांग्रेस ने यह सैद्धांतिक रूप से मान लिया कि मुसलिमों की राष्ट्रीयता पृथक् है। कांग्रेस ने यह भी मान लिया कि मुसलिमों के राष्ट्रीय हित भिन्न हैं। दूसरे शब्दों में कहें, तो कांग्रेस के राष्ट्रीय हित, जिनके लिए कि वह आंदोलन कर रही है, मुसलिमों के राष्ट्रीय हितों से अलग हैं।

1919 के अधिनियम में उत्तरदायी सरकारों का प्रावधान किया गया। इस प्रकार मुसलिम सांप्रदायिकता की राजनीति के दूसरे चरण का प्रवेश हुआ। इस अधिनियम में सांप्रदायिकता का ठोस आधार प्राप्त हो गया। सांप्रदायिकता की अमरबेल से कई शाखाएँ फूट निकलीं।[36]

कुछ विद्वान् इतिहासकारों का मत है कि सांप्रदायिकता के बढ़ने के पीछे आर्थिक कारण था। 1857 की असफल क्रांति के बाद हिंदुओं ने अपने आपको समयानुकूल परिस्थिति के सापेक्ष परिवर्तित कर लिया था और निराशा व कुंठा को समाप्त कर अपनी प्रगति में लग गए। शिक्षा की ओर ध्यान दिया, लिहाजा रोजगार के अवसर भी हिंदुओं के लिए ज्यादा प्राप्त हुए। ब्रिटिश राज्य की सरकारी नौकरियों में सम्भ्रांत शिक्षित हिंदुओं का प्रवेश तीव्रता से हुआ। उधर मुसलिम समाज सत्ता से दूर होने के बाद समयानुकूल अपने आप को परिवर्तित नहीं कर पाया। सरकारी नौकरियों में भागीदारी न के बराबर हुई। हताशा और निराशा के चलते मुसलिम समाज ने शिक्षा और प्रगति की ओर ध्यान नहीं दिया। हिंदू ब्रिटिश साम्राज्य के निकट आ गए। सरकारी नौकरियों में भागीदारी के कारण उनका रुतबा भी समाज में भी बढ़ा। हिंदुओं की प्रगति से मुसलिम समाज की विपन्नता तथा समाज में घटते रुतबे से मुसलिमों में हिंदुओं के प्रति ईर्ष्या की भावना का जन्म हुआ। सरकारी नौकरियों के प्रति आकर्षण भी पैदा हुआ। सरकारी नौकरियों की प्राप्ति के लिए दोनों संप्रदायों के बीच स्वाभाविक प्रतिद्वंद्विता में भी वृद्धि हुई।

मुसलिम संगठन और शिक्षित मुसलिम सोचने पर मजबूर हो गए कि सरकारी नौकरियाँ ब्रिटिश राजभक्ति से ही प्राप्त की जा सकती हैं और हिंदुओं से प्रगति, प्रतिष्ठा में आगे निकला जा सकता है। मुसलिमों का एक वर्ग खुद को ब्रिटिश शासन के प्रति हितैषी साबित करने में जुट गया। सबसे पहले इस आवाज को सर सैयद अहमद खाँ ने मुखर किया, जो कि खुद ब्रिटिश शासन के कर्मचारी थे। उन्होंने सरकारी नौकरी पाने के लिए मुसलिमों से अंग्रेजी शिक्षा ग्रहण करने की अपील की। शिक्षित हिंदुओं में एक वर्ग ऐसा भी था, जो अंग्रेजी शासन के नीचे स्वायत्तता की माँग करने लगा। इसी के तहत 1885 में कांग्रेस की स्थापना हुई। कांग्रेस में धीरे-धीरे स्वाधीनता की माँग जोर पकड़ने लगी। अहमद खाँ ने मुसलिमों को आगाह किया, उनका हित वर्तमान में ब्रिटिश शासन में ही सुरक्षित है। अत: मुसलिम कांग्रेस के आंदोलन से न जुड़ें। सर सैयद के अल्टीमेटम का गहरा असर पड़ा। बहुसंख्यक मुसलमान कांग्रेस से न जुड़कर सर सैयद की पैट्रियोटिक एसोसिएशन से जुड़ा, जो कि ब्रिटिश हुकूमत के प्रति वफादारी के बदले अपने वर्ग के हितों की माँगें करने लगे। प्रारंभ में आर्थिक हितों की माँगें उठीं। शनै-शनै इन्हीं

माँगों को पूरा करने के लिए धार्मिक माँगें मुखौटे के रूप में उठने लगीं। जिससे कि सांप्रदायिकता का बीजारोपण आरंभ हो गया।

भारत में ब्रिटिश राज्य की स्थापना ने उच्चवर्गीय धनाढ्य मुसलिमों के लिए संकट और समस्याओं का साम्राज्य खड़ा कर दिया। उन्हें लगा कि उनके संसार का अंत हो गया। उन्हें लगने लगा, जिस साम्राज्य पर सैकड़ों वर्षों से शासन करते चले आ रहे थे, वह साम्राज्य अब उनका नहीं रहा।[37] सबसे पहले बंगाल में अंग्रेजों ने मुसलिम सत्ता को पदच्युत किया। अत: सबसे पहले इसका प्रभाव बंगाल के मुसलमानों पर पड़ा। बंगाल में व्यवसाय, व्यापार तथा सरकारी नौकरियों से मुसलमान दूर हो गए, जबकि परिस्थितियों से सामंजस्य बैठाने वाले हिंदू समाज की व्यापार, सरकारी नौकरियों में प्रतिष्ठा बढ़ती गई। आर्थिक रूप से हिंदुओं की स्थिति सुदृढ़ होती गई। सर सैयद अहमद खाँ द्वारा जागरण के फलस्वरूप मुसलिमों ने आधुनिकीकरण तथा अंग्रेजी शिक्षा की ओर ध्यान देना शुरू कर दिया, परंतु तब तक देर हो चुकी थी। हिंदुओं का आर्थिक वर्चस्व स्थापित हो चुका था। आर्थिक प्रतिद्वंद्विता ईर्ष्या में बदलने लगी थी। बाकी कमी कांग्रेस की स्थापना ने पूरी कर दी। कांग्रेस के समर्थन का विरोध शुरुआत से ही सर सैयद करते आए थे। संभ्रांत मुसलमान कांग्रेस से नहीं जुड़े। कांग्रेस एक राष्ट्रवाद की बात करती थी, जबकि सर सैयद, जो कभी हिंदू-मुसलिम एकता की बातें करते नहीं थकते थे, यह दुर्भाग्य ही था कि अब वह पूरी तरह से मुसलिम कट्टरपंथी बन चुके थे।

उन्होंने भारत को एक राष्ट्र न मानकर भारत में अनेक राष्ट्रों की वकालत की। सर सैयद के इस मत का समर्थन बहुसंख्यक मुसलमानों ने किया। यहाँ तक कि कई कांग्रेसी मुसलमानों को भी सैयद के विचारों ने प्रभावित किया। बदरूद्दीन तैयब, जो कि कांग्रेस के दूसरे अध्यक्ष थे, उन्होंने भी बहुराष्ट्रवाद की पुरजोर वकालत की।

बदरूद्दीन ने 18 फरवरी, 1888 को सर सैयद को लिखा, "मेरे विचार में कोई भी सारे भारत को एक राष्ट्र नहीं मानता है, यदि आपने मेरा उद्घाटन भाषण पढ़ा हो तो उसमें यह स्पष्ट था कि भारत में अनेक समुदाय या राष्ट्र हैं, जिन्हें अपनी विशिष्ट समस्याओं को हल करना है, किंतु कुछ ऐसे प्रश्न भी हैं, जिनका संबंध हर समुदाय से है। कांग्रेस का संगठन ऐसे ही प्रश्नों पर सोच-विचार के लिए ही हुआ है।"[38]

उन्होंने अपने लेख में आगे कहा कि "जिस तरह हम शिक्षा की प्रगति नहीं रोक सकते, उसी तरह हम कांग्रेस को भी नहीं रोक सकते, परंतु अन्य ठोस कार्यों में कांग्रेस के मार्ग का निर्देशन करने की क्षमता हममें है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि अपने सम्मिलित कार्यों में मुसलमान कांग्रेस को उन विषयों तक सीमित रख सकते हैं, जो विचार-विमर्श के उपयुक्त हैं। इसलिए मेरी नीति बाहर की अपेक्षा भीतर से काम करने की होगी। मैं तो सभी मुसलमानों से कहूँगा कि जिन बातों से तुम सहमत हो उनमें अपनी हिंदू प्रजा के साथ मिलकर काम करो, किंतु जब भी वे ऐसे प्रस्ताव सामने लाएँ, जिन्हें अपने प्रतिकूल समझते हैं आप अपनी यथाशक्ति से उनका विरोध कीजिए।"[39]

जब गिने-चुने कांग्रेसी मुसलमानों की सोच भारत के राष्ट्र के मसले पर बहुराष्ट्रवाद वाली ही थी, तो हम अंदाजा लगा सकते हैं। कितने कुलीन समझदार मुसलमान उस समय भारत को एक राष्ट्र मानते होंगे?

तैयबजी ने ह्यूम को अपने द्वारा लिखे गए पत्र में कहा था कि बहुसंख्यक मुसलमान कांग्रेस के विरोधी हैं। कांग्रेस के कारण हिंदू-मुसलमानों में आपसी कलह भी बढ़ रही है। उन्होंने कांग्रेस को कम-से-कम पाँच वर्षों तक स्थगित करने की सलाह दी थी।[40] इसे विडंबना कहें या दुर्भाग्य, देश का बहुसंख्यक मुसलमान ब्रिटिश शासन में खिलाफत आंदोलन के अलावा कांग्रेस से कभी नहीं जुड़ा। सक्रिय मुसलिम उच्च वर्ग ने अपनी मेधा, प्रज्ञा का प्रयोग नगर पालिकाओं, जिला बोर्डों और सरकारी सेवाओं में प्रतिनिधित्व पाने में ही किया। दुर्भाग्य से मुसलिम

नेतृत्व की कमान उन लोगों के हाथ में थी, जिनके उद्देश्य और आदर्श प्राचीन इसलामिक शासन में थे। कुलीन, अमीर मुसलमानों की चिंता निम्न तबके के मुसलमानों की प्रगति से हो, ऐसा भी नहीं था। उनके हित भी इसी में थे वे आर्थिक रूप से सशक्त बने रहे, इसलिए वे आरक्षण और पृथक् प्रतिनिधित्व की वकालत करते थे। क्योंकि वे इससे अपने दोनों प्रतिद्वंद्वियों हिंदू समुदाय और निम्न वर्गीय मुसलमानों से आगे बने रह सकते थे। इसी के तहत वे धार्मिक कट्टरता, सांप्रदायिकता का मुलम्मा अपनी माँगों पर चढ़ा देते थे, इससे उनको अशिक्षित, निम्न वर्गीय मुसलमानों का समर्थन मिलता ही था। दूसरे एक समुदाय की संपूर्ण माँग का दबाव भी ब्रिटिश हुकूमत पर पड़ता था, जिससे इनकार करने का साहस ब्रिटिश अधिकारी भी जुटा नहीं पाते थे। इसके अलावा ब्रिटिश हुक्मरान मुसलिम सांप्रदायिक माँगों को मानते थे। अपने लंबे समय तक राज्य को बनाए रखने में उन्हें इससे सहायता मिलती थी और कांग्रेस के आंदोलन को कमजोर करने में भी। मुसलिम अभिजात्य वर्ग की सांप्रदायिक माँगें, जिनको ब्रिटिश हुक्मरानों ने समझ लिया था कि इनके आधार पर व इनकी स्वीकारोक्ति पर अंग्रेजी शासन को लंबे समय तक बनाए रखा जा सकता है। अंग्रेजों की कुटिल राजनीति तथा कुलीन मुसलिमों को हिंदुओं से आगे रहने की लालसा, कांग्रेस की लचर नीति, भारत के विभाजन का कारण बनी। कांग्रेस के तत्कालीन नेता इस बात को समझ पाने में नाकाम रहे कि एक सांप्रदायिक माँग मानने से कई और सांप्रदायिक माँगें उत्पन्न हो जाएँगी। वह ये समझने में भी नाकाम रहे कि सांप्रदायिकता के आगे झुकने के बजाय, सांप्रदायिकता का विरोध करने से एक तय कालखंड के बाद सांप्रदायिकता का विष बेअसर किया जा सकता है।

सर सैयद अहमद खाँ, जिन्हें कि ज्यादातर मुसलमान अपना उद्धारक मानते थे, उन्हें यह एहसास नहीं था कि सर सैयद का अंग्रेजी शिक्षा और आधुनिकीकरण का उद्देश्य सामाजिक व धार्मिक क्रांति करना नहीं था। यदि ऐसा होता तो वे अपने प्रयासों से स्थापित विद्यालयों, महाविद्यालयों को इसलामिक शिक्षा को अनिवार्य अंग नहीं बनाते। उन्हें तो केवल इस बात की चिंता थी कि किस प्रकार ब्रिटिश नौकरियों की सुविधाओं का कुशल संचालन तथा उपयोग कर सकें और अपनी धार्मिक स्वतंत्रता को बनाए रख सकें।[41] सर सैयद व उन जैसे दूसरे उच्चवर्गीय लोग, जिनका संबंध ब्रिटिश हुक्मरानों से था, वे ब्रिटिश शासन तंत्र को यह समझाने में कामयाब हो गए कि ब्रिटिश शासन का हित उच्चवर्गीय मुसलमानों के हित संरक्षण में ही है। इसी सोच के तहत ब्रिटिश शासन तंत्र और मुसलिम अभिजात्य वर्ग के मध्य दुरभि संधि हुई, जो कि भारत के विभाजन के समय तक चलती रही। ब्रिटिश साम्राज्य के कुछ अधिकारियों को छोड़कर सभी बड़े हुक्मरान समझते रहे कि उनका भारत में लंबे समय तक शासन हिंदू-मुसलिम टकराव पर ही निर्भर है। मजेदार बात यह थी कि अभिजात्य मुसलिम वर्ग तथा ब्रिटिश साम्राज्य के हित भिन्न-भिन्न होने के बावजूद दोनों की शत्रुता भाव में समानता थी।

मुसलिम अलंबरदार कांग्रेस को हिंदू पार्टी कहकर हमला करते थे। उच्चवर्गीय मुसलमान ने एक सोची समझी रणनीति के तहत कांग्रेस और ब्रिटिश शासन के प्रति ब्लैकमैलिंग की नीति अपना रखी थी। वह नीति थी, कांग्रेस के आंदोलन को समर्थन देने के बदले में अपनी सांप्रदायिक माँगें मनवाना तथा ब्रिटिश सरकार का हितैषी दिखाकर उनसे अपनी सांप्रदायिक माँगों को कानूनी वैधता दिलवाना। इसकी शुरुआत मार्ले-मिंटो 1909 अधिनियम से हुई। अभिजात्य मुसलिमों की यह रणनीति काफी हद तक सफल रही, परंतु इसकी परिणति सांप्रदायिकता के चरमोत्कर्ष में हुई। जिसने लाखों बेगुनाह हिंदुओं व मुसलमानों की जान ले ली। भारतीय भूमि को खंडित कर दिया। कांग्रेस के आंदोलन के बढ़ते प्रभाव ने ब्रिटिश साम्राज्य के स्थायित्व के लिए शक्ति आश्रय की आवश्यकता उत्पन्न कर दी। यह शक्ति आश्रय तत्कालीन परिस्थिति में केवल अभिजात्य मुसलिम वर्ग से ही मिल सकता था।

ब्रिटिश अफसर जॉन स्टैची ने इंग्लैंड स्थित अपनी सरकार को सूचित किया कि "ऊँचे वर्ग के मुसलमान हमारे लिए शक्ति का स्रोत हैं। दुर्बलता का नहीं। वे संख्या में थोड़े हैं, पर ऐसे उत्साही अल्पसंख्यक हैं, जिनके हित और हमारे हित समान हैं।"[42]

कुटिल राजनीति के माहिर अंग्रेज जानते थे कि उच्चवर्गीय मुसलिमों की सांप्रदायिक माँगें मानकर अथवा उन्हें खुश रखकर संपूर्ण मुसलिम साम्राज्य का समर्थन प्राप्त किया जा सकता है। मुसलिम नेतृत्व की बागडोर धनाढ्य संभ्रांत मुसलिम वर्ग के हाथ थी। बड़ी चालाकी से संभ्रांत मुसलिम वर्ग, धार्मिक कट्टरता का मुलम्मा चढ़ाकर बहुसंख्यक पिछड़े मुसलमानों को अपने पीछे खड़ा कर लेता था। उन्हें धार्मिक भावना के आगे अपनी रोजमर्रा की आवश्यकता की माँगें गौण लगती थीं। सर सैयद अहमद को उनके उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सबसे ज्यादा मदद जिस अंग्रेज अफसर ने की, उसका नाम था थियोडर बैंक। थियोडर मुसलिम समुदाय का हितैषी था और साथ ही शिक्षाविद् भी। वह एम.ए.ओ. कॉलेज का प्रिंसिपल था। उसने ही सर सैयद को मुसलिमों की आधुनिक शिक्षा की आवश्यकता के बारे में समझाया और उसी ने अलीगढ़ में 'मुसलिम विद्यालय' को खोलने की प्रेरणा और सहयोग दिया। इतना ही नहीं थियोडर वह अंग्रेज शख्सियत थी, जिसने सम्भ्रांत मुसलिमों और ब्रिटिश हुक्मरानों के बीच में सेतु का काम किया। थियोडर ने मुसलमानों को जागरूक करने के साथ-साथ प्रोत्साहित किया कि वे अपने समाज के हितों से संबंधित माँगें ब्रिटिश अधिकारियों के समक्ष उठाएँ। प्रिंसिपल थियोडर के सहयोग से ही 35 सदस्यीय मुसलमानों का शिखर मंडल 1 अक्तूबर, 1906 को आगा खाँ के नेतृत्व में वायसराय लॉर्ड मिंटो से मिला।[43] प्रतिनिधि मंडल ने वायसराय से बड़े ही तर्कपूर्वक संवैधानिक संस्थाओं में सुरक्षा तथा अधिकारों की गारंटी माँगी। प्रतिनिधि मंडल ने नगर पालिकाओं, बोर्डों तथा विधान परिषदों में मुसलमानों के लिए पृथक् प्रतिनिधित्व माँगा। इसके अलावा महत्त्वपूर्ण लेजिस्लेटिव कौंसिल में भी पृथक् प्रतिनिधित्व की पुरजोर माँग की। मुसलिम मंडल ने माँग की कि उनके समुदाय को प्रतिनिधित्व जनसंख्या के आधार पर न देकर, उनके राजनैतिक और ऐतिहासिक महत्त्व का आकलन करके दिया जाए। उन्होंने कहा कि वायसराय मुसलमानों की ऐतिहासिक प्रतिष्ठा का ध्यान रखेंगे, जो उन्हें सौ वर्ष पूर्व हासिल थी।

दरअसल जैसे ही मुसलमानों की पृथक् निर्वाचन की माँग पूरी हुई, वैसे ही मुसलमानों के अंदर और अधिक आकांक्षा बलवती हो गई। मुसलमानों के जेहन में सांगठनिक लालसा का विकास हुआ। वे अपने लिए अब कांग्रेस नहीं, किसी दूसरी संस्था के निर्माण के बारे में सोचने लगे। वे कांग्रेस को हिंदू संस्था मानते थे। इसी प्रकार वे ऐसी संस्था के निर्माण के बारे में सोचने लगे, जो केवल मुसलमानों के हित के लिए ही काम करती हो। जो ब्रिटिश शासन से सांगठनिक रूप में मुसलिमों के हितों की माँग बुलंद करती हो। उनकी यह दुराग्रही सोच आखिरकार रंग लाई और वह कांग्रेस जैसी दूसरी राजनैतिक संस्था की बुनियाद रखने में कामयाब हो गए। 30 दिसंबर, 1906 का वह दुर्भाग्यशाली दिन था, जब मुसलिमों की उस संस्था का उदय हुआ। उस संस्था का नाम था—मुसलिम लीग।

जिसके पहले अध्यक्ष का नाम था—वकारमुल्क।

अपने गठन की शैशवावस्था में मुसलिम लीग ने अपना रवैया कांग्रेस के मुकाबले ब्रिटिश शासन के प्रति बेहद नरम रखा। उसने ब्रिटिश शासन के प्रति पूर्ण राजभक्ति का प्रदर्शन किया। साथ ही ब्रिटिश शासन को बनाए रखने का आश्वासन दिया। लीग के नेताओं ने ब्रिटिश राज्य की सुरक्षा के लिए मुसलमानों के खून की आहुति देने तक का आश्वासन दिया।

लीग के प्रथम अध्यक्ष वकारमुल्क ने अलीगढ़ में विद्यार्थियों को संबोधित करते हुए कहा, "खुदा खैर रखे, अगर

कहीं ब्रिटिश सरकार का अंत हुआ तो हिंदू शासन करने लगेंगे और हमारा जीवन, संपत्ति तथा सम्मान हमेशा संकट में रहेगा। इसलिए मुसलमानों को ब्रिटिश शासन बनाए रखने में सहायक होना चाहिए। अच्छा यही होगा कि मुसलमान अपने आपको अंग्रेजों की एक ऐसी सेना समझें, जो ब्रिटिश राज्य के लिए अपना रक्त बहाने और बलिदान करने के लिए तैयार है। यदि मुसलमान अंग्रेजों का साथ दें तो ब्रिटिश शासन निश्चय ही बना रहेगा। उन्होंने मुसलमानों से कांग्रेस का अनुसरण नहीं करने की सलाह दी। कहा कि अपनी माँगें ब्रिटिश सरकार से आदरपूर्वक करें।[44]

लीग के नेताओं का रवैया अब पूरी तरह से कांग्रेस के प्रति असहयोग वाला और ब्रिटिश शासन के प्रति राजभक्ति व समर्पण वाला हो गया था। स्पष्ट था कि उन्हें किसी भी कीमत पर कांग्रेस का शासन स्वीकार नहीं था। भले ही भारत को कभी आजादी न मिलती। यह आजादी के आंदोलन को भोथरा करने का मुसलिम लीग का ऐसा कदम था, जिसने सही मायने में आजादी की लड़ाई को खोखला कर दिया।

लीग के विचारों में यह बात साफ थी कि जिस देश की गैर-मुसलिम आबादी पर उनके पूर्वजों ने सदियों तक शासन किया, वही गैर-मुसलिम साम्राज्य अब उन पर हुकूमत करे, यह उन्हें हरगिज भी सहन नहीं। इसके बजाय उन्हें वह अंग्रेज सरकार कबूल थी, जिसने 1857 में तोप के गोले से मुगल शासकों की लाशें गिराकर ब्रिटिश हुकूमत की बुनियाद रखी थी। लीग के नेताओं ने सुनियोजित कार्यक्रम के तहत कार्यपद्धति अपनाई। वे कांग्रेस को मिल रहे जनसमर्थन से समझ गए थे कि कुछ दशकों बाद ब्रिटिश सरकार के पाँव उखड़ना तय है। लिहाजा ब्रिटिश सरकार के जाने से पहले मुसलमान सभी क्षेत्रों में अपनी स्थिति ज्यादा-से-ज्यादा मजबूत कर लेना चाहते थे। वे हर क्षेत्र में हिंदुओं से आगे होना चाहते थे, जिससे कि भारतवर्ष में या फिर यह कह लें कि भारत की बहुसंख्यक हिंदू आबादी पर पुनः इसलामिक राज्य स्थापित कर पाते। इसलाम का पुनरुत्थान तथा इसलामिक हुकूमत का विचार उनके दिलो-दिमाग में घर कर चुका था और यह तभी संभव था, जबकि मुसलमान शक्तिशाली बन पाते। तत्कालीन परिस्थितियों में शक्तियों के आश्रयदाता इकलौते अंग्रेज थे। इसलिए उन्होंने अंग्रेजों को समर्थन बनाए रखने की नीति अटल रखी। मुसलमान जानते थे, जो सफलता कांग्रेस को एक बड़े आंदोलन के द्वारा मिल सकती है, उसी के बराबर सफलता या कहीं-कहीं उसमें भी ज्यादा सफलता वायसराय के साथ मुसलिम शिष्ट मंडल के बैठने और चाय पीने से मिल सकती है। 1909 का मार्ले-मिंटो सुधार, जिसका सटीक उदाहरण था, जिसमें कि पृथक् निर्वाचन की स्वीकारोक्ति कांग्रेस के भारी विरोध के बाद भी हो चुकी थी।

1916 के लखनऊ समझौते के बाद कुछ समय तक लीग ने कांग्रेस के ऊपर सीधे हमलावर होने से परहेज किया, परंतु खिलाफत आंदोलन—जिसका सूत्रपात गांधीजी ने किया था, समाप्त होने के बाद लीग के नेताओं ने खुलकर कांग्रेस के ऊपर हमले शुरू कर दिए। गांधीजी जो कि सूझ-बूझ और अंतर्दृष्टि के धनी माने जाते थे, और खिलाफत आंदोलन के जरिए हिंदू-मुसलिम एकता को बनाए रखना चाहते थे। वे यह समझने में विफल रहे कि वह जिस मजहबी एकता की इमारत को बुलंद करने का प्रयास कर रहे थे, उसकी नींव बेहद जर्जर थी। अवसरवाद और धर्मांधता से ओत-प्रोत खिलाफत आंदोलन के समाप्त होने के साथ ही मुसलिम लीग का सांप्रदायिक चेहरा, फिर से बेलिबास होकर सामने आ गया। लीग के नेता कांग्रेस पर आरोप मढ़ने लगे कि कांग्रेस हिंदूवादी लाला लाजपत राय, मदन मोहन मालवीय जैसे नेताओं के प्रभाव में है।[45]

जबकि सच तो यह था कि लाला लाजपत राय और मालवीय, खुद ही कांग्रेस के मुसलिम तुष्टीकरण नीति और नीयत को लेकर खिन्न थे। उन्होंने खुद कांग्रेस से असंतुष्ट होकर 1915 में हिंदू सभा का गठन किया। इसी दौरान

कुछ नए अंतरराष्ट्रीय घटनाक्रमों का उदय हुआ। जिसमें अंग्रेजों ने तुर्की खलीफा के शासन को समाप्त कर दिया। अंग्रेजी हुकूमत की इस कारगुजारी से मुसलिम लीग असंतुष्ट हो गई, क्योंकि तुर्की के खलीफा संपूर्ण विश्व के मुसलमानों का धार्मिक प्रतिनिधि माना जाता था। वैश्विक धार्मिक आस्था की आवश्यकता हेतु मुसलमानों ने कांग्रेस से सहयोग लिया। लीग की अवसरवादिता की पराकाष्ठा थी कि खिलाफत आंदोलन के बाद लीग ने कांग्रेस के सारे एहसानों को एक ही झटके में तिलांजलि दे दी। मुसलिमों ने कांग्रेस और ब्रिटिश दोनों को स्पष्ट संदेश दिया कि लीग अपने हितों पर कुठाराघात करके ब्रिटिश सरकार को समर्थन नहीं दे सकती। मुसलमानों के हित सर्वोपरि हैं, इसलिए वे समझौते को तोड़ने में नहीं हिचकते हैं।

गांधीजी के मित्र और अली बंधुओं में से एक मुहम्मद अली ने कहा कि ब्रिटिश सरकार के प्रति हमारा दृष्टिकोण केवल इस बात से निश्चित होगा कि सरकार का दृष्टिकोण हमारे प्रति क्या है।[46]

दूसरे शब्दों में भविष्य में मुसलमानों का सहयोग, ब्रिटिश सरकार द्वारा मुसलिम हितों के समर्थन पर निर्भर करेगा। अवसरवाद के आधार पर गठबंधन, जिस पर धर्मांधता का मुलम्मा चढ़ा हो ज्यादा दिनों तक नहीं चल सकता था। ऐसा समझौता कृत्रिम होता है। स्वार्थ की पूर्ति में बाधा अथवा स्वार्थ की पूर्ति नहीं होने के बाद परस्पर विरोध उभर आते हैं। फिर ऐसे गठजोड़ के टूटने के बाद प्रतिक्रिया स्वरूप पूर्व की अपेक्षा कलह ज्यादा बढ़ते हैं। ऐसा ही खिलाफत की समाप्ति के बाद लीग और कांग्रेस के बीच हुआ। लीग के स्वार्थ समाप्त हो जाने के बाद लीग ने काल्पनिक आरोपों को जानबूझकर कांग्रेस के ऊपर मढ़ना शुरू कर दिया।

उस दौर के ज्यादातर मुसलमानों को अपनी माँगों की कीमत पर कोई भी समझौता स्वीकार नहीं था। उन्होंने अपने स्वार्थ के कारण ही कांग्रेस का विरोध किया और ब्रिटिश सरकार को समर्थन देकर आजादी के आंदोलन को कमजोर बनाने से भी नहीं चूके। इसकी नजीर बड़ी स्पष्ट थी। 1905 के बंगाल विभाजन को हिंदुओं के मुखर आंदोलन के कारण अंग्रेजी हुकूमत वापस लेने पर मजबूर हो गई थी, जो मुसलिम लीग को सख्त नागवार गुजरा था। उसकी इसी मजहबी सोच ने उसे कल तक की अपनी परम हितैषी रही अंग्रेज सरकार से भी दूरी बनाने में गुरेज नहीं किया। 1916 में उसने कांग्रेस से लखनऊ समझौता किया और 1920 में अपनी धार्मिक कट्टरपंथी माँगों के कारण ब्रिटिश सरकार के खिलाफ कांग्रेस के साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर खिलाफत आंदोलन में भाग लिया और फिर आंदोलन की समाप्ति के तुरंत बाद कांग्रेस के खिलाफ विषवमन शुरू कर दिया। जिसके कारण कई जगह मजहबी फसाद हुए। जिसमें हजारों लोग मारे गए। मरने वालों में ज्यादा संख्या हिंदुओं की थी। अगर तथ्यों की बात करें तो कहा जा सकता है कि मुसलिम लीग ने सिर्फ अपने हितों को हमेशा सर्वोपरि रखा। इसके लिए उन्होंने सांप्रदायिकता का सहारा लेने में भी संकोच नहीं किया। गांधीजी में निस्संदेह सूझ-बूझ व अंतर्दृष्टि की कमी नहीं थी। फिर भी वह सांप्रदायिकता की उत्पत्ति के कारकों को समझने में नाकाम रहे। गांधीजी की मुसलमानों के प्रति सांप्रदायिक तुष्टीकरण की नीति, जिसके बल पर वे हिंदू-मुसलिम एकता कायम करना चाहते थे, परंतु कर नहीं पाए। इसके विपरीत सांप्रदायिकता का जहर कम होने की बजाय बढ़ता चला गया। गांधीजी अपनी इस असफलता को खुलकर स्वीकार करने से भी नहीं हिचकिचाए। उन्होंने सार्वजनिक रूप से स्वीकार किया, "इस रोग निवारण की औषधि को बाँटने में वे एक वैद्य के रूप में असफल रहे।"[47]

खीझकर उन्होंने मई 1925 में कलकत्ता की सार्वजनिक सभा में कहा, "यदि हम अपने देश की मुक्ति चाहते हैं तो एक न एक दिन हिंदू और मुसलमानों को एक होना पड़ेगा, और यदि यह हमारे भाग्य में है कि एक होने के पहले हम एक-दूसरे का खून बहाए तो मैं यही कहूँगा कि जितनी जल्दी हम ऐसा कर सकते हैं, उतना ही अच्छा

होगा।"[48] गौर करनेवाली बात यह है कि सांप्रदायिकता के विस्फोट की अभिव्यक्ति ज्यादातर उसी समय दिखाई देती थी, जब ब्रिटिश सरकार से समझौते का अमलीजामा पहनना होता था। उसी समय मुसलिम लीग धर्म को हथियार के रूप में प्रयोग करते हुए अपनी ज्यादा माँगें कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के आगे रख देती थी। दंगों का डर और रक्तपात की आशंका मनोवैज्ञानिक रूप से कांग्रेस और ब्रिटिश अफसरों के मस्तिष्क में दबाव का कार्य करती थी। समझौते में ज्यादा प्राप्त कर लेने पर मुसलिम लीग कुछ समय के लिए ढीली पड़ जाती थी तथा समझौते के कुछ ही समय बाद कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार पर आरोपों-प्रत्यारोपों का दौर शुरू हो जाता था। इसके साथ ही सांप्रदायिकता का रूप अपने असली चेहरे में सामने आता था। हर बार यह रूप भयावह होता जाता था। लखनऊ समझौते से लेकर खिलाफत आंदोलन तक मुसलिम लीग प्रसुप्त अवस्था में थी। खिलाफत की समाप्ति के बाद मुसलिम लीग सांप्रदायिकता के बल पर फिर से मजबूत हो गई।

मुसलिम लीग के जितने भी सम्मेलन होते, उन सम्मेलनों में तत्कालीन विधायी संस्थाओं में मुसलिमों को और अधिक भागीदारी तथा अधिकारों की माँग होती। कांग्रेस के पास इस समस्या का कोई हल नहीं था। लीग ने दिल्ली में तीन मुसलिमों के सम्मेलन बुलाए, जिनमें कुछ राजनैतिक माँगों के साथ प्रस्ताव रखे गए। जिन्हें दिल्ली मुसलिम प्रस्ताव के नाम से जाना जाता है।

इस प्रस्ताव में जो माँगें रखी गईं, वह थीं—सिंध को एक अलग प्रांत बनाया जाए। उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत को अन्य प्रांतों के स्तर पर लाया जाए। बंगाल और पंजाब में जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व दिया जाए। इसके अलावा केंद्रीय विधान मंडल में मुसलमानों की संख्या, कुल संख्या की एक-तिहाई होनी चाहिए।[49] प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि इन शर्तों की स्वीकारोक्ति के बाद ही मुसलमान सभी प्रांतों में सीटों के आरक्षण के साथ सम्मिलित निर्वाचन स्वीकार करेंगे और अल्पसंख्यक हिंदुओं की सीटों के संबंध में वही रियायतें देंगे, जो बहुसंख्यक हिंदू अन्य प्रांतों में मुसलिम अल्पसंख्यकों को देने को तैयार होंगे।[50]

मौलाना आजाद, जो एक ऐसे बड़े मुसलिम नेता थे, जिन्होंने प्राणपण से भारत विभाजन का विरोध किया था, परंतु दिल्ली मुसलिम प्रस्ताव, जो कि अप्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान के निर्माण की माँग थी, उसका समर्थन कर बैठना उनकी भारी भूल थी। उन्होंने 1928 में दिल्ली मुसलिम लीग के प्रस्ताव का समर्थन करते हुए कहा कि—

पिछले मार्च के दिल्ली प्रस्तावों ने भारत में मुसलमानों के सच्चे अधिकारों की मान्यता का द्वार खोला। लखनऊ समझौते ने उनके लिए केवल पृथक् मुसलिम निर्वाचन सुरक्षित किया, किंतु समुदाय के अस्तित्व के लिए उसकी संख्या शक्ति की मान्यता अत्यंत महत्त्वपूर्ण थी। दिल्ली प्रस्तावों ने ऐसी स्थिति को संभव बनाने का मार्ग खोला है, जो उन्हें भारत के भावी संविधान में एक उचित हिस्से का आश्वासन देता है। बंगाल और पंजाब में उनका मामूली बहुमत केवल जनसंख्या का आँकड़ा था, किंतु दिल्ली प्रस्तावों ने उन्हें पहली बार ऐसे पाँच प्रांत दिए हैं, जिनमें से तीन में उनका भारी बहुमत था। अब नौ हिंदू प्रांतों की तुलना में पाँच मुसलिम प्रांत होंगे और इन नौ प्रांतों में मुसलमानों के प्रति जो भी व्यवहार हिंदुओं का होगा मुसलमानों का वही व्यवहार उनके प्रति पाँच प्रांतों में होगा। क्या यह महान उपलब्धि नहीं है? क्या मुसलमानों को अपने अधिकार का दावा करने के लिए एक नया अस्त्र नहीं मिला है?[51]

इस सांप्रदायिक प्रस्ताव की (दिल्ली प्रस्ताव) सटीक मीमांसा डॉक्टर भीमराव आंबेडकर ने की थी। उन्होंने कहा कि प्रस्ताव पर एक दृष्टिपात यह संकेत देने के लिए पर्याप्त है कि इस योजना का ध्येय वर्तमान व्यवस्था में जितना अधिक हो सके, मुसलिम बहुसंख्या वाले प्रांतों का गठन कर लेना है। अभी बंगाल और पंजाब ऐसे प्रांत हैं, जहाँ

मुसलमानों का हल्का बहुमत है। इन प्रांतों में जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व की माँग करके ये प्रस्ताव मुसलमानों के सांप्रदायिक बहुमत को राजनैतिक बहुमत में बदलने की कोशिश कर रहे हैं, ताकि इन प्रांतों में एक मुसलिम सरकार का गठन सुनिश्चित किया जा सके।

बलूचिस्तान और उत्तर पश्चिम सीमा प्रांत में मुसलमानों का बहुत बड़ा बहुमत है, किंतु अभी ये स्वायत्त शासन के दायरे के बाहर हैं। जिसके परिणामस्वरूप यहाँ के बहुसंख्यक मुसलमान शासन करनेवाले बहुसंख्यक नहीं हैं। प्रस्तावों का उद्देश्य इस विषमता को दूर करना है, ताकि मुसलिम बहुमत वाले चार प्रांत बन सकें। जिससे मुसलिम सरकार का बनना निश्चित हो जाए। सिंध प्रांत की स्थापना की माँग का उद्देश्य जहाँ मुसलिम बहुसंख्यक हैं, पहले की योजना वाली प्रांतों की सूची में पाँचवाँ प्रांत जोड़ना है। इन मुसलिम प्रांतों की रचना का उद्देश्य क्या है? स्वयं मुसलमानों की दृष्टि में इसका उद्देश्य वही है, जो सांप्रदायिक निर्वाचन का है। इस योजना के प्रणेता कहते हैं कि यदि मुसलिम प्रांतों के संबंध में उनके सुझाव मान लिये जाएँ तो वे प्रांतीय तथा केंद्रीय विधान मंडल में सांप्रदायिक निर्वाचन त्याग कर सम्मिलित निर्वाचन को स्वीकार कर लेंगे। बराबर के तर्क से यही निष्कर्ष निकलता है कि मुसलिम प्रांतों की स्थापना का उद्देश्य मुसलमान अल्पसंख्यकों की रक्षा करना है। क्योंकि सांप्रदायिक निर्वाचन का उद्देश्य यही था। ऊपर से योजना यह नहीं बताती कि किस तरह मुसलिम प्रांतों के गठन से मुसलिम अल्पसंख्यकों की रक्षा हिंदू बहुसंख्यकों से उन प्रांतों में हो पाएगी, जहाँ हिंदुओं की प्रधानता है। किंतु हम गहराई से इसकी खोजबीन करें तो देख सकते हैं कि योजना इतनी निर्दोष और हानिरहित नहीं है, जितनी कि ऊपर से दिखाई देती है। वास्तव में मुसलिम अल्पसंख्यकों की रक्षा की यह अनोखी युक्ति है। क्योंकि यदि हिंदू प्रांतों में हिंदू बहुसंख्यक मुसलिम अल्पसंख्यकों पर अत्याचार करते हैं तो योजना में उसका समाधान है, जिसके द्वारा मुसलिम प्रांतों में मुसलिम बहुसंख्यकों को हिंदू अल्पसंख्यकों पर अत्याचार करने के लिए मैदान मिल जाता है। यह आघात के विरुद्ध प्रत्याघात, आतंक के विरुद्ध आतंक और अंतत: अत्याचार के विरुद्ध अत्याचार वाली रक्षात्मक व्यवस्था है।

साइमन कमीशन जो कि इंग्लैंड से भारत में संवैधानिक सुधारों के लिए जाँच पड़ताल करने आया था, उसके द्वारा सभी दलों का सम्मेलन बुलाया गया। सम्मेलन में मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक समिति का निर्माण किया गया। समिति की संस्तुतियों को मुसलिम लीग ने पूरी तरह से नकार दिया। महात्मा गांधी के अनन्य मित्र अली बंधु मुहम्मद अली, शौकत अली सहित जिन्ना आदि मुसलिम नेताओं ने नेहरू रिपोर्ट की तीखी भर्त्सना की। मुहम्मद अली ने नेहरू रिपोर्ट की सर्वव्यापी निंदा करने के लिए बिहार और उड़ीसा में सर्वदलीय मुसलिम सम्मेलन बुलाए। इन सम्मेलनों में अली बंधुओं ने नेहरू रिपोर्ट की घोर निंदा की। मुहम्मद अली ने नेहरू रिपोर्ट के विषय में कहा, "सृष्टि ईश्वर की है। देश पार्लियामेंट या वायसराय का है और शासन हिंदू महासभा का।" मुहम्मद अली ने सांप्रदायिकता की गुत्थी सुलझाने के लिए समस्त भारतीयों को इसलाम स्वीकार करने का खुला आमंत्रण दिया।[52] उस समय के मुसलिम नेता हिंदुओं और ब्रिटिश हुकूमत पर मानसिक दबाव बनाने के लिए इसलामिक कट्टरवाद की भाषा का प्रयोग करते थे। जब पूर्व की किसी मुसलिम माँग पर कांग्रेस पीछे हट जाती, तो उनका यह कुटिल दबाब सफल रहता था।

मुहम्मद अली ने अन्य एक मुसलिम सम्मेलन में नेहरू रिपार्ट की निंदा की और सांप्रदायिक समस्या को हल करने के लिए राष्ट्रवाद को युद्ध की संज्ञा दी। उन्होंने कहा कि "इसलाम का अर्थ है शांति, राष्ट्रवाद का अर्थ है युद्ध। अल्लाह ने इसलाम को एक ऐसी कड़ी बनाया है, जो संपूर्ण मानव जाति को एक कुटुंब और समुदाय के

रूप में आबद्ध करनेवाली है। यही मेरा संप्रदाय है। संपूर्ण मानव जाति अनेक राष्ट्रों में विभक्त है, जो एक-दूसरे के शत्रु हैं, यह आपका राष्ट्रवाद है, जो युद्ध की ओर ले जाता है। मैं चाहता हूँ कि हिंदू, ईसाई, यहूदी तथा मूर्तिपूजक सभी आएँ और मेरे साथ मिलकर रहें। हम एक संयुक्त बिरादरी बनाएँ अनुनय-विनय और सेवा द्वारा सबको इसलाम के धर्मसंघ में लाना ही मेरा संप्रदायवाद है। कुरआन में इस बात का उल्लेख है कि यहाँ सिर्फ ईश्वर का शासन है और किसी का नहीं। इस प्रकार जब भारत के मुसलमान पूर्ण स्वतंत्रता को अपना लक्ष्य बना लेंगे, तब वे अपना वही कर्तव्य पूरा करेंगे, जो कुरआन ने तेरह सौ दस वर्ष पूर्व बतलाया था।"[53]

शौकत अली के शब्दों ने नेहरू रिपोर्ट पर कुछ कम विषाक्त प्रतिक्रिया नहीं दी। उनके अनुसार, "हिंदू लोग दासता के अभ्यस्त हैं, वे दास ही बने रहेंगे और मुसलमान स्वतंत्रता प्रेमी हैं। वे न हिंदुओं की दासता स्वीकार करेंगे और न अंग्रेजों की।" शौकत अली ने आगे कहा कि "हिंदू गृहयुद्ध चाहते हैं या शांति…! यदि वे युद्ध के भागीदारी हैं तो मुसलमान प्रतिक्षण युद्ध के लिए तैयार हैं।"[54]

जिन्ना ने भी नेहरू रिपोर्ट की निंदा कर उसे अस्वीकार कर दिया। इसके विकल्प में उसने लीग की दस सूत्रीय माँगें रखीं। कांग्रेस जिन्ना की माँगों का तो समर्थन करती ही नहीं थी। इससे पहले मुसलिम बिरादरी के भीतर भी जिन्ना की माँगों को लेकर आम सहमति नहीं थी। जिन्ना के मतभेदों पर बहस और आगे बढ़ती, मगर 1930 में कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में जवाहरलाल नेहरू ने मोतीलाल नेहरू की संस्तुतियों को पूर्णत: खारिज कर दिया।

कैसा दुर्भाग्य था कि हिंदू-मुसलिम एकता की दुहाई देने वाले और 'सारे जहाँ से अच्छा हिंदुस्ताँ हमारा' जैसा गीत देकर देश को गौरवान्वित करनेवाले मुहम्मद इकबाल ने ही 1930 में अलग मुसलिम राष्ट्र के निर्माण की रूपरेखा तैयार की। यद्यपि उन्होंने पृथक् मुसलिम राष्ट्र का नामकरण नहीं किया। नामकरण का श्रेय कैंब्रिज के स्नातक चौधरी रहमत अली को जाता है। उन्होंने 1933 में अपनी पुस्तिका 'नाउ एंड नेवर' में भारतीय संघ से अलग मुसलिम राष्ट्र के निर्माण का मजबूत खाका खींचते हुए कहा, "सर इकबाल तो मुसलिम प्रांतों को मिलाकर भारतीय संघ को एक इकाई का रूप देना चाहते थे। पर हमारा प्रस्ताव यह है कि इन प्रांतों का एक पृथक् संघ बना दिया जाए। इस देश में तब तक शांति और स्थिरता नहीं स्थापित हो सकती, जब तक कि मुसलमानों को हिंदू प्रभावी संघ में मूर्ख बनाकर रखा जाएगा। फलत: न हमें अपने भविष्य का निर्माण ही करने दिया जाता है और न हमें अपनी आत्मा का स्वामी बनने दिया जाता है। ये मनोभाव पाकिस्तान में रहनेवाले हमारे तीन करोड़ बंधुओं के हैं। पाकिस्तान से हमारा अभिप्राय उत्तरी भारत के इन पाँच प्रदेशों से है। पंजाब, उत्तर पश्चिमी सीमा प्रांत, कश्मीर, सिंध और बलूचिस्तान।"

रहमत अली ने जो पाकिस्तान का नक्शा बनाया था, उसमें तीन स्वतंत्र मुसलिम इकाइयाँ थीं। जिनके नाम भिन्न-भिन्न थे। एक तो पाकिस्तान था, जिसमें उपरोक्त पाँच प्रांत शामिल थे। दूसरा बंग इसलाम, जिसमें असम के भीतरी भाग सहित बंगाल था और तीसरा उस्मानिस्तान, जिसमें निजाम का राज्य हैदराबाद था।[55]

भले ही स्पष्ट और संगठित रूप से अलग मुसलिम राष्ट्र के विचार का प्रतिपादन 1930 में मुहम्मद इकबाल के मुख से हुआ हो, परंतु अलग मुसलिम राज्य की अवधारणा अस्पष्ट रूप से दस वर्ष पूर्व सुनाई देने लगी थी। यद्यपि इस तथ्य की आवाजें कभी-कभार ही सुनाई देती थीं। 1917 में प्रोफेसर सत्तार खैर और डॉ. अब्दुल जब्बार खैर ने स्टाकहोम सोशलिस्ट इंटरनेशनल कॉन्फ्रेंस के जनरल सेक्रेटरी एम. चुसमांस के साथ भारत को हिंदू इंडिया और मुसलिम इंडिया में बाँटने की योजना पर सलाह मशविरा किया।[56]

कुछ इसी तरह के विचार अब्दुल कादिर बिलग्रामी ने व्यक्त किए।[57] भारत के विभाजन में सबसे बड़ी भूमिका

मुसलिम बुद्धिजीवियों ने निभाई। यह वही तबका था, जो भारत के विभाजित हो जाने तक गाहे-बगाहे अलग मुसलिम राज्य की माँग उठाने के बहाने ढूँढ़ता रहा। फिर चाहे वो सरकारी नौकरियों की भागीदारी का प्रश्न हो, पृथक् निर्वाचन का प्रश्न हो, आर्थिक सशक्तीकरण का प्रश्न हो अथवा अलग मुसलिम राज्य के गठन का प्रश्न हो। सभी में मुसलिम बुद्धिजीवियों ने अग्रणी भूमिका निभाकर सरासर सांप्रदायिक रवैया अपनाया।

ज्यादातर मुसलिम बुद्धिजीवी हिंदुओं के प्रभाव वाले क्षेत्रों में रहनेवाली मुसलिम आबादी के भविष्य को लेकर चिंतित थे। ऐसे लोगों में अब्दुल लतीफ, सर मुहम्मद शाहनवाज खाँ जैसे लोग थे। लतीफ का मत था ऐसा संघ राज्य बनना चाहिए, जिसमें केंद्र के हाथों में सत्ता न्यूनतम हो। सर मुहम्मद शाहनवाज खाँ ने कहा कि हिंदुस्तान को पाँच खंडों में विभाजित कर दिया जाए। सर अब्दुल्ला हारून ने दो ऐसे पृथक् संघों की योजना बनाई, जिसमें से एक हिंदू शासन और दूसरा मुसलिम शासन को प्रतिबिंबित करनेवाला था। पंजाब के तत्कालीन मुख्यमंत्री सर सिकंदर हयात खाँ इस खंडन की प्रक्रिया को और आगे ले गए। उनके विचार से देश को सात पूर्णतः स्वशासित प्रदेशों में बाँट दिया जाना चाहिए और इन सबको जोड़कर एक लचीला संघ बना देना चाहिए था।

भारतीय मुसलमानों को ब्रिटिश भारत में वह सारी रियायतें व सहूलियतें दी गईं, जो उन्हें दी जा सकती थीं। कई ऐक्ट में वे सब प्रावधान किए गए, जो पूर्णतः संप्रदाय के आधार पर बने थे। 1930 का दशक आते-आते मुसलिमों को ब्रिटिश भारत में वह सारे अधिकार मिल गए, जिसके लिए वह उस वक्त तक दबाव बनाते आए थे। अब इन अधिकारों से आगे बढ़ना ब्रिटिश सरकार और कांग्रेस के लिए कठिन था। सिवाय अलग मुसलिम राज्य के…और फिर यही माँग 1930 के दौर में ही मुखर हुई। इकबाल के अलग राष्ट्र के प्रतिपादन के बाद, जिन्ना के नेतृत्व में मुसलिम लीग की यह माँग 1938 तक संपूर्ण अविभाजित भारत में फैल गई।

मुसलिम लीग जिसका प्रभाव 1935 तक सामान्य मुसलमानों में नहीं था, उसका प्रभाव केवल अभिजात्य वर्ग के मुसलमानों पर था। 1938 तक मुसलिम लीग का इतनी कम अवधि में निम्न वर्गीय मुसलमानों पर चौंकाने वाला असर दिखने लगा था। आखिर इतनी तीव्र गति से मुसलिम लीग का विकास कैसे हुआ? मुसलिम लीग ने अलगाववाद की, जो अग्नि जलाकर अलग इसलामिक मुल्क की माँग खड़ी की, उससे उच्चवर्गीय मुसलमानों के अंदर इस आशा का संचार हुआ कि उनके लिए अलग मुल्क में नौकरियों के अवसरों का खजाना खुलेगा। पाकिस्तान की माँग के प्रारंभिक काल में सामान्य मुसलमानों पर इतना ज्यादा प्रभाव नहीं हुआ था। वे असमंजस की स्थिति में थे। उनके सामने स्पष्ट दिशा का अभाव था। लीग के अग्रिम पंक्ति के नेताओं ने धार्मिक कट्टरता का समावेश कर लीग को सर्वमुसलिम व्यापी बनाने का प्रयास किया। इस प्रयास में लीग को सफलता भी मिली। ऐसे हालात में कांग्रेस ने उलेमाओं का प्रयोग मुसलिमों को कांग्रेस से जोड़ने के लिए किया और उसका नेतृत्व मौलाना अब्दुल कलाम आजाद को सौंप दिया, परंतु आजाद का प्रभाव मुसलमानों की बहुसंख्यक आबादी पर नहीं पड़ा। मुसलिम लीग में इसकी विपरीत प्रतिक्रिया हुई। मुसलिम लीग के प्रचार माध्यमों द्वारा प्रोपेगंडा फैलाया कि कांग्रेस मुसलमानों में फूट पैदा करना चाहती है। तथापि कांग्रेस को लेकर मुसलिमों में असमंजस और भ्रम की स्थिति पैदा हो गई। उलेमाओं ने इस आग में घी डाला। उन्होंने निम्न और उच्चवर्गीय मुसलमानों के बीच सेतु का काम किया। धर्म ऐसा तत्त्व है, जो उच्च वर्ग से ज्यादा निम्न वर्ग के मुसलमानों के लिए महत्त्व रखता है। इसका प्रभाव बहुसंख्य मुसलिमों पर पड़ा और वे पहले से ज्यादा मजबूती के साथ मुसलिम लीग से जुड़ गए।

उलेमाओं ने अपने प्रचार तंत्र के माध्यम से मुसलमानों में यह भावना कूट-कूटकर भर दी कि उनका ताल्लुक उस हुकूमत करनेवाली जाँबाज कौम से है, जिनके पूर्वजों ने भारत सहित कई देशों को फतह किया और वहाँ

इसलाम का परचम फहराया।

उलेमाओं ने फतवों तथा सस्ते साहित्य प्रचार माध्यमों का प्रयोग कर सर्वसाधारण मुसलमानों को यह समझाने का प्रयास किया कि ब्रिटिश शासन के रहते भारत में इसलाम नष्ट हो जाएगा। उन्होंने जिस राष्ट्रवाद की वकालत की वह विशुद्ध रूप से इसलामिक राष्ट्रवाद था। मुसलिम लीग के नेताओं और उलेमाओं के मस्तिष्क में यह विचार कार्य कर रहा था कि एक बार ब्रिटिश सत्ता का उन्मूलन होने के बाद वह भारत में पुन: मुसलिम सत्ता को जीवित कर सकेंगे। हिंदुओं पर पुन: शासन स्थापित करने में उन्हें ज्यादा कठिनाई नहीं होगी। क्योंकि पूर्व में एक लंबे कालखंड में मुसलिम साम्राज्य हिंदू भारत पर शासन स्थापित कर चुका था। जातीय-नस्लीय श्रेष्ठता का विचार मुसलिम समाज में उलेमाओं ने खूब फैलाया। इसके लिए उन्होंने स्थानीय भारत में फतवों और अन्य प्रचार साहित्य को प्रकाशित करवाया, जिससे कि उनकी बात सर्वसाधारण मुसलमानों तक शीघ्र पहुँच जाए। ब्रिटिश शासन का अस्तित्व भारत में इसलाम के लिए खतरे की घंटी है। इस बात को जोर-शोर से खूब प्रचारित किया गया। तत्कालीन मुसलिम नेतृत्व को इस बात की भी चिंता सता रही थी कि ब्रिटिश हुक्मरान कहीं भविष्य में कांग्रेस के आगे घुटने न टेक दें, क्योंकि कांग्रेस का आंदोलन भी लोकप्रिय हो रहा था। साथ ही अब मुसलिम लीग की दोस्ती और विश्वास अंग्रेजी हुकूमत के साथ पहले जितनी नहीं रह गई थी। धार्मिक कट्टरता और पृथक् स्वतंत्र इसलामिक राष्ट्र की माँग ने मुसलिम लीग और ब्रिटिश सत्ता के बीच दूरी पैदा कर दी थी। इन हालात में मुसलिम लीग के लिए अंग्रेजी सत्ता की समाप्ति आवश्यक बन गई थी। मुसलमानों में धार्मिक कट्टरता एक आवश्यक तत्त्व बनना आरंभ हो गया, जिसके माध्यम से वह मुसलिमों को मुसलिम लीग के मंच पर एकत्रित कर सकें। मुसलमानों के अंदर एकता पैदा करने के लिए धार्मिक कट्टरता ही एक मात्र साधन था, जिसका प्रयोग उलेमाओं और लीग के नेताओं ने पुरजोर ढंग से किया। धार्मिक कट्टरता की मजबूत बानगी मुसलिम नेताओं के वक्तव्यों में दिखाई दे रही थी। मुसलिम नेताओं और मौलानाओं के वक्तव्य इसलामिक नस्लीय श्रेष्ठता से परिपूर्ण होते थे। उन्होंने इसकी परवाह बिल्कुल नहीं की कि इससे हिंदू समाज को किस हद तक ठेस पहुँचेगी अथवा सांप्रदायिकता का जहर किस तेजी से फैलेगा? यहाँ शिक्षित मुसलमानों से लेकर उलेमाओं के दिए गए चौंकाने वाले वक्तव्य गौर के काबिल हैं।

मुसलिम लीग के प्रभावी सदस्य ए.एम.के. देहलवी ने कहा कि वह सांप्रदायिकता की समस्या का समाधान चंद हफ्तों में कर सकते थे। बशर्ते सरकार कानून व्यवस्था बनाए रखने के उत्तरदायित्व से स्वयं को मुक्त कर ले और मुसलमानों को अल्पसंख्यकों की समस्या सुलझाने के लिए हिंदुओं के साथ अकेला छोड़ दे।[58] जिन्ना सरीखे उच्च शिक्षित मुलसमान मुसलिम समुदाय को आर्थिक रूप से सशक्त बनाने के लिए इकलौता मार्ग पाकिस्तान का निर्माण मानते थे। मुहम्मद इकबाल ने जिन्ना को 23 मई, 1937 को एक पत्र लिखा—"मुसलिम भारत की निर्धनता की समस्या को सुलझाना संभव बनाने के लिए यह आवश्यक है कि देश का पुनर्वितरण किया जाए और एक या अनेक पूर्ण बहुसंख्या वाले मुसलिम राज्य बनाए जाएँ। क्या आप नहीं सोचते हैं कि इस प्रकार की माँग का समय अब आ गया है। जवाहरलाल नेहरू के वास्तविक समाजवाद का शायद तुम यही सबसे अच्छा जवाब दे सकते हो।"[59]

4 अप्रैल, 1939 में दिल्ली में प्रांतीय लीग के सम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए महमूदाबाद के राजा ने घोषणा की—"करोड़ों बनियों को जान लेना चाहिए कि वह समुदाय, जिसने कभी आठ सिपाहियों के बल पर भारत जीता था, आज भी अपनी शर्तें मनवा सकता है। यदि मुसलिम संघ के निर्माण में हमारे रास्ते में कोई बाधा खड़ी की गई तो करोड़ों के कान मरोड़ दिए जाएँगे और उन्हें धूल चाटनी होगी। विश्व इतिहास में इस मुसलिम समुदाय की आज

भी एक भूमिका है और यदि शोर मचाने वाले हिंदू हैं, जो हमारा विरोध करने का साहस करते हैं तो उनका नामोनिशान इस दुनिया से मिटा दिया जाएगा।"[60]

मद्रास के मुहम्मद लालजी ने इलहादे मुसलमान की अध्यक्षता करते हुए 12 अगस्त, 1900 को कहा—"हिंदू पराजित लोग हैं। हम उनकी तरफ दोस्ती का हाथ बढ़ाने के लिए हमेशा तैयार हैं। हम उनके साथ मैत्री भाव में रहेंगे, लेकिन ऐ मुसलमानो! तुम शासक हो और वे शासित। तुम्हें यह संबंध कभी नहीं भूलना चाहिए। हमें हिंदुओं और सरकार को भी इस राज्य के पद और अधिकार को तनिक भी नीचा नहीं करने देना चाहिए।"[61]

बंगाल के मुख्यमंत्री फजलुल हक ने अपने सहधर्मियों को आश्वासन दिया—"यदि अठारह साल का एक लड़का मुहम्मद बिन कासिम आठ सैनिकों के साथ सिंध जीत सकता है, तो निश्चय ही नौ करोड़ मुसलमान सारा भारत जीत सकते हैं।"[62]

हिंदुओं पर मुसलिमों की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए उच्चवर्गीय मुसलमान प्रयासरत रहें, इसके लिए उन्होंने सांप्रदायिक वैमनस्य फैलने की कतई परवाह नहीं की। नजीबाबाद के मौलाना अकबरशाह ने प्रस्ताव रखा—"हिंदुओं और मुसलमानों को प्रतियोगिता की स्थिति में पानीपत की एक और चौथी लड़ाई लड़नी चाहिए। इस संबंध में मौलाना ने हिंदू महासभा के मदन मोहन मालवीय को सीधे चुनौती दी। मालवीयजी यदि आप पानीपत के परिणाम को अनूठा करने का प्रयास कर रहे हैं तो मैं आपको ऐसा करने का सरल और उत्तम रास्ता बताता हूँ। चूँकि भारत में सात करोड़ मुसलमान हैं, इसलिए मैं सात सौ मुसलमानों के साथ जो सात करोड़ का प्रतिनिधित्व करेंगे, एक निश्चित तारीख को पानीपत के मैदान में आएँगे और क्योंकि यहाँ बाईस करोड़ हिंदू हैं, इसलिए मैं आपको बाईस सौ हिंदुओं के साथ आने दूँगा। यदि आप हिंदुओं के जवानों के सेनापति का पद ग्रहण नहीं कर सकते हैं तो आप उसे सदाशिवराव या विश्वासराव के किसी वंशज को दे सकते हैं, ताकि उनकी संतानों को अपने पूर्वजों की सत्रह सौ इकसठ में हुई हार का बदला लेने का अवसर मिल सके। मैं यह भी जोड़ता हूँ कि जो सात सौ मुसलमान मैं लाऊँगा, उनमें कोई भी पठान या अफगान नहीं होगा, क्योंकि आप उनसे आंतरिक रूप से भयभीत हैं।"[63]

इस तरह के उत्तेजक प्रचार अभियान का सामान्य मुसलमानों पर गहरा मनोवैज्ञानिक असर पड़ा। वे इस बात से खुशी महसूस करते थे, साथ ही गौरव का भाव भी उनके अंदर प्रकट होता था कि वे उस विजेता जाति के वंशज हैं, जिन्होंने हिंदुओं पर विजय प्राप्त कर सैकड़ों वर्षों तक हिंदुस्तान में शासन किया। उनके अंदर यह विश्वास पैदा हो गया कि ब्रिटिश सत्ता से थोड़े संघर्ष के बाद अंग्रेजी शासन समाप्त हो जाएगा, फिर पहले की तरह हिंदुओं पर तलवार के बल पर शासन करने में ज्यादा कठिनाई नहीं होगी। इसी आकांक्षा के कारण आम मुसलमान मुसलिम लीग के आंदोलन में शामिल होता चला गया।

करोड़ों लोगों के दिलो-दिमाग में आज भी यह ऐतिहासिक प्रश्न घूमता है कि अंग्रेजों का आजादी के पूर्व हिंदुओं के साथ सहानुभूति तथा सामंजस्य ज्यादा था अथवा मुसलिमों के प्रति? और क्या ब्रिटिश साम्राज्य में ऐसे भी अधिकारी थे, जो सत्ता हस्तानांतरण के मसले को जानबूझकर उलझाए रखना चाहते थे?

यह बिल्कुल सही है कि हिंदुस्तान में बेशुमार ऐसे अंग्रेज अफसर थे, जो बड़े ओहदों पर कार्यरत थे और जो अंग्रेजी हुकूमत का अंत नहीं चाहते थे। उसे बचाने के लिए हर तरह की चालबाजी के लिए तैयार थे, ताकि अंग्रेजी साम्राज्य और उनकी नौकरी सुरक्षित रह सके। एक प्रमुख प्रांत के अंग्रेज गवर्नर ने शिमला में एक हिंदू-मुसलिम कॉन्फ्रेंस को महज इसलिए तहस-नहस कर दिया था, क्योंकि उस कॉन्फ्रेंस में हिंदुओं और मुसलमानों के बीच

समझौता हो सकता था। पहले तो उसने जिन्ना को कुछ चालबाजियाँ सिखाईं और फिर वायसराय पर अपने प्रभाव के कारण उन चालबाजियों को कामयाबी दिलाई।[64]

यह भी सत्य है कि हृदय से अधिकांश अंग्रेज नौकरशाह मुसलमानों के पक्ष में थे। इसका कारण था कि उनके सामाजिक रिश्ते खानपान, मेल-जोल हिंदुओं की अपेक्षा मुसलमानों के ज्यादा करीब थे। मुसलमानों के साथ घुलने-मिलने में उन्हें ज्यादा आसानी थी। एक अंग्रेज मुसलमान के घर जा सकता था और बिना किसी परेशानी के साथ भोजन ग्रहण कर सकता था। हिंदू के घर ऐसा करने के उपरांत शुद्धि प्रक्रिया अपनाई जाती थी, क्योंकि उन्हें विदेशी होने के कारण अपवित्र माना जाता था। अंग्रेजों को संदेह था हिंदुओं के साथ उनका मिलना-जुलना ऊपरी सतह तक ही सीमित है, क्योंकि अंदर से वे उनसे नफरत करते थे। साथ ही अंग्रेजों की धारणा थी कि अधिकांश हिंदू उन्हें हेय दृष्टि से देखते हैं। बहुत कम अंग्रेजों की समझ में यह आता था कि अधिकांश हिंदुओं की ऐसी भावना उनके अंग्रेज होने के कारण नहीं, बल्कि इसलिए थी; क्योंकि वे शासक थे।[65]

इसके अतिरिक्त भी कुछ ऐसी घटनाएँ थीं, जिन्होंने अंग्रेजों को मुसलमानों के नजदीक कर दिया। द्वितीय विश्वयुद्ध में कांग्रेस ने अंग्रेज सरकार का साथ देने से मना कर दिया था। उधर मुसलिम लीग खुलकर ब्रिटिश सरकार का समर्थन कर रही थी। अंग्रेज अफसरों को यह बात भी असहनीय लग रही थी कि हिंदू जापान का समर्थन इसलिए कर रहे हैं, क्योंकि अंग्रेज जापान से लड़ रहे थे।[66]

तत्कालीन हिंदुस्तानी फौज में मुसलमानों की संख्या हिंदुओं से कहीं ज्यादा थी। उसका कारण था हिंदुओं में अधिकांश वर्ग सेना में नौकरी करना गौरव नहीं समझता था। हिंदू सेना में नौकरी को देशभक्ति की भावना के प्रतिकूल समझते थे। हालाँकि और विभागों में संभ्रांत शिक्षित हिंदू नौकरी के प्रति आकृष्ट था।

65 प्रतिशत से ज्यादा तत्कालीन हिंदुस्तानी फौज में मुसलमान थे, जो कई देशों—उत्तरी अफ्रीका, मलाया, बर्मा आदि में लड़ रहे थे। अंकगणित की गणना के अनुसार फौज में हर सात हिंदू के मुकाबले तेरह मुसलमान थे, जबकि देश में चौबीस हिंदू के मुकाबले सिर्फ नौ मुसलमान थे। मुसलमानों की फौज में हिंदुओं के मुकाबले अधिक भागीदारी ने ब्रिटिश अफसरों को मुसलमानों के समीप कर दिया। अंग्रेजों का सामाजिक जीवन हिंदुओं की अपेक्षा मुसलमानों के ज्यादा निकट था। खानपान व कई अन्य व्यवहारों में अंग्रेजों और मुसलमानों में समरसता थी, जिसके कारण अंग्रेज अफसर मुसलमानों से सहानुभूति रखते थे।[67]

□

जिन्ना, लियाकत और मुसलिम लीग

अब जरा एक नजर जिन्ना की पारिवारिक पृष्ठभूमि पर डालते हैं। जिन्ना का परिवार भी गांधी की तरह काठियावाड़ का गुजराती था। जो इसी जिले के पनेली गाँव का रहनेवाला था। उनके दादा वैश्य जाति के हिंदू थे। हालाँकि जिन्ना और उसकी बहिन फातिमा ने खुद को राजपूत बताया है। जिन्ना के दादा का नाम पुंजा था तथा पिता का नाम जिन्नाभाई पुंजा। यह परिवार बड़ा व्यवसायी था। कोई अज्ञात घटनाक्रम घटा, जिससे कि जिन्ना के माता-पिता ने इसलाम कबूल कर लिया और वे व्यापार के विस्तार के लिए कराची जाकर बस गए। 1876 में क्रिसमस के दिन जिन्ना का जन्म कराची में हुआ। काठियावाड़ की एक लड़की मीठीबाई से 15 वर्ष की उम्र में उनकी शादी हुई। उस वक्त उनकी पत्नी मीठीबाई की उम्र 11 वर्ष थी। मीठीबाई धुंधा गाँव की रहनेवाली थी, जो पनेली के निकट स्थित था। मात्र 16 वर्ष की आयु में जिन्ना विलायत में वकालत की पढ़ाई करने गए। शीघ्र ही उन्होंने वकालत का सफल कॅरियर शुरू किया। वहाँ उन्होंने खूब पैसा कमाया। जिन्ना के व्यवहार को देखते हुए, उनके साथी उन्हें उद्दंड जिन्ना और ईमानदार जिन्ना के विशेषण से संबोधित करने लगे।[68]

30 वर्ष की आयु में जिन्ना ने राजनैतिक जीवन की शुरुआत कर कांग्रेस में प्रवेश किया। उस समय वे प्रबल हिंदू-मुसलिम एकता के समर्थक थे। दोनों समुदायों की एकता के लिए वे सदैव तत्पर रहते थे। कांग्रेस के कार्यक्रमों के नेतृत्व करने की भी उनमें अभिलाषा थी, परंतु गांधी के दक्षिण अफ्रीका से लौटने के बाद कांग्रेस में प्रवेश और कई बड़े आंदोलनों के श्री गणेश से जिन्ना को लगा, वह कांग्रेस के अंदर प्रभावशाली भूमिका नहीं दे पाएँगे। इसी दौरान जिन्ना का गांधी और कांग्रेस के क्रियाकलापों से उस समय मोह भंग हो गया, जब 1920 में शांतिपूर्ण प्रदर्शनकारियों ने चौरी-चौरा में हिंसा फैला दी। दिसंबर 1920 में नागपुर के कांग्रेस अधिवेशन में जिन्ना ने खुलेआम आंदोलन का रास्ता छोड़कर वैधानिक तरीकों से अपनी माँगें मनवाईं।[69]

इसके बाद उन्होंने कांग्रेस को अलविदा कह दिया, परंतु हिंदू-मुसलिम एकता की बातें, वह 1928 तक करते रहे। एक बार उन्होंने कहा था कि हिंदू-मुसलिम एकता और परस्पर उचित विश्वास के अभाव के कारण ही देश में विदेशी सरकार जमी है। मैं यह भी कहने के लिए राजी हूँ कि भारत को स्वराज्य उसी दिन मिल जाएगा, जिस दिन हिंदू और मुसलमान एक हो जाएँगे।[70]

कांग्रेस को छोड़ने के बाद जिन्ना इंग्लैंड चले गए, जहाँ उन्होंने प्रिवी कौंसिल में वकालत शुरू कर दी। इसी बीच मुसलिम लीग ज्वॉइन करने से पहले 41 वर्ष की अवस्था में उन्होंने दूसरी शादी की। बंबई की पार्टी में 17 वर्ष की एक खूबसूरत लड़की रूटेन पेटिट से उनकी मुलाकात हुई, जो पारसी थी। दोनों ने भागकर शादी कर ली। रूटेन पेटिट ने इसलाम स्वीकार कर लिया। इस शादी की खबर दुनिया को सबसे पहले टाइम्स ऑफ इंडिया के हवाले से मिली। उनकी पहली संतान लड़की थी। इसके बाद दोनों पति-पत्नी के बीच झगड़े की शुरुआत हो गई। आधुनिक विचारों वाली लड़की रूटेन पार्टियों के लिए तरसती रही। स्वयं जिन्ना ने यह स्वीकार किया था कि वह उसके कोड़ों की बंदिशों के बीच तड़पी है। मात्र 4 वर्ष बाद ही रूटेन, जिन्ना का घर छोड़कर ताज होटल में रहने लगी। रूटेन के माता-पिता, जो इस शादी से पहले नाराज थे, वे रूटेन को लेकर यूरोप चले गए। उधर जिन्ना भी वकालत के लिए इंग्लैंड चले गए। रूटेन ने जिन्ना से मिलने की भरसक कोशिश की। असफल रहने पर उसने आत्महत्या करने का भी प्रयास किया। यह समाचार मिलते ही जिन्ना पेरिस आ गए और स्वस्थ होने तक रूटेन के पास ही रहे। रूटेन बंबई लौट आई। जिन्ना अपनी चहेती बहन के पास चले गए, जो कि लंदन में रहती थी। 1928 में रूटेन की

होटल ताजमहल में रहस्मय परिस्थितियों में मौत हो गई।

इसके बाद जिन्ना का नाम काफी समय तक, भारत कोकिला सरोजनी नायडू के साथ जोड़ा जाता रहा। सरोजनी, जिन्ना के प्रेम में पागल थीं। वह प्रेम भरी कविताएँ लिखकर जिन्ना को भेजती थीं। ऐसी प्रेम पंक्ति का एक उदाहरण उद्धृत है—

"रात की वीरान घड़ियों में मेरी आत्मा तुम्हारी आवाज की प्यासी है।"

परंतु श्रीमती नायडू की अदाओं पर न तो जिन्ना का दिल पसीजा। न ही उसने नायडू की प्रेम पंक्ति पर कोई प्रतिक्रिया व्यक्त की।[71]

हिंदू-मुसलिम एकता का राग अलापने वाले जिन्ना आखिर इतने घोर सांप्रदायिक क्यों बन गए? कुछ विद्वानों का मत है—कांग्रेस के कुछ बड़े हिंदू और मुसलिम नेता जिन्ना की हँसी उड़ाते थे। खासतौर पर नेहरू, जिनकी टिप्पणी सदैव जिन्ना के प्रति तीखी और नासमझपूर्ण होती थी। जिन्ना और नेहरू के बीच अंतर्विरोध जिन्ना के कांग्रेस में शामिल होने के साथ ही शुरू हो गए थे। परिस्थितियाँ अथवा नेहरू जैसे बड़े कांग्रेसी नेताओं की जिन्ना के प्रति बयानबाजी से जिन्ना प्रतिक्रियास्वरूप धीरे-धीरे सांप्रदायिकता की बातें करने लगे और वह भारत के विभाजन तक वैसे ही घोर सांप्रदायिक बने रहे। नेहरू भी जिन्ना के बारे में सदैव द्वेषपूर्ण बातें करते रहे। उनके वक्तव्य अकसर जिन्ना के प्रति व्यक्तिगत होते थे, जिससे जिन्ना तिलमिला उठते थे। प्रतिक्रियास्वरूप जिन्ना सांप्रदायिकता का विषवमन करते। पंडित नेहरू के कुछ विवादास्पद बयानों पर गौर करें। जब जिन्ना ने कांग्रेस छोड़ी तो नेहरू ने कहा, "जिन्ना ने सिर्फ इसलिए कांग्रेस से नाता तोड़ा कि जिन्ना के अनुसार कांग्रेस सुसंस्कृतों की पार्टी नहीं रही, क्योंकि जिन्ना स्वयं एक छैला है।" उसी के प्रतिक्रियास्वरूप नेहरू खुद को विश्वास दिलाते रहे कि मुसलिम लीग नेता सिर्फ एक धोखा है। उसका आंदोलन युक्ति संग्रह नहीं है, इसलिए इसे सुगमता से नष्ट किया जा सकता है। पाकिस्तान जीवित नहीं रह सकता, इसलिए उसका निर्माण असंभव है।[72]

जिन्ना द्वारा मुसलिम लीग का नेतृत्व करने पर नेहरू की प्रतिक्रिया कुछ इस प्रकार थी—"मुसलमानों के बारे में जिन्ना के हृदय में कोई सच्ची भावना नहीं है। वह सच्चे मुसलमान हैं ही नहीं।" नेहरू ने आगे कहा कि "मैं मुसलमानों को जानता हूँ और कुरआन को भी। जिन्ना तो नमाज भी नहीं पढ़ सकते और कुरआन भी। उन्होंने कभी पढ़ी ही नहीं है, लेकिन जब मुसलिम लीग का नेतृत्व सामने आया तो उन्होंने मौके को समझकर अपने रूप को परिवर्तित कर लिया।"[73]

एक बार नेहरू ने जिन्ना के बारे में कहा था—"उसकी असली शिक्षा नहीं हुई थी, आप उसे शिक्षित नहीं कह सकते। हाँ, उसने कानून की किताबें पढ़ी थीं और कभी-कभी हल्के-फुल्के उपन्यास व कहानी भी, लेकिन असली किताबें कभी नहीं।"[74]

जिन्ना गर्वीले स्वभाव के थे। वे किसी की डाँट-फटकार से असहज हो जाते थे। वे किसी के सामने झुकते नहीं थे। उन्होंने (जिन्ना) नेहरू के व्यक्तित्व पर टिप्पणी करते हुए कहा था—"वह उद्दंड ब्राह्मण है, जो अपनी चालबाजियों को पश्चिमी शिक्षा के आवरण में छुपाकर रखता है। जब वह वादा करता है कोई-न-कोई रास्ता छोड़ देता है और जब कोई रास्ता नहीं मिलता तो सफेद झूठ बोलता है।"[75]

साफ दिख रहा है कि नेहरू के प्रति जिन्ना की धारणा सरासर अविश्वास वाली थी और जिन्ना के अहंकारी स्वभाव के कारण ही नेहरू और कांग्रेस के साथ उनके लिए सामंजस्य बैठा पाना संभव नहीं हो सका।

कैबिनेट मिशन प्लान के तहत अस्थायी हिंदुस्तानी सरकार के मंत्रिमंडल का गठन होना था। जिसके लिए पाँच

मंत्री मुसलिम लीग के कोटे से आए थे, परंतु जिन्ना ने सरकार में शामिल होने से न केवल इनकार कर दिया, बल्कि 16 अगस्त, 1946 में मुसलिम लीग को सीधी काररवाई करने का निर्देश दिया। तत्कालीन भारत के प्रमुख बड़े शहरों में सांप्रदायिक दंगे शुरू हो गए। दंगों की विभीषिका सबसे ज्यादा कलकत्ता में दिखाई दी। प्रत्यक्ष काररवाई को रोकने और अस्थायी मंत्रिमंडल में शामिल होने के लिए नेहरू स्वयं बंबई स्थित मालाबार हिल में जिन्ना को मनाने गए। दोनों के बीच मुलाकात लगभग अस्सी मिनट तक चली। जिन्ना ने बातचीत में विनम्रता दरशाई, परंतु वह पहले लिये गए अपने फैसले के प्रति अडिग रहे। अंततः वार्त्तालाप का परिणाम बेनतीजा निकला। इस वार्त्ता की असफलता के साथ नेहरू को विश्वास हो गया कि जिन्ना और उनके मंसूबों को नेस्तनाबूद करना होगा, परंतु नेहरू जिन्ना के प्रश्नों और उनकी ताकत का सही आकलन करने में किसी हद तक असफल रहे।[76]

प्रत्यक्ष काररवाई का सबसे भयानक परिणाम हुगली नदी पर बसे तत्कालीन भारत के सबसे बड़े शहर कलकत्ता में देखने को मिला। जहाँ 5,000 निर्दोष लोगों को कत्ल कर दिया गया। मरने वालों में ज्यादातर हिंदू थे। लगभग 20 हजार लोग अपंग और अपाहिज हो गए। 4 दिनों तक चले इन दंगों में मुख्यमंत्री सुहरावर्दी ने खुद दंगाइयों को हवा दी। मुसलिम गुंडों के सुरक्षा घेरे में रहनेवाला सुहरावर्दी सुरा, सुंदरी और धन का लालची था। उसे नाइट क्लबों की रंगीनियाँ रास आती थीं। सुहरावर्दी की हिंसक मानसिकता का पता चलने के बाद प्रत्यक्ष काररवाई शुरू होने के ठीक पहले 5 अगस्त के स्टेट्समैन के अंक में 'शहीद' उपनाम से उसने एक लेख लिखा। जिसमें उसने लिखा था कि "खून खराबा और अशांति बुरी बात नहीं, अगर किसी अच्छे काम के लिए इसका उपयोग किया जाए। आज मुसलमानों के लिए पाकिस्तान से बड़ा और अच्छा और कुछ नहीं।"[77]

16 अगस्त, 1946 को अपराह्न दो बजे शहीद सुहरावर्दी ने कलकत्ता मैदान में सार्वजनिक भाषण दिया। जब वह भाषण दे रहा था, तब वहाँ से दो गली के पार कत्लेआम चल रहा था। आगजनी हो रही थी और उसका धुआँ भाषण स्थल के मैदान में स्पष्ट दिखाई दे रहा था। वह सब देखकर सुहरावर्दी के चेहरे पर क्रूरता से मिली-जुली खुशी उभरी हुई थी। उसने वहाँ मौजूद श्रोताओं को उनके पाकिस्तान के संघर्ष के लिए धन्यवाद दिया।[78]

दंगे में कलकत्ता की पुलिस का प्रभाव दिखाई नहीं दे रहा था। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो बहुसंख्यक मुसलमानों वाली पुलिस दंगे रोकने का ईमानदारी से प्रयास नहीं कर रही थी।

16 अगस्त, 1946 की सुबह हजारों की संख्या में दंगाई, लाठी, डंडों और धारदार हथियारों से लैस होकर हुगली पार करके कलकत्ता आ गए और दुकानों के आसपास छिपकर दुकानें खुलने का इंतजार करने लगे। ज्यादातर दुकानदार हिंदू थे। जैसे ही दुकानदारों ने दुकानें खोलीं, कत्लेआम शुरू हो गया। देखते-ही-देखते शहर में ढेरों लाशें बिछ गईं। बच्चों, लड़कियों, वृद्धों के साथ अमानुषिक अत्याचार हुए। हजारोहजार हिंदू अपंग हो गए। देखते-ही-देखते शहर के सारे अस्पताल घायलों से भर गए। और घायलों को भरती करने के लिए स्थान शेष नहीं बचे।

इस दंगे की सबसे चौंकाने वाली बात यह रही कि जिन्ना की इस प्रत्यक्ष काररवाई की घोषणा अंग्रेजों द्वारा पाकिस्तान की माँग को अस्वीकार करने के बाद की गई थी और उससे भी ज्यादा चौंकाने वाली बात यह थी कि इन दंगों में एक भी अंग्रेज की जान नहीं गई। जबकि वहाँ हिंदू और मुसलिमों के साथ ही अंग्रेजों की भी मिश्रित आबादी थी। मुसलमान दंगाइयों की भीड़ ने कई बार तो अंग्रेज शहरियों के सामने ही हिंदुओं को कत्ल किया, परंतु किसी भी अंग्रेज को तनिक भी शारीरिक क्षति नहीं पहुँचाई। इन दंगों में अगर कोई सुरक्षित था तो वह सिर्फ अंग्रेज ही था, क्योंकि दंगों के शुरू होने के बाद शीघ्र ही हिंदुओं और सिक्खों की ओर से प्रतिक्रियात्मक काररवाई शुरू हो गई थी, परंतु वह आंशिक काररवाई थी। हजारों निर्दोष लोगों के मरने के बाद जिन्ना और सुहरावर्दी ने दिखावे के

तौर पर दंगों की निंदा तो की, परंतु उस दंगे के लिए सीधे तौर पर मुसलमानों को दोषी नहीं ठहराया।

इन दंगों के परिणामों से जिन्ना के उस सैद्धांतिक मत को मजबूत समर्थन मिला कि आजादी के बाद हिंदू और मुसलमान सहज रूप से एक साथ नहीं रह सकते। अब जिन्ना को कांग्रेस के नेताओं के ऊपर दबाव बनाने के लिए मनोवैज्ञानिक आधार प्राप्त हो चुका था। दंगों की विभीषिका ने कांग्रेस के नेहरू जैसे बड़े नेताओं के मस्तिष्क में भविष्य में दंगे होने की आशंका और खौफ भर दिया था। जिन्ना इन दंगों के बाद चीख-चीखकर कहने लगे कि आजादी के बाद हिंदू-मुसलिम शांतिपूर्ण ढंग से नहीं रह सकेंगे। बिना बँटवारे के सत्ता हस्तांनतरण से गृहयुद्ध होना सुनिश्चित है। जिन्ना की यह कुटिल रणनीति कामयाब रही। जिस कांग्रेस के नेहरू और पटेल सरीखे नेता बँटवारे के महज नाम से ही विचलित हो जाते थे, कलकत्ता की विभीषिका के बाद अब उन्हें भी विभाजन जरूरी लगने लगा था और उन्होंने खुद को कहीं-न-कहीं मानसिक तौर पर इसके लिए तैयार कर लिया था। गांधीजी, जो कि भारत विभाजन के प्रश्न पर हमेशा कहते थे कि यह विभाजन तो उनकी लाश पर होगा। अब उनका भी हृदय परिवर्तन होने लगा था और चाहे-अनचाहे उन्होंने भी विभाजन की ओर बढ़ने का मन बना लिया था।

जिन्ना की कुटिल राजनीति के चलते कैबिनेट मिशन असफल हो गया। यद्यपि चर्चित अंग्रेज अफसर जॉर्ज बेवेल के समझाने बुझाने पर जिन्ना ने अंतरिम सरकार में मुसलिम लीग के निचले स्तर के नेताओं को शामिल करा दिया था। इसके पहले जिन्ना ने कैबिनेट मिशन के प्रस्तावों को भी स्वीकार कर लिया। जैसे ही उन्हें पता चला कि उसके नए देश में प्रांतों का सम्मिलित होना ऐच्छिक है, अनिवार्य नहीं, तो उसने कांग्रेस पर विश्वासघात का आरोप लगाया था और कलकत्ता दंगों के रूप में पेश आई सीधी काररवाई की घोषणा कर दी थी। जिन्ना की लीग भले ही अंतरिम सरकार में शामिल हो गई थी, परंतु लीग के मंत्रियों का सरकार में रवैया बेहद असहयोगात्मक रहा था।[79] लीग के मंत्री कांग्रेस कोर के मंत्रियों को बिल्कुल भी सहयोग नहीं करते थे। वित्त मंत्री लियाकत अली खाँ ने जानबूझकर ऐसी वित्तीय नीतियों का निर्माण किया, जिससे कि कांग्रेस के आंदोलन को धन मुहैया कराने वाले उद्योगपतियों की रीढ़ टूट जाती। लियाकत की वित्त नीति ने कांग्रेस समर्थक उद्योगपतियों को मुश्किल में डाल दिया।[80] गृह मंत्री सरदार पटेल तो लीग के मंत्रियों के नकारात्मक रवैए से इतने ज्यादा परेशान हो गए कि उन्हें यकीन हो गया कि अब भारत विभाजन अपरिहार्य है। यदि अभी बँटवारा नहीं किया गया तो अविभाजित देश के अंदर जल्द ही अनेक पाकिस्तान पैदा हो जाएँगे।

अंतत: पटेल को बेहद व्यथित होकर कहना पड़ा कि यदि हम विभाजन स्वीकार नहीं करेंगे तो हिंदुस्तान कितने ही टुकड़ों में बँट जाएगा और फिर देश में एक पाकिस्तान की जगह अनेक पाकिस्तान खड़े होंगे। पटेल ने अंतरिम सरकार की एक वर्ष की हुकूमत में अनुभव किया कि प्रत्येक प्रांत में लीग के साथ मिलकर अंग्रेज अधिकारी दंगे की साजिश में लगे हुए हैं। एक सोची-समझी कूटनीति के तहत प्रमुख विभागों में मुसलमानों को भरती कर दिया गया है।[81]

लीग और उनके नेता जिन्ना सिर्फ इसलिए अंतरिम सरकार में शामिल हुए थे कि गृहयुद्ध की आग को सुलगाए रख पाते। उनका मानना था कि सरकार से बाहर रहकर वे अपने उद्देश्यों की पूर्ति नहीं कर सकेंगे। वे कांग्रेस के सहारे पूरी सरकार को छोड़ना नहीं चाहते थे। समझौते और वार्त्ताएँ गृहयुद्ध को सतत बनाए रखने का महज एक माध्यम थीं।[82]

भले ही ब्रिटिश सरकार के कुछ उच्चाधिकारी अविभाजित भारत में सत्ता हस्तांनतरण के दौरान सांप्रदायिकता को फैलाना नहीं चाहते थे, परंतु ऐसे हुक्मरान गिनती के थे। इस गिनती में माउंटबेटन का नाम लिया जा सकता है। ऐसे

लोगों की संख्या उँगलियों पर गिनी जा सकती थी। ज्यादातर ब्रिटिश हुक्मरान भारत छोड़ने से पहले भारत में सांप्रदायिकता के विष को फैलाना चाह रहे थे। अधिकांश ब्रिटिश अफसर मुसलिम समर्थक थे। इन अफसरों में रक्षामंत्री का चीफ ऑफ स्टॉफ लॉर्ड इस्मे भी शामिल था।

भारत को विभाजन से रोकने के लिए एड़ी चोटी का जोर लगा रहे कांग्रेस के तत्कालीन दिग्गजों ने आखिर क्यों विभाजन को स्वीकार कर लिया? कांग्रेस के चार बड़े नेताओं—गांधी, नेहरू, पटेल तथा अबुल कलाम आजाद में से आजाद ही एक मात्र ऐसे थे, जो अंत तक विभाजन का विरोध करते रहे। यद्यपि गांधीजी ने विभाजन को रोकने के लिए अंतिम अस्त्र के रूप में वायसराय माउंटबेटन से मिलकर जिन्ना को प्रधानमंत्री बनाने और उसे मनमाना मंत्रिमंडल बनाने की छूट की पेशकश तक कर डाली।[83] किंतु गांधी का यह प्रस्ताव कांग्रेस को मंजूर न हुआ और उसने इसे खारिज कर दिया। जिन्ना भी जो कि गांधी को बेहद चालाक मानते थे, गांधी के ऐसे प्रस्ताव को क्यों स्वीकार करते। विलायत से शिक्षित जिन्ना भलीभाँति जानते थे कि उन्हें तात्कालिक सत्ता तो प्राप्त हो सकती है, परंतु भारत जैसे प्रजातांत्रिक देश में जहाँ कि हिंदू बहुमत में हैं, प्रथम आम चुनाव के बाद सत्ता दिवास्वप्न बन जाएगी। तब नए माहौल और समीकरण में मुसलिमों के लिए अलग देश बनाने का सपना बहुत पीछे चला जाएगा।

वे गांधी, जो यह कहने में संकोच नहीं करते थे कि देश का विभाजन उनकी लाश पर होगा। वही गांधीजी अब बँटवारे पर पूर्णतया सहमत हो गए। गांधीजी की इस सहमति पर पत्रकारों द्वारा पूछे जाने पर उन्होंने कहा कि "बँटवारे पर मैं इस लिए राजी हुआ हूँ, क्योंकि बँटवारे पर बहुमत उनके साथ नहीं है और वे बहुमत की अवहेलना नहीं करना चाहते।" उनका इशारा कांग्रेस की ओर था। गांधीजी जानते थे कि उन्होंने यदि कांग्रेस के फैसले का विरोध किया तो जो लोग कांग्रेस को गिराना चाहते हैं, उन्हें संबल मिल जाएगा और चारों ओर एक बार फिर हिंसा शुरू हो जाएगी, जो गृहयुद्ध का भी रूप ले सकती है। ऐसे में आजादी की बाजी फिर से हाथ से निकल जाएगी।[84] पटेल की बात करें तो कालांतर में पटेल को एक वर्ष के अंतरिम सरकार के शासन के अनुभव में जो कटु अनुभूतियाँ हुईं, उससे उन्हें लगने लगा था कि इस विकराल समस्या का इकलौता समाधान बँटवारा ही है, और कुछ नहीं। जिन्ना की प्रत्यक्ष काररवाई के फलस्वरूप कलकत्ता में हुए नरसंहार से उन्हें यह लगने लगा था कि बँटवारा नहीं होने पर आइंदा भी रक्तपात होता रहेगा।

यद्यपि पटेल पहले पंजाब प्रांत का बँटवारा हिंदू और मुसलिम क्षेत्र में करके इस समस्या को हल करना चाहते थे। वे चाहते थे कि इससे वह मुसलिम बहुमत, जो बँटवारे के पक्ष में जिन्ना के पीछे लामबंद है, संतुष्ट हो जाएगा और जिन्ना अस्तित्वहीन हो जाएँगे। इसके अलावा मजबूत केंद्रीय सत्ता के नीचे दोनों—हिंदू और मुसलिम पंजाब बने रहेंगे। हालाँकि इस समस्या का समाधान इतना छोटा नहीं था, जितना पटेल सोचते थे। इन सबके बीच वायसराय माउंटबेटन की कुशल रणनीति, उनकी खूबसूरत पत्नी लेडी माउंटबेटन का मोहिनी चातुर्य तथा बेटी पामेला के प्रचार अभियान के आगे पटेल व नेहरू का न-नुकुर धरा-का-धरा रह गया। इस ब्रिटिश परिवार के बुद्धि चातुर्य के आगे पटेल, नेहरू की अस्वीकारोक्ति की स्वीकारोक्ति में बदलने में वक्त न लगा।

सरदार पटेल ने जिन्ना की पाकिस्तान माँग के जवाब में और इस समस्या से निजात के लिए वायसराय माउंटबेटन के सामने एक अजीबोगरीब प्रस्ताव पेश किया। पटेल ने अपने प्रस्ताव में कहा कि पंजाब प्रांत हिंदू-मुसलिम सांप्रदाय के आधार पर दो भागों में विभाजित कर दिया जाए। जहाँ तक सिक्खों का सवाल है, उन्हें स्वतंत्र छोड़ दिया जाए। वे जिस प्रांत से जुड़ना चाहें जुड़ सकते हैं। प्रस्ताव पेश करते समय पटेल ने बुद्धू होने का अभिनय भी किया। पटेल के इस प्रस्ताव पर नेहरू की भी सहमति थी। इन दोनों नेताओं का मानना था कि

वायसराय ऐसे प्रस्ताव पर राजी नहीं होंगे और वह सबसे बड़े दल कांग्रेस को संपूर्ण सत्ता सौंप देंगे। यदि वायसराय ऐसे प्रस्ताव को मान भी लेते हैं, तो एक अपूर्ण मुसलिम राज्य के उदय लिए जिन्ना की इच्छा ही नहीं रह जाएगी और जिन्ना का आंदोलन दम तोड़ देगा।[85]

मजेदार बात यह रही कि इस प्रस्ताव के बारे में गांधी को जानबूझकर अनभिज्ञ रखा गया। उस वक्त गांधी बिहार में थे। कांग्रेस कार्यसमिति में यह प्रस्ताव भी पास हो गया और गांधी को इसकी भनक भी नहीं लगने दी गई।[86] यह अलग बात है कि गांधीजी को यह सच्चाई जब पता चली तो उन्होंने नेहरू और पटेल से इस प्रस्ताव के बारे में स्पष्टीकरण माँगा। दोनों नेताओं ने गांधीजी को समझाया कि जिन्ना की पाकिस्तान की माँग के जवाब में सबसे कम हानिकारक एक मात्र यही प्रस्ताव रह गया है।

सरदार पटेल जिन्ना की पाकिस्तान माँग की समस्या को हल करने के लिए, जिसमें शायद पटेल की दृष्टि से कम हानि थी, वायसराय माउंटबेटन के पास गए। चतुर माउंटबेटन ने पटेल को समझाया कि वह भारत से मुसलिम समस्या को हमेशा के लिए निपटाना चाहते हैं। उनके पास ऐसी एक योजना है, जिससे कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कांग्रेस निर्बाध रूप से शासन चला सके। उस वक्त उसकी राह में कोई बाधा न हो।[87] माउंटबेटन की उस अस्पष्ट और लुभावनी योजना को पटेल ठुकरा न सके।

माउंटबेटन जो कि अपनी योजना के पहले चरण में कांग्रेस के दो दिग्गजों में से एक, सरदार पटेल को पहले ही मना चुके थे। उनके लिए नेहरू को मनाना आसान नहीं था। नेहरू भारत विभाजन पर चर्चा करने की बात तो दूर, विभाजन का जिक्र सुनते ही भड़क उठते थे।

नेहरू को मनाने का जिम्मा माउंटबेटन, उनकी खूबसूरत और बुद्धिमान पत्नी लेडी माउंटबेटन और उनकी होनहार पुत्री पामेला ने अपने हाथों में लिया। लेडी माउंटबेटन जो कि वायसराय भवन के कर्मचारियों के कार्यों का संचालन व आगंतुकों की मेहमानबाजी की जिम्मेदारी बखूबी निभाती थीं, उनकी भरसक कोशिशों और माउंटबेटन से नेहरू की कई दौर की बातचीत के बाबजूद भी नेहरू विभाजन के लिए तैयार न हो सके। उसी दौरान पंजाब के दंगों की विभीषिका नेहरू और लेडी माउंटबेटन दोनों ने देखी। पंजाब के उस संप्रादायिक दंगे में लगभग दो हजार लोगों को कत्ल कर दिया गया। हजारों लोग अपंग और बेसहारा हो गए। बेशुमार निर्दोषों पर बर्बर अमानवीय अत्याचार हुए। नेहरू ने स्वयं पंजाब में जाकर उस भीषण नरसंहार को अपनी आँखों से देखा था।

लेडी माउंटबेटन ने भी पंजाब का दौरा किया था। वातानुकूलित भवन से लेडी माउंटबेटन इतनी दूर शायद पहली बार किसी यात्रा पर गई थीं। दंगों ने उन्हें अंदर तक हिला दिया था। दंगों के दर्द की दास्तान उन्होंने वापस आकर नेहरू को आँसुओं के साथ सुनाई। नेहरू, जो कि खुद पंजाब के दंगों को अपनी आँखों से देख चुके थे, लेडी के आँसुओं से पिघले बिना न रह सके। उस घटना के बाद उन्होंने वायसराय का भारत विभाजन का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। यद्यपि इस प्रस्ताव को नेहरू द्वारा मानने में तमाम तात्कालिक परिस्थितियों का योगदान था, परंतु अबुल कलाम आजाद के अनुसार सबसे प्रमुख कारण लेडी माउंटबेटन थीं। आजाद ने कहा कि नेहरू पर माउंटबेटन और पटेल से कहीं ज्यादा गहरा प्रभाव लेडी माउंटबेटन का पड़ा था।[88] लेडी माउंटबेटन ने वह कर दिखाया था, जो उनके पति वायसराय उस वक्त तक नहीं कर पाए थे। अब कांग्रेस के दो बड़े नेता विभाजन को स्वीकार कर चुके थे—सरदार पटेल और नेहरू। उस दौर की कांग्रेस में सबसे ज्यादा प्रभाव इन्हीं दो नेताओं का था। कोई भी महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव कांग्रेस में इन दोनों नेताओं की अनुमति के बिना पारित नहीं हो सकता था। अब विभाजन का प्रस्ताव आसानी से कांग्रेस में पारित कराया जा सकता था और वह प्रस्ताव आसानी से पारित हो भी

गया।

भारत के विभाजन की रूपरेखा अब तैयार हो चुकी थी। कुछ भागों को छोड़कर, जिन पर मुसलिम लीग तथा कांग्रेस की आम सहमति थी, परंतु कई प्रदेश व जिले ऐसे थे, जिन पर कांग्रेस और लीग दोनों के ही अपने-अपने दावे थे। सबसे जटिल स्थिति रजवाड़ों और रियासतों की थी, जिसमें कि उस वक्त समूचा भारत बँटा हुआ था। उस समय छोटी-बड़ी सब मिलाकर लगभग 600 रियासतें थीं। जिनकी जनंसख्या और भू-भाग, कुल जनंसख्या और भू-भाग का लगभग एक तिहाई था। इनकी लगभग कुल जनसंख्या 10 करोड़ थी और इन्हें एक बड़ा असमंजस यह था कि बँटवारे के बाद यह रियासतें किस ओर रहेंगी? ये रजवाड़े आजादी के बाद स्वतंत्र रहना चाहते थे। अंग्रेजों के शासन में भी इनकी स्वतंत्रता कायम थी। विदेश नीति और युद्ध छेड़ने जैसे कुछ मसलों को छोड़कर वे लगभग हर मामले में स्वतंत्र थे। ब्रिटिश हुकूमत का हस्तक्षेप वहाँ बिल्कुल न्यून था। ज्यादातर राजा चाहे वह हिंदू हों अथवा मुसलिम। आजादी के बाद अपने राज्य को किसी भी संघ में शामिल नहीं करना चाहते थे। यद्यपि अंग्रेज सरकार को आतताई व जनता पर जुल्म करनेवाले राजा को अपदस्थ का अधिकार हासिल था, परंतु अंग्रेज सरकार ने शायद ही कभी रियासतों के शासन में दखलंदाजी की हो। सिवाय कर वसूलने के अलावा। जबकि समय-समय पर अंग्रेजों के कान में राजाओं के उनकी जनता पर अत्याचारों की शिकायतें सुनाई देती थीं। इसके बावजूद अंग्रेज अनसुनी करते रहते थे। हैदराबाद, जूनागढ़, भोपाल, कश्मीर, त्रावणकोर, मैसूर तथा जोधपुर, ग्वालियर जैसी कई बड़ी रियासतें थीं, जिनके शासक देश से ज्यादा अपने हितों पर ध्यान देते थे। उनकी एकाग्रता इस बात पर ज्यादा थी कि आजादी और बँटवारे के बाद कौन सा संघ उन्हें स्वतंत्रता और सहूलियतें देगा। अधिकांश रजवाड़ों के शासक राजकोष का बहुत बड़ा धन अपने निजी वैभवशाली जीवन पर खर्च करते थे। उनके शाही शौक पर बहुत ज्यादा अपव्यय होता था। भले ही उनके राज्य में जनता बदहाली व भुखमरी के कगार पर खड़ी हो। इन रजवाड़ों के शासकों ने दबाव बनाने के लिए चेंबर ऑफ प्रिंसेज के नाम से एक संगठन बनाया, जिसका प्रधान भोपाल का नवाब था।

ब्रिटिश सत्ता की रजवाड़ों से संधि थी। स्वतंत्रता के बाद रजवाड़ों से वह संधि समाप्त हो जाती। जिसमें वैश्विक नीति को लेकर जो हस्तक्षेप ब्रिटिश हुकूमत का था, वह भी समाप्त हो जाता। जबकि रजवाड़े बँटवारे के बाद भी स्वतंत्र रहना चाहते थे। पाकिस्तान कुटिल नीति के द्वारा भारतीय भू-भाग वाले रजवाड़ों को अपने साथ मिलाना चाहता था। पाकिस्तान की कोशिश थी कि भारतीय क्षेत्र के राजाओं को ज्यादा स्वतंत्रता का लालच देकर अपने पाले में खड़ा करे। पाकिस्तान का ध्यान भारतीय क्षेत्र के मुसलिम राजाओं पर था। ये राजा हैदराबाद, भोपाल तथा जूनागढ़ के प्रमुख मुसलिम राज्य थे। कश्मीर को लेकर पाकिस्तान की अलग दृष्टि थी। चूँकि कश्मीर में राजा हिंदू था, परंतु प्रजा मुसलिम बाहुल्य थी, लिहाजा वहाँ के मुसलिमों ने कश्मीर के राजा के खिलाफ विद्रोह कर दिया। पाकिस्तान को आशा थी कि मुसलिम जनता के विद्रोह के चलते कश्मीर को पाकिस्तान में मिला लिया जाएगा।

इस तरह रजवाड़ों का भारतीय संघ में एकीकरण एक विकट समस्या थी। यद्यपि ब्रिटिश सत्ता चाहती थी रजवाड़े किसी भी संघ में शामिल हो जाएँ। इसी के तहत वायसराय माउंटबेटन ने सभी रजवाड़ों की बैठक बुलाई, जिसमें उन्होंने बड़े चातुर्यपूर्ण ढंग से रियासतों को किसी भी संघ में शामिल होने के लिए कहा। इस बैठक में सभी रजवाड़े या तो स्वयं शामिल हुए थे या फिर उन्होंने अपने दीवानों को बैठक में शामिल होने भेजा था। यह बैठक 25 जुलाई, 1947 को हुई। जिन राजाओं ने प्रतिनिधि के रूप में अपने दीवानों को भेजा था, वह बड़ी रियासतों के राजा थे उन बड़े राजाओं ने उस बैठक में खुद उपस्थित होना जरूरी नहीं समझा था।[89] वायसराय के समझाने बुझाने पर 327

छोटी रियासतों के प्रतिनिधि एक साथ किसी भी संघ में शामिल होने के लिए राजी हो गए एवं उन्हाने संधि-पत्र पर हस्ताक्षर भी कर दिए। हैदराबाद, भोपाल, कश्मीर जैसी बड़ी रियासतें संघ में शामिल नहीं हुईं। इन रियासतों के हुक्मरान किसी भी कीमत पर अपने संप्रभु जैसे अधिकारों को छोड़ना नहीं चाहते थे। जब इन राजाओं ने देखा कि उनका किसी भी संघ में शामिल होना मजबूरी है तो वे अपनी ज्यादा सहूलियतों को लेकर कांग्रेस और मुसलिम लीग के नेताओं से मिलने लगे। जिन्ना ने कुछ राजाओं को जिनमें हिंदू राजा भी शामिल थे, बेहद चालाकी भरे प्रस्ताव देकर उन्हें अपने साथ शामिल होने पर ज्यादा स्वतंत्रता देने का लालच दिया।

जिन्ना ने मुसलिम रियासतों को मिलाने के लिए अपना सांप्रदायिक रुख भी मुखर किया। तत्कालीन राजाओं के व्यक्तिगत जीवन पर प्रकाश डालने से पता चलता है कि उनके अजीबोगरीब शौक और ऐशो-आराम उनके लिए कितना अधिक महत्त्व रखते थे। जिसे बरकरार रखने के लिए वह हर संभव प्रयास करने पर आमादा थे। ज्यादातर बड़े राजा कांग्रेस के विरोधी थे, उनका मानना था कि कांग्रेस के आंदोलन के कारण ही उनकी स्वतंत्रता खतरे में पड़ी है।

जोधपुर के महाराजा को पोलो हवाई जहाज उड़ाने का शौक था। उनके शाही खर्चे बड़े थे। महाराज जोधपुर ने महाराजा जेसलमेर के साथ अधिक स्वतंत्रता की चाहत में जिन्ना से मुलाकात की। जिन्ना ने यह सोचकर कि ये बड़े राजा अगर पाकिस्तान में शामिल हो जाएँगे तो अन्य कई राजपूत रियासतें भी पाकिस्तान में शामिल हो जाएँगी। यह सोचकर चालाक जिन्ना ने कोरा संधि-पत्र महाराजा जोधपुर के सामने रख दिया और कहा कि आप अपनी शर्तें खुद ही लिख दीजिए। मैं दस्तखत कर दूँगा, परंतु जोधपुर राजा ने यह सोचकर जिन्ना के प्रस्ताव को मंजूर नहीं किया कि हिंदू जनता का राजा अगर मुसलिम संघ में शामिल हुआ तो आनेवाले कल में बेशुमार नई समस्याओं का उद्‌भव होना सुनिश्चित होगा। वह जिन्ना से यह कहकर लौट आए कि वे दिल्ली जाकर निर्णय लेंगे। बी.पी. मेनन को इस मुलाकात का पता चल चुका था। उन्होंने आनन-फानन में माउंटबेटन को तैयार किया कि वह जोधपुर राजा को शीघ्र ही भारतीय संघ में सम्मिलित करें। मेनन और माउंटबेटन से मुलाकात में बेहद नाराजगी के साथ जोधपुर राजा ने भारतीय संघ में सम्मिलित होने के लिए हस्ताक्षर कर दिए।[90]

इस तरह मेनन के प्रयास से जोधपुर रियासत सहित अन्य राजपूत रियासतें पाकिस्तान में शामिल होने से बच गईं। बेहतर भारतीय संघ बनाने के लिए मेनन का यह योगदान भुलाया नहीं जा सकता। कुछ दिनों बाद भोपाल का नवाब, जो कि अपनी रियासत के किसी भी संघ में विलय होने के प्रश्न पर ही बीमार पड़ गया था, वह भी पाकिस्तान से भौगोलिक कारणों के चलते आखिरकार भारतीय संघ में शामिल हो गया।

सबसे अजीबोगरीब व दिलचस्प कहानी जूनागढ़ रियासत और उसके नवाब की साबित हुई। उसका नाम मुहम्मद महाबत खान था। वह निहायत ही क्रूर व अतिविचित्र शख्सियत वाला इनसान था। उसकी रियासत में 90 प्रतिशत प्रजा हिंदू थी। यह नवाब बेहद क्रूरतम तरीके से अपने विरोधियों को दंड देता था। विरोधियों को चट्‌टान पर पटककर मार डालता था। वह शिकार करने का भी शौकीन था। उसे कुत्ते पालने का अजीब शौक था। उसने कुत्तों की देखभाल के लिए एक अलग विभाग खोल रखा था। कुत्तों के लिए अच्छे आवास, नौकर-चाकर सभी सुविधाएँ थीं। एक अंग्रेज डॉक्टर कुत्तों की बीमारी का इलाज करता था। यह नवाब विभिन्न जानवरों को जख्मी करके अपने पालतू कुत्तों के सामने डाल देता था। जब कुत्ते इन जानवरों का मांस नोच-नोचकर खाते थे तो नवाब को असीम आनंद की अनुभूति होती थी। नवाब मुहम्मद महाबत खान ने पहले ही घोषणा कर रखी थी कि वह भारतीय संघ में शामिल होगा। साथ ही उसने मुसलिम लीग के नेताओं से भी संपर्क बनाए रखा था। लीग के नेताओं ने उसे

बहकाया कि यदि वह भारतीय संघ में शामिल हुआ तो अपनी निजी स्वतंत्रता खो देगा। उसके कुत्ते भी उससे छीन लिये जाएँगे। काफी जद्दोजहद के बाद अंततः जूनागढ़ के नवाब ने पाकिस्तान में शामिल होने का फैसला कर लिया और मुनासिब कागजात पर हस्ताक्षर कर दिया। जूनागढ़ रियासत और उसकी सरहदी रियासतों की आवाम ने नवाब के इस मनमाने फैसले के खिलाफ विद्रोह कर दिया। भारत सरकार ने भी जूनागढ़ रियासत की आवाम पर अमानवीय अत्याचार किए जाने का हवाला देकर जूनागढ़ रियासत पर आक्रमण कर दिया। पहले भारतीय फौज यह सोचकर हिचकिचाई कि कहीं पाकिस्तानी फौज जूनागढ़ नवाब के पक्ष में न खड़ी हो जाए, किंतु इस डर को दरकिनार करके भारतीय फौजें जूनागढ़ रियासत में दाखिल हो गईं। वहाँ की जनता ने भारतीय फौजों का दिल खोलकर स्वागत किया। नवाब की चार बीवियाँ थीं। उसने कुछ जवाहरात व सोना इकट्ठा किया और अपने पाले हुए कुछ कुत्तों को अपने उस जहाज में बिठा लिया, जिससे वह पाकिस्तान भागने की तैयारी कर चुका था। नवाब की एक बीवी का बच्चा जल्दबाजी व अफरातफरी में महल में ही छूट गया, जिसे लेने के लिए उसकी बीवी वापस महल लौट गई तो डरे-सहमे नवाब से बीवी व बच्चे की वापसी तक इंतजार करते न बना और उसने विमान को पाकिस्तान के लिए टेकऑफ करा दिया। नवाब ने बीवी की खाली सीट पर अपने एक पालतू कुत्ते को बैठाया और वह जालिम व बुजदिल नवाब बीवी व बच्चे को रियासत में ही छोड़कर पाकिस्तान के लिए उड़ गया।

कश्मीर जिसकी स्थिति जूनागढ़ राज्य से बिल्कुल विपरीत थी, वहाँ का राजा हरि सिंह हिंदू था, परंतु उसके राज्य क्षेत्र में अधिकांश जनता मुसलिम थी। आज के कश्मीर की सियासत के केंद्र बिंदु फारुख अब्दुल्ला के पिता शेख अब्दुल्ला उस दौर की कश्मीर की सियासत की धुरी थे। तत्कालीन कश्मीर रियासत में उनका अच्छा प्रभाव था। मुसलिम हितों के लिए शेख अब्दुल्ला ने कश्मीर में कई आंदोलन भी किए थे। इसके बावजूद वह अगर कश्मीर को भारत के साथ देखना चाहते थे तो उसकी इकलौती वजह केवल नेहरू से शेख अब्दुल्ला की मित्रता थी। राजा हरिसिंह को मनाने के लिए वायसराय माउंटबेटन खुद कश्मीर गए, परंतु राजा ने बीमारी का बहाना बनाकर वायसराय से मुलाकात नहीं की। हालाँकि वायसराय ने राजा के केवल भारतीय संघ में शामिल होने की बात नहीं कही थी। वायसराय का मंतव्य था कि वह किसी भी संघ में शामिल हो जाएँ। किंतु बँटवारा हो चुकने के बाद भी राजा हरिसिंह ने टालमटोल की स्थिति बनाए रखी। अक्तूबर 1947 में पाकिस्तान के मुसलिम कबाइलियों ने कश्मीर पर हमला कर दिया। तब राजा को भारत सरकार और भारतीय फौज की याद आई। बी.पी. मेनन ने राजा हरिसिंह से मुलाकात कर अंततः कश्मीर को भारतीय संघ में शामिल कराने की औपचारिकता पूरी कर दी।

अब हैदराबाद पर आते हैं। वहाँ का नवाब पाकिस्तान और भारत दोनों से स्वतंत्र रहना चाहता था। उसने माउंटबेटन को पत्र लिखकर अपनी मंशा प्रगट कर डाली कि अगर ऐसा हो जाता है तो उसे इंग्लैंड का उपनिवेश बनकर रहने से कोई ऐतराज नहीं होगा। स्वतंत्रता के बाद वायसराय माउंटबेटन के विलायत लौटने के बाद अंग्रेजों की पकड़ कमजोर हो गई थी। पटेल ने भारतीय फौजों को हैदराबाद भेज दिया। निजाम लाचार होकर मूकदर्शक बना रहा। इस तरह जूनागढ़ के बाद हैदराबाद भी पटेल और मेनन के प्रयास से भारतीय संघ में सम्मिलित हो गया।

यहाँ भारत के विभाजन की और इस दरम्यान होनेवाली विभीषिका का जिक्र काबिलेगौर है। महात्मा गांधी की इच्छा के विरुद्ध भारत का दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन हुआ। गांधी ने कांग्रेस के अंदर विभाजन के समर्थन में उठ रहे स्वरों को दबाने के लिए कहा था कि 'विभाजन उनकी लाश पर ही होगा।' देखा जाए तो संपूर्ण कांग्रेस में महज दो लोग ही खुलकर विभाजन के विरुद्ध थे। पहले गांधी और दूसरे अबुल कलाम आजाद। गांधी का कांग्रेस में अच्छा प्रभाव होने के बावजूद भी विभाजन के मसले पर नेहरू पटेल सहित संपूर्ण कांग्रेस कार्य समिति विभाजन के पक्ष में

एकमत थी। यह हालात गांधीजी को असहाय करनेवाले थे। बात उस वक्त की है, जब कांग्रेस कार्य समिति में विभाजन का प्रस्ताव पास हो गया। उस वक्त पत्रकारों ने गांधीजी से पूछा कि विभाजन का प्रस्ताव पारित हो जाने पर आप मौन क्यों हैं? उन्होंने बड़ी लाचारी से कहा कि अब कांग्रेस के अंदर उनकी कोई सुनता ही नहीं है। आखिर वे बहुमत के खिलाफ कैसे जा सकते हैं।

जहाँ तक अबुल कलाम आजाद की बात करें तो उनका अपने समुदाय के अंदर जिन्ना के मुकाबले प्रभाव काफी कम था। कुल मिलाकर भारत विभाजन के दुर्भाग्यपूर्ण विधान का खाका खिंचकर अब तैयार हो गया था, और फिर विभाजन के बाद व्यापक नरसंहार का झकझोर देने वाला खूनी मंजर भी सामने आया। कांग्रेस के नेताओं ने दंगों को रोकने के लिए विभाजन स्वीकार किया था, परंतु विभाजन के पश्चात् तो दंगों का मेला लग गया। दंगों की इस विभाषिका में लाखों लोग मारे गए और लाखों अपंग व बेघर हो गए। हजारों की तादात में औरतों के अपहरण व बलात्कार हुए। उनका बलात धर्म परिवर्तन कराकर उन्हें बेच दिया गया। इन दंगों की बर्बरता का जो चरम पेश आ सकता था, वह पूरी तासीर से पेश आया। सरकारी आँकड़े बताते हैं कि दोनों समुदायों से ताल्लुक रखनेवाले एक करोड़ साठ लाख लोग बेघर हुए। उन्हें अपनी जान बचाने के लिए अपना घरबार छोड़कर भागना पड़ा। मारे गए लोगों की संख्या सरकारी रिकॉर्ड में लगभग 6,00,000 (छह लाख) दर्ज है।[91]

लेकिन अगर गैर-सरकारी सूत्रों की बात करें तो उनके आँकड़ों में यह संख्या दस लाख (10,00,000) दर्ज है। यानी कि बँटवारे में दस लाख लोगों की मौत हुई और दो करोड़ लोग विस्थापित हुए। 1,00,000 (एक लाख) लड़कियों व महिलाओं का अपहरण व शीलभंग हुआ। छोटे बच्चों को पटककर मार दिया गया। गर्भवती महिलाओं के पेट फाड़ दिए गए। आक्रमण व मार-काट से बचने के लिए लोगों ने मीलों लंबे मानव जत्थे बनाए और पलायन करने पर विवश हो गए। पश्चिमी पंजाब से आनेवाले सिखों और हिंदुओं के सबसे बड़े जत्थे की लंबाई लगभग 74 मील थी। जो अपने आप में आँखें खोल देने वाला वाकया है।[92]

अब एक यक्ष प्रश्न उठता है कि क्या विभाजन को रोका जा सकता था? इस संदर्भ में ज्यादातर इतिहासकारों के मत हैं कि विभाजन को रोका नहीं जा सकता था, सिर्फ कुछ वक्त के लिए टाला जा सकता था। यहाँ जरा ठहरकर जिन्ना की डायरेक्ट एक्शन की कारवाई को याद करें। उस कारवाई के चलते कलकत्ता में जो दंगे हुए थे और जिसमें पाँच हजार हिंदू मारे गए थे। उसके तुरंत बाद हुए बिहार के दंगे कलकत्ता दंगों की प्रतिक्रिया के अलावा और कुछ नहीं था। सच तो यह था कि उन दंगों की भयावहता से गांधीजी के साथ ही संपूर्ण कांग्रेस भी दहल गई थी। उन्हें लगने लगा था कि यदि जिन्ना की पाकिस्तान की माँग स्वीकार नहीं की गई तो आइंदा होनेवाले दंगे और भी भयावह हो सकते थे। ऐसे आलम में आजादी की निर्णायक दौर में पहुँच चुकी लड़ाई लड़खड़ा जाएगी और दम तोड़ती ब्रिटिश हुकूमत को संजीवनी मिल जाएगी। ऐसे में सच पूछा जाए तो कांग्रेस को महसूस होने लगा था कि पाकिस्तान निर्माण की बात स्वीकार करने के अलावा उसके पास दूसरा कोई रास्ता नहीं रह गया था। इसके साथ ही कांग्रेस के कुछ बुद्धिजीवियों की सोच थी कि अगर विभाजन हो भी जाता है तो वह स्थायी नहीं होगा। वह एक कृत्रिम विभाजन होगा, जिसकी जिंदगी बहुत थोड़ी होगी और पाकिस्तान अपने अस्तित्व को ज्यादा दिनों तक कायम नहीं रख पाएगा। उसके बाद दोबारा भारत में एकीकरण के लिए विवश हो जाएगा।

काश! कांग्रेसी बुद्धिजीवियों की यह सोच सही साबित हुई होती। वस्तुतः ऐसा न हुआ। कांग्रेस की सोच सिरे से ही गलत साबित हुई।

विभाजन न रुकना था, न ही रुका, मगर विभाजन के बाद होनेवाली विभीषिका को अवश्य रोका जा सकता था।

वह विभाषिका न रुकी, यही विभाजन का सबसे दु:खांत अध्याय बनकर उभरा। क्या अलंबरदारों की अंतर्दृष्टि और दूरदृष्टि उस वक्त यह न देख पाई कि मजहबी नफरत में जलते मुल्क का बँटवारा क्या प्रलय कर सकता था? अगर देख पाई तो अलग मुल्क का निर्माण करते वक्त उन्होंने इन खतरों से निपटने के लिए पुख्ता तैयारियों क्यों नहीं की? जबकि ज्यादातर अंग्रेज अफसरों की कुटिल मानसिकता को खुली किताब की तरह पढ़ा जा सकता था। जो दंगों की आग को बुझाने के बजाय मुसलिम लीग को ढाल बनाकर उसमें घी डालने का काम कर रहे थे। उन अधिकारियों में एक नाम सर फ्रांसिस मूडी था, जो कि पंजाब प्रांत का गवर्नर था। दूसरा लॉर्ड इस्मे, जो कि ब्रिटिश हुकूमत का चीफ ऑफ स्टाफ था।[93] मुसलिम लीग के इरादे तो पहले से ही जगजाहिर थे।

फ्रांसिस मूडी ने जिन्ना को लिखा—"मैं तो सभी से कहता आ रहा हूँ कि सिक्ख पाकिस्तान के बाहर किस तरह जाते हैं? इसकी मुझे परवाह नहीं है, बड़ी बात है छुटकारा पा जाना।" धूर्त मूडी का ये बयान यह साबित करने के लिए काफी है कि वह सिक्खों को किसी भी कीमत पर पाकिस्तान से खदेड़ना चाहता था, ताकि मुसलमानों को सिक्खों की उपजाऊ भूमि मिल सके। अब लॉर्ड इस्मे की बात पर गौर करें। उसे सबसे ज्यादा दु:ख इस बात से था कि ब्रिटिश हुकूमत से हिंदुस्तान मुक्त हो रहा है। वह सारे प्रकरण का पटाक्षेप करके हुकूमत को हिंदुस्तानियों के हाथ सौंपकर जल्दी ही विलायत भाग जाना चाहता था। बँटवारे के दौरान जब सांप्रदायिक दंगों के कारण खून की नदियाँ बह गईं, मानवता शर्मसार हो गई, इससे भी वह शैतान जरा भी विचलित नहीं हुआ। उसने दंगे रोकने में रत्ती भर भी दिलचस्पी नहीं दिखाई।[94]

विभाजन टल सकता था या विभाजन रुक सकता था? इस सवाल का जवाब एक घटना से मिल सकता है। काबिले गौर बात है कि जिस मुहम्मद अली जिन्ना के हाथ में पाकिस्तान निर्माण की कुंजी थी, वह गंभीर तपेदिक का मरीज था, जो कि पाकिस्तान के निर्माण के एक वर्ष बाद ही चल बसा था। यदि नेहरू, पटेल सहित अन्य कांग्रेसियों ने थोड़ा धैर्य और संयम से काम लिया होता और किसी तरह एक वर्ष का समय व्यतीत हो गया होता तो विभाजन के लिए जिम्मेदार मूल कारक ही अस्त हो गया होता और तब परिस्थितियों को अनुकूल बनाना काफी आसान हो जाता। इन हालात में बहुत मुमकिन था कि विभाजन रुक भी सकता था। टलना तो अवश्यंभावी था। अगर ऐसा हो जाता तो दस लाख लोगों की नृशंष हत्या रोकी जा सकती थी और दो करोड़ लोगों को अपाहिज व बेघर होने से रोका जा सकता था। कहना न होगा कि इस प्रकरण में ब्रिटिश हुक्मरानों ने बेहद गैर-जिम्मेदार व अमानवीय भूमिका अदा की। वह तो जैसे अपनी हार स्वीकार कर चुके थे और जाते-जाते भारत का ज्यादा-से-ज्यादा नुकसान करके जाना चाहते थे। इसीलिए वह बस औपचारिकता निभा रहे थे।

कुछ और घटनाओं पर प्रकाश डालें तो साफ दिखता है कि ब्रिटिश हुकूमत ने आजादी सौंपने के बाद संभावित घटनाओं से निपटने के लिए जानबूझकर कोई तैयारी नहीं की थी। जून 1948 में आजादी की तिथि मुकर्रर की गई थी। तो फिर दस महीने पहले 15 अगस्त, 1947 को आजादी क्यों दी गई? जिन्ना की प्रत्यक्ष काररवाई में कलकत्ता सहित बिहार में कड़े तनावपूर्ण माहौल से निपटने के लिए कोई तैयारी क्यों नहीं की गई? बँटवारे की घोषणा मई 1947 में कर दी गई, परंतु जून तक फौज बँटवारे की कोई ठोस योजना नहीं बना पाई। फिर भी बेहद तनावपूर्ण सांप्रदायिक माहौल में आनन-फानन महज सात सप्ताह में ही यह दुर्लभ से दुर्लभतम कार्य संपन्न कराया गया।

प्रोफेसर बिपिन चंद्र के शब्दों में—"सांप्रदायिकता एक विचारधारा है, जिसे कभी भी स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए, इसके साथ संघर्ष करना चाहिए और इसका विरोध करना चाहिए। कांग्रेस की सबसे बड़ी कमजोरी थी, वह ऐसा नहीं कर सकी। कांग्रेस की दूसरी सबसे बड़ी कमजोरी थी कि वह सांप्रदायिकता के चरित्र को समझ नहीं

सकी। कांग्रेस मुसलिम लीग को रियायतें दे-देकर समझती रही कि ऐसा करने से बँटवारे के मसले को हल किया जा सकता है और जिन्ना इसको कांग्रेस की कमजोरी मानकर नित नई-नई माँगों का पिटारा खोलते चले गए। इन रियायतों से सांप्रदायिकता कमजोर नहीं हुई, बल्कि उसमें और इजाफा हो गया। उधर जिन्ना की कूटनीतिक सफलता से कल तक मुसलिम लीग को ज्यादा महत्त्व न देने वाला मुसलिम समुदाय तेजी से लीग के साथ जुड़ता चला गया।"[95]

विभाजन के लिए दोनों देशों के बीच सीमा रेखा तय करने के लिए जिस कमीशन का गठन हुआ, वह बाउंड्री कमीशन भी जून के अंतिम माह में आनन-फानन बनाया गया।[96] कई प्रदेशों के ऐसे हिस्से थे, जिनमें जिन्ना और कांग्रेस दोनों के दावे थे। वहाँ की जनता भय और आशंका के माहौल में थी। उसे आजादी के अंतिम समय तक पता ही नहीं था कि वे किस देश के नागरिक होंगे। अनेक ऐसी गलतियाँ थीं, जो तत्कालीन ब्रिटिश हुक्मरानों ने की थीं। ये ऐसी गलतियाँ थीं, जिनसे थोड़ी सी सावधानी के बाद बचा जा सकता था। अब सवाल यह उठता है कि आखिर ब्रिटिश अफसरों ने ऐसी असावधानी क्यों बरती। इसका जवाब यह है कि ब्रिटिश अफसर उस हिंदुस्तानी साम्राज्य के मोह से खुद को अलग नहीं कर पाए थे, जहाँ उन्होंने लगभग 250 वर्ष तक राज्य किया। अब जबकि परिस्थितियाँ ऐसी बन चुकी थीं कि उन्हें अपनी सत्ता स्वदेशी लोगों के हाथ में सौंपनी थी तो वे इस कार्य को जिम्मेदारीपूर्वक नहीं, बल्कि प्रतिशोधात्मक ढंग से करना चाहते थे। उनके इस रवैये ने लाखों निर्दोष लोगों को अकाल मौत के मुँह में ढकेल दिया। इस्मे और मूडी जैसे कई ब्रिटिश अफसरों ने मुसलमानों की तरफदारी करके स्थिति कोढ़ में खाज जैसी बना दी।

ब्रिटिश भारत में अंग्रेजों ने घोषित रूप से सबसे पहले 1909 में मार्ले-मिंटो सुधार के जरिए सांप्रदायिकता के विष का बीजारोपण किया था। इस अधिनियम के तहत मुसलिमों के लिए पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था की गई थी। यह एक तरह से विधान परिषद् चुनाव में मुसलिमों को सुनिश्चित चुने जाने के लिए व्यवस्था की गई थी। यद्यपि इसके पहले 18वीं शताब्दी में प्रिंसीपल थियोडर बैंक जैसे अंग्रेजों ने हिंदू-मुसलिम एकता के प्रबल पक्षधर सर सैयद अहमद को सांप्रदायिक बनाने में सफलता हासिल की थी। 1909 का अधिनियम सांप्रदायिकता का ऐसा अंकुर बना, जिसे आधार बनाकर अंग्रेजी सरकार ने मुसलिम कट्टरपंथियों के दबाव में उत्तरोत्तर 1919 से 1935 तक के अधिनियमों में सांप्रदायिकता का विस्तार किया। जब मुसलिम लीग और अन्य मुसलिम कट्टरपंथियों ने यह समझ लिया कि कांग्रेस की लचर नीति और ब्रिटिश सरकार की स्वीकारोक्ति के चलते उनसे अतिरक्ति माँगें भी मनवाई जा सकती हैं। इसी मानसिकता के तहत अलग देश की माँग शुरू हो गई, जिसकी परिणति भारत विभाजन में हुई। यह कैसा दुर्भाग्य है कि भारत आजाद हो जाने के बाद आज की कांग्रेस महज मुसलिम वोट बैंक की चाहत में ब्रिटिश सरकार के समय की नीतियों को तिलांजलि नहीं दे पाई है। वर्तमान कांग्रेस ने भी तुष्टीकरण की गहरी खाई खोदकर मुसलिम सांप्रदायिकता बढ़ाने वाली प्रणाली मजबूती से अपनाई हुई है। तत्कालीन भारतीय सचिव मार्ले तथा वायसराय मिंटो, जिनके कुकृत्यों से भारतीय जनमानस में सांप्रदायिकता का ऐसा जहर फैला कि दो समुदायों के लोग आपस में शत्रु बन गए और लाखों लोगों की जानें चली गईं।

मार्ले तथा वायसराय मिंटो ने ऐसा क्यों किया? क्या उन्होंने स्वाभाविक प्रक्रिया के तहत किया? क्या तत्कालीन ब्रिटिश भारत में इसकी जरूरत थी? उपरोक्त दोनों उच्च ब्रिटिश अधिकारियों की मानसिकता के सूक्ष्म विश्लेषण की आवश्यकता है। मार्ले जो बुद्धिमान दार्शनिक एवं सुधारवादी था, परंतु भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का अंतिम समय तक पक्षधर था। वह ऐसी किसी भी नीति का विरोधी था, जो भारतीय समाज के लिए प्रबल हितकारक हो,

परंतु अंग्रेजों के लिए थोड़ी भी प्रतिकूल हो। अतएव निस्संकोच कहा जा सकता है कि मार्ले साम्राज्यवादी व्यक्ति था। सैद्धांतिक रूप से उसका दृढ़ विश्वास था कि हिंदू और मुसलिम दो विपरीत ध्रुव हैं, जो कभी एक नहीं हो सकते। अब हम मार्ले के कुछ अन्य वक्तव्यों पर गौर करेंगे।

मार्ले ने स्वयं स्वीकार किया कि मैं पाश्चात्य व्यक्ति हूँ पौर्वत्य नहीं, लेकिन यह रहस्य आप किसी पर उजागर मत करना, वरना मैं बरबाद हो जाऊँगा। मैं समझता हूँ कि मुसलमानों को मैं पसंद करता हूँ, लेकिन पूर्व दिशा में मैं इससे ज्यादा आगे नहीं जा सकता।[97]

लेखक बुकन कहते हैं कि मार्ले को सभी काली जातियों से घृणा थी और उन जातियों की मनोदशा तथा विचारों को समझने योग्य कल्पनाशीलता और दूरदृष्टि का उसमें सर्वथा अभाव था।[98]

मार्ले के मस्तिष्क में यह धारणा मजबूती से जमी थी कि भारत के दो प्रमुख संप्रदायों मुसलिमों और हिंदुओं के बीच मौजूद खाई को कभी पाटा नहीं जा सकता।

भारतीय परिषद् के द्वितीय वाचन के दौरान उन्होंने लॉर्डसभा में अपने भाषण में कहा कि हमें यह नहीं भूलना चाहिए हिंदुओं और मुसलमानों में मतभेद धार्मिक विश्वासों को लेकर ही नहीं हैं, बल्कि यह मतभेद उनके जीवन, उनकी परंपराएँ, इतिहास, सामाजिक तथा आस्थागत विश्वास को लेकर है। वस्तुत: वे सभी उपादान, जो किसी समुदाय के अस्तित्व की बुनियाद होते हैं, एक-दूसरे से नितांत भिन्न हैं।[99]

मार्ले ने मुसलिम लीग की स्थापना का स्वागत किया, हालाँकि वह राजनैतिक लाभ के लिए स्थापित एक विशुद्ध सांप्रदायिक संगठन था। मार्ले ने मुसलिम लीग का कांग्रेस के विरोधस्वरूप अभिनंदन किया।

लॉर्ड सभा में बहस के दौरान मार्च 1909 में वाल्फोर ने सदन को बताया कि मेरी समझ से मार्ले का विचार है कि भारत न केवल प्रतिनिधित्वपूर्ण सरकार के लिए अयोग्य है, लेकिन मैं उन्हें गलत नहीं समझ रहा हूँ तो यह कल्पना भी कर सकना असंभव है कि भविष्य में यह कभी भी पूर्णत: योग्य हो सकेगा।[100]

वाल्फोर के उपयुक्त वक्तव्यों को सुनने के बाद वहाँ मौजूद मार्ले ने इसकी पुष्टि करते हुए कहा था कि वह बिल्कुल ठीक कह रहे हैं।[101]

मार्ले ने खुले मन से स्वीकार किया कि मुसलिम समुदाय को गवर्नर जनरल की परिषद् में तथा प्रांतीय विधान मंडलों में अपनी संख्या तथा ऐतिहासिक और राजनैतिक महत्त्व के उपयुक्त पृथक् प्रतिनिधित्व प्राप्त करने का अधिकार है।[102]

मार्ले ने बंबई के तत्कालीन गवर्नर लैमिंग्टन को लिखे एक पत्र में कहा, "यह सही है कि उन्होंने राष्ट्रीय स्वायत्तता, स्वशासित, उपनिवेश आदि की शब्दावली का प्रयोग किया है; लेकिन मैं इन्हें उनके द्वारा केवल समय बिताने के लिए या अपना दामन पाक रखने के लिए प्रयुक्त शब्दावलियाँ ही मानता हूँ। मैंने कांग्रेस और गोखले से कई बार बातचीत की और वे मेरी और आपकी तरह जानते हैं कि आज के दिन भारत को स्वशासित उपनिवेश बना दिए जाने की आशा करना बेहूदी बात है और ऐसा कोई प्रयास नहीं किया जाएगा।"[103]

1907 के बजट भाषण में उन्होंने कहा कि जहाँ तक मेरी कल्पना जाती है—भारत लंबे समय तक निरंकुश और व्यक्तिगत शासन के अंतर्गत रहेगा।[104]

21 अक्तूबर, 1907 को अपने निर्वाचकों को संबोधित एक भाषण में उन्होंने इस विचार की तीखी आलोचना की कि स्वशासन के मामले में जो बातें कनाडा के संदर्भ में ठीक हैं, वह भारत के संबंध में भी उचित हैं…और कहा कि यह निहायत खतरनाक भ्रांति है और मेरे विचार से सबसे अधिक खोखली भी। इससे अधिक भौंड़ा और

खतरनाक मजाक क्या हो सकता है।[105]

सुधारों के दौरान लॉर्ड सभा में मार्ले ने 17 दिसंबर, 1908 को सदस्यों को आश्वासन दिया कि अगर मेरी मंशा भारत में संसदीय पद्धति को स्थापित करने की होती अथवा यह कहा जा सकता कि सुधारों का यह अध्याय प्रत्यक्षत: या अनिवार्यत: भारत में संसदीय पद्धति की स्थापना करेगा तो कम-से-कम मुझे इससे कुछ भी लेना-देना न होता। भारत में संसदीय पद्धति वह लक्ष्य नहीं है, जिसकी आकांक्षा मैं क्षण भर के लिए भी करना चाहूँगा।[106] भारत में सुधारों की चर्चा तत्कालीन ब्रिटिश के समाचार-पत्रों में सुर्खियाँ बनी हुई थी।

युवा नेहरू उस समय ब्रिटेन में शिक्षा ग्रहण कर रहे थे। एक समाचार-पत्र में जिस तरह स्वशासन के बारे में लिखा गया उससे बुद्धिमान अंग्रेजों की मानसिकता का पता लगता है। जवाहरलाल ने अपने पिता मोतीलाल नेहरू को सैटरडे रिव्यू में छपे लेख का विवरण बताकर कहा कि भारत को स्वशासन तो मिलकर रहेगा, लेकिन और यही एक कठिनाई है कि ऐसा कल्प कल्पांतर से पहले नहीं हो पाएगा। खास दिक्कत यह है कि भारतीय श्रेष्ठ शिक्षित नहीं हैं और औपनिवेशिक स्तर की शिक्षा उन्हें देते करोड़ों वर्ष तो लगेंगे ही।[107]

अब जरा तत्कालीन वायसराय मिंटो के विचारों पर गौर कीजिए। मिंटो ने गोपालकृष्ण गोखले के स्वराज्य की माँग पर कहा कि गोखले जिस ढंग का स्वराज्य चाहते हैं, वह अराजकता के सिवाय और कुछ नहीं है। मिंटो ने पूछा क्या जनता को विपिन चंद्र पाल जैसे व्यक्तियों के झुंड को सौंप देना होगा। वह नहीं सोच पाते कि कांग्रेस में ऐसी क्षमता नहीं है कि वह भारत सरकार में शामिल हो सके।[108]

मिंटो, मार्ले की तरह सुधारों के पक्षपाती नहीं थे। मिंटो का कहना था कि हम राज के लिए उतने ही दृढ़ निश्चय के साथ लड़ेंगे, जैसे पहले लड़ चुके हैं और हम पहले की तरह फिर विजयी बनेंगे।[109]

21 मार्च, 1907 को जो दस्तावेज भारत सरकार ने भारतीय मंत्री को भेजा उसके साथ संलग्न पत्र में मिंटो ने सुधारों के विषय में अपने विचार स्पष्ट कर लिखा—"मैं भारत में प्रतिनिधि सरकार का हिमायती नहीं हूँ। वह एक पाश्चात्य आपात होगा, जो पूर्वी रुचि के अनुकूल नहीं होगा। भारत सरकार को निरंकुश बना रहना चाहिए। प्रभुसत्ता ब्रिटेन के हाथों में रहनी चाहिए और उसे किसी भी प्रकार की प्रतिनिधि सभा को सौंपा नहीं जा सकता।"[110]

मिंटो का कहना था कि अधिनायकवाद को तभी बनाए रखा जा सकता है, जब उस दल का दमन किया जाए, जो स्वशासन की माँग करता है और अभिजात्य वर्ग के लोगों तथा नरम विचार वालों को खुश रखा जाए। क्योंकि वे सरकार के साथ रहेंगे और शक्ति संतुलन के किसी स्थानांतरण में अपनी भारतीय संस्थाओं के और अधिक लोकतांत्रिक करण का विरोध करेंगे।[111]

इसी शक्ति संतुलन की आवश्यकता और कांग्रेस के स्वराज्य आंदोलन को कमजोर करने के लिए मिंटो को सांप्रदायिक बीजारोपण करने का विचार आया और उसने इसे ब्रिटिश राज्य के लिए सुरक्षा कवच के रूप में प्रयोग किया, जिसकी परिणति मुसलमानों के पृथक् निर्वाचन व्यवस्था से लागू हुई।

मिंटो ने सोचा ब्रिटिश हुकूमत को सशक्त तरीके से चलाने के लिए हिंदुओं और मुसलमानों के बीच मौजदा खाई में और वृद्धि की जाए। इसके लिए मुसलमानों को अतिरिक्त सहूलियतें देकर मुसलमानों का समर्थन हासिल किया जाए और कांग्रेस से मुसलमानों को जुड़ने न दिया जाए।

मिंटो ने 1 अक्तूबर, 1906 को ही मुसलिम प्रतिनिधि मंडल को आश्वासन दे दिया था कि वे मुसलिमों को उनकी जनसंख्या के आधार पर विधान परिषदों में प्रतिनिधित्व देने के पक्ष में हैं। इतना ही नहीं, मुसलिमों का राजनैतिक दृष्टि से इस वजह से भी, क्योंकि उन्होंने ब्रिटिश साम्राज्य के हित के लिए बहुमूल्य योगदान दिया है।[112]

मार्ले-मिंटो की कुत्सित नीति और भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के लंबे कालखंड की चाह में राष्ट्रोन्मुख तत्कालीन भारत में सांप्रदायिकता के जहर का प्रवेश करा दिया गया।

इतिहासकार ताराचंद के शब्दों में—"राष्ट्रवाद के गढ़ में सांप्रदायिकता के धोखेबाज ट्रोजन घोड़े का धीरे-धीरे प्रवेश कराया गया। उसने गढ़ में दो टुकड़े करने में सफलता पाई, लेकिन किस कीमत पर? 40 वर्ष से भी कम समय में एक ओर तो भारत की अखंडता समाप्त हुई, दूसरी ओर अंग्रेजी साम्राज्य का ढाँचा भी ढह गया, जिसके स्थायित्व के लिए सांप्रदायिकता की पीठ ठोकी गई थी।[113]अंग्रेज हुक्मरानों ने मुसलिमों के जेहन में हिंदुओं के बहुमत का हौवा खड़ा किया गया। मुसलिमों को उकसाया कि वे अपने अधिकारों की पैरवी स्वयं करें। यद्यपि मार्ले सुधारवादी थे। पृथक् निर्वाचन के पक्षधर भी नहीं थे, परंतु मिंटो द्वारा मुसलिमों के आक्रोश का भय दिखाया गया, जिससे मार्ले भयभीत हो गए। उन्होंने पृथक् निर्वाचक मंडल को मूलरूप में ही स्वीकार कर लिया। ब्रिटिश अधिकारियों का बहुमत इस पक्ष में था कि अंग्रेजी राज्य को अक्षुण रखने के लिए मुसलिमों का समर्थन लिया जाए वह भी हिंदुओं से मुसलिमों के बीच शत्रुता बढ़ाकर। इसी नीति पर ब्रिटिश राज्य चल पड़ा, जिससे भारतीय राष्ट्रवाद को अपूर्णनीय क्षति पहुँची। हालाँकि ब्रिटिश राज्य का यह कदम कई मायनों में आत्मघाती सिद्ध हुआ। इस प्रकार मार्ले-मिंटो सुधार ने, जो मतभेद पैदा किए थे, वे कभी दूर नहीं हुए। भारत के विभाजन की कीमत पर भी नहीं।

उच्च वर्ग में मुसलमानों के ब्रिटिश राज्य अधिकारियों से लगातार होते विचार विनमय और संरक्षण के आश्वासन पर मुसलिमों के उच्च वर्ग में सक्रिय अधिकारों को प्राप्त करने की चेष्टा जाग्रत् हो गई। ब्रिटिश हुक्मरानों ने कांग्रेस का विरोध करने के ऐवज में उच्च वर्ग के मुसलिमों को खूब उकसाया। उनसे कहा गया कि वे संगठित होकर ब्रिटिश राज्य से अपने अधिकारों में वृद्धि की माँग करें। उनकी माँगों को ब्रिटिश राज्य की राजभक्ति के बदले पुरस्कृत करेगा। यहाँ मजेदार बात यह थी कि इंग्लैंड में शासन राज्य में धर्म का प्रवेश अर्थात् चर्च का हस्तक्षेप रोका जा रहा था, परंतु इसी दौरान भारत में इसके ठीक विपरीत राजनीति में धर्म के प्रवेश पर सोची समझी कुत्सित मानसिकता के तहत मुसलिम पक्षपाती होकर किया जा रहा था। एम.ए.ओ. कॉलेज अलीगढ़ के प्रिंसिपल आर्थबोल्ड के सुझाव पर आगा खाँ के नेतृत्व में मुसलिमों का प्रतिनिधि मंडल अक्तूबर 1906 में शिमला में जाकर लॉर्ड मिंटो से मिला। ब्रिटिश राज्य के भारत के सभी अफसर यहाँ तक कि भारतीय राज्य सचिव से लेकर जिला प्रशासक तक के सभी पदाधिकारी इस बात पर तुले हुए थे कि यदि भारत में अंग्रेजी राज्य को बनाए रखना है तो कांग्रेस की बढ़ती शक्ति का कोई-न-कोई प्रतिकार ढूँढ़ना ही पड़ेगा।[114]

ऐसा प्रतिकार जिसमें सांप्रदायिक पृथक् चुनाव मंडल के अतिरिक्त मुसलमानों के लिए पृथक् रूप में आरक्षण और उनके चुनाव में केवल मुसलिम मतदाता ही भाग ले सकें। प्रतिनिधि मंडल का मसौदा प्रिंसिपल आर्थबोल्ड ने स्वयं तैयार किया था। सरकार और प्रतिनिधि मंडल के बीच बिचौलिए की भूमिका भी इसी प्रिंसिपल ने निभाई थी। यहाँ तक कि स्वीकृत का प्रबंध भी इसी शिक्षक ने कराया था। प्रतिनिधि मंडल के लोगों ने अंग्रेजी क्राउन के प्रति राजभक्ति की भावना प्रगट की और उनके सुधारों की भी प्रशंसा की। परंतु उन्होंने चुनावों में अपनी शंका व्यक्त की कि संयुक्त चुनाव प्रणाली उनके हितों में नहीं होगी। प्रार्थियों ने यह भी कहा कि मुसलमानों को केवल जनसंख्या के आधार पर स्थानों का आरक्षण नहीं मिलना चाहिए। बल्कि यह उनके राजनैतिक महत्त्व और साम्राज्य की रक्षा में की गई सेवाओं के आधार पर मिलना चाहिए। लॉर्ड मिंटो ने इस प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। इस पर लॉर्ड मार्ले ने मिंटो की पीठ थपथपाई और लिखा आपका आवेदन-पत्र बहुत उत्तम था। यहाँ इसकी लोगों और समाचार-पत्रों

में बहुत प्रशंसा की गई है।"[115]

शिमला सम्मेलन के दौरान ही सांगठनिक सफलता का परिणाम मुसलमानों में देखने को मिला। बोनस में अंग्रेजों का संरक्षण भी। मुसलिमों के अंदर विचार आया, क्यों न एक ऐसी सभा का गठन किया जाए, जो अंग्रेजी राज्य की हिमायती हो तथा इसके बदले में मुसलिमों को ज्यादा-से-ज्यादा सहूलियतें पाने की कोशिश की जाए।

30 दिसंबर, 1906 को उदय हुआ विशुद्ध सांप्रदायिक संगठन मुसलिम लीग इसी का परिणाम था। जो मुसलिमों का हितैषी होने के साथ-साथ ब्रिटिश राज्य का भी भारत में हिमायती था। इस संगठन का मुख्य उद्देश्य कांग्रेस का मुखर विरोध करना था। मुसलिम लीग के वरिष्ठ नेता वकार-उल-मुल्क ने अलीगढ़ में दिए अपने एक भाषण में कहा, "अल्लाह न करे, यदि अंग्रेजी राज्य भारत में समाप्त हो जाए तो हिंदू हम पर राज्य करेंगे और हमारी जान, माल और हमारा धर्म खतरे में पड़ जाएगा। मुसलमानों के सामने इस खतरे से बचने का केवल एक ही मार्ग है, वह ये कि वे अंग्रेजी राज्य की सहायता करें। यदि मुसलमान पूरे मन से अंग्रेजों के साथ रहेंगे तो उनका राज्य पूर्ण रूप से बना रहेगा। मुसलमानों को अपने आपको अंग्रेजी सेना समझना चाहिए, जो ब्रिटिश क्राउन के लिए अपना रक्त बहाने और जीवन अर्पण करने को तैयार है।"[116]

अब जरा इस तथ्य पर गौर करें कि क्या वास्तव में मुसलिमों का जनसंख्या के अनुपात में सरकारी नौकरियों, विधान परिषदों, जिला बोर्डों और नगर पालिका बोर्डों में प्रतिनिधित्व कम था अथवा काल्पनिक समस्या पैदा की गई थी। 1835 में ब्रिटिश सरकार ने पश्चिमी ढंग की शिक्षा को प्रोत्साहित करने का फैसला किया। साथ ही अंग्रेजी शिक्षित लोगों को उच्च नौकरियाँ देने का फैसला किया। मुसलमानों को उनके समाज के धार्मिक नेताओं ने पाश्चात्य शिक्षा के द्वारा लाभ उठाने की मनाही की। परिणामत: मुसलमानों का सरकारी सेवाओं में प्रवेश कम हुआ। 1837 में सरकार ने अदालती भाषा में फारसी की जगह अंग्रेजी को अनिवार्य बना दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रशासन में मौजूद फारसी के ज्ञाता मुसलमानों को नौकरियों से हाथ धोना पड़ा।[117]

1900-01 और 1901-1902 में पश्चिमोत्तर प्रांत था। म्यूनिसिपल बोर्डों में विभिन्न संप्रदायों का प्रतिनिधित्व करता था। वह निम्नलिखित तालिका के अनुसार था।[118]

	1900-01	1901-02
कुल प्रतिनिधि	1392	1399
हिंदू	741	743
मुसलमान	381	384
अन्य	270	272

स्रोत-51 : (भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास लेखक—ताराचंद, पृ.-420)

1909 में कुल आबादी के अंतर्गत 14 प्रतिशत मुलसमान थे और 84 प्रतिशत हिंदू, फिर भी जिला बोर्डों में मुसलिम निर्वाचकों का प्रतिशत कुल निर्वाचकों का 23 प्रतिशत तथा 45 में से 29 जिलों में मुसलमान सदस्यों के अनुपात से अधिक था। जिला बोर्डों की कुल सदस्य संख्या 663 थी, जिसमें 445 हिंदू थे और 189 अर्थात् 28.5 प्रतिशत सरकारी सदस्यों के अलावा मुसलमान थे। म्यूनिसिपल बोर्डों में 562 हिंदू थे और 310 अथवा 32.1 प्रतिशत मुसलमान। हेवेट का निष्कर्ष था कि यह मानते हुए भी कि मुसलमानों को आनुपातिक दृष्टि से हिंदुओं की अपेक्षा अधिक प्रतिनिधित्व मिलना चाहिए। यह नहीं कहा जा सकता कि वर्तमान प्रणाली से उन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। उपरोक्त विवरण विशन नारायन, जिन्होंने कलकत्ता में 26वें कांग्रेस सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण के दौरान दिया, वे अंग्रेज अधिकारी के उस कथन पर विवेचना कर रहे थे, जिसमें कहा गया था कि मुसलमानों को विभिन्न सरकारी संस्थानों में जनसंख्या के अनुसार प्रतिनिधित्व नहीं मिल रहा।[119]

1911 में जिला बोर्डों में 116 हिंदू और 67 मुसलिम निर्वाचित हुए थे, तथा 10 हिंदू और 2 मनोनीत मुसलिम सदस्य थे। म्यूनिसिपल बोर्डों में 207 हिंदू और 89 निर्वाचित मुसलिम तथा 36 हिंदू और 36 मुसलिम मनोनीत सदस्य थे। उपरोक्त सांख्यिकी विश्लेषण से स्पष्ट है कि स्थानीय निकायों में भारत भर में मुसलमानों के साथ कतई भेदभाव नहीं हो रहा था, बल्कि मुसलमानों का इन संस्थाओं में प्रतिनिधित्व अपनी जनसंख्या से कहीं ज्यादा था। विधान परिषदों के प्रतिनिधित्व के बारे में हम बात करें तो विधान परिषदों का गठन 1892 के परिषद् कानून के आधार पर किया गया था। उस कानून में प्रांत संबंधी प्रावधान यह था कि कुछ गैर-सरकारी सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत होते थे, जबकि अन्यों की सिफारिश स्थानीय संस्थाएँ या निगम, धार्मिक समुदाय, म्यूनिसिपैलिरिया, विश्वविद्यालय, वाणिज्य मंडल आदि करते थे, लेकिन परिषद् के अधिकांश सदस्य सरकारी होते थे। अत: स्पष्ट है कि सांप्रदायिक आग्रह से चुनाव होना संभव ही नहीं था।

उपरोक्त वर्णित संस्थाओं की चयन प्रक्रिया में ज्यादातर शक्ति सरकार के हाथों में निहित थी, परंतु मुसलिम नेताओं ने सरकारी सेवाओं में मुसलिमों की कमी के लिए हिंदुओं को दोषी ठहराया। जबकि नौकरियों के चयन में योग्यता, वर्गीकरण आदि का नियंत्रण सबकुछ ब्रिटिश सरकार के हाथों में था। इतना अवश्य था कि आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा का तिरस्कार करने से मुसलमानों की भागीदारी सरकारी नौकरियों में स्वत: कम होने लगी थी। दूसरा कारण यह भी था कि 1857 के गदर के बाद अंग्रेजी हुकूमत ने मुसलमानों को नौकरियों में पहले जैसे अवसर देना बंद कर दिया था। क्योंकि अंग्रेज अफसर मानने लगे थे कि मुसलिमों के नेतृत्व में ही विद्रोह हुआ था, जिसके कारण वे मुसलिमों पर शक करने लगे थे। ज्यादातर विद्रोह स्थलों के क्षेत्र और शासक मुसलिम राज्य थे। दिल्ली से बिहार तक कुछ एक स्थान जैसे झाँसी, बिठूर, कानपुर को छोड़कर। इसके बावजूद भी सैनिक विभाग में 1857 के बाद भी हिंदुओं से ज्यादा मुसलमानों का प्रतिशत था।

1900 में लॉर्ड कर्जन की जाँच में पाए गए आँकड़े	हिंदू	मुसलमान
देशी सेना	90,500	48,500
शाही सेना के अंतर्गत सैनिक	11,500	5,000
लामबंदी और सैनिक पुलिस	14,500	9,500
कुल	**116,500**	**63,500**

उपरोक्त आँकड़े सिद्ध करते हैं कि मुसलमानों के साथ कहीं भी भेदभाव नहीं हो रहा था। इसके विपरीत मुसलमानों का वर्चस्व ब्रिटिश सरकार में अपनी जनसंख्या अनुपात से कहीं ज्यादा था। फिर भी मुसलमानों की तरफ से पृथक् निर्वाचन की माँग आखिर क्यों उठी? स्पष्ट है कि सांप्रदायिकता का बीज मुसलिमों के दिलो-दिमाग में तो था, परंतु इसे खाद पानी देकर अंग्रेजों ने पल्लवित, पुष्पित किया। अंग्रेजों ने मुसलिमों को कट्टरपंथ की ओर अग्रसर किया। अंग्रेजों ने संरक्षण भी उन्हीं मुसलमानों को दिया, जो कांग्रेस के धुर विरोधी हैं तथा अंग्रेजी राज्य के भक्त थे। इतना ही नहीं वायसराय मिंटो ने मात्र 35 पढ़े-लिखे कट्टर मुसलमानों को ही प्रतिनिधि मंडल के रूप में मान्यता दी। इसका एक ही कारण हो सकता है कि वायसराय अघोषित चेतावनी दे रहे थे कि उनका संरक्षण और संवर्धन उन्हीं मुसलमानों को है, जो सरकार की वफादारी करते हैं और कांग्रेस का विरोध करते हैं।

ब्रिटिश हुकूमत ने सुयोग्य मुसलमानों, जैसे इकबाल जो कि 'सारे जहाँ से अच्छा हिंदुस्ताँ हमारा' के प्रणेता थे, मुहम्मद अली जिन्ना, जिन्होंने कांग्रेस अध्यक्ष दादा भाई नौरोजी के सचिव के रूप में कार्य किया था, उनकी उपेक्षा की। यद्यपि बाद में ये राष्ट्रभक्त मुसलमान भी सांप्रदायिकता के सबसे बड़े सूत्रधार बन गए। मार्ले-मिंटो का सांप्रदायिक पृथक् निर्वाचन कानून लागू हो जाने के बाद हिंदू-मुसलिम एकता की सभी संभावनाएँ समाप्त हो गईं। इतिहासकार ताराचंद के शब्दों में—"हिंदुओं और मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन मंडलों की व्यवस्था से दोनों समुदायों को पारस्परिक दायित्व से वंचित कर दिया गया और उनके बीच समझौते की संभावना न्यूनतम हो गई।"[120]

मार्ले-मिंटो सुधारों पर गांधीजी ने कहा, "इस अधिनियम ने हमारा बहुत अहित किया। यदि इस समय पृथक् निर्वाचन की पद्धति को लागू न किया गया होता तो हम अपने आपसी मतभेदों को दूर कर लेते।"[121]

जवाहरलाल नेहरू ने इसका विरोध करते हुए लिखा—"इसके कारण भारत में राजनैतिक अवरोध उत्पन्न हो गए। मुसलमानों को शेष भारत से अलग कर दिया गया और जो एकीकरण की प्रक्रिया शताब्दियों से चल रही थी, वह उलट गई।"[122]शुरुआत में निर्वाचन मंडल छोटा था, परंतु आगे के अधिनियमों में यह धीरे-धीरे बढ़ता चला गया और उसके कारण हमारे समस्त राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक जीवन में सांप्रदायिकता का जहर फैल गया। नगरपालिकाओं से होकर स्थानीय संगठन विषाक्त होते गए और अंत में इसकी परिणति अखंड भारत के खंड-खंड होने में हुई। पृथक् निर्वाचक मंडल का शायद विस्तार न होता, यदि कांग्रेस इसके विरोध में मुखर हुई होती और लखनऊ समझौते में इसे स्वीकार न करती। इस समझौते से कांग्रेस का विरोध सदैव के लिए समाप्त हो गया और 1919 में मांटेग्यू चेम्सफोर्ड अधिनियम में इसका दायरा बढ़ा और विभाजन तक इसी सिद्धांत पर ब्रिटिश नीति कार्यान्वित होती रही। यहाँ सवाल यह है कि उदारवादी माने जानेवाले कांग्रेसी नेताओं ने लखनऊ में लीग के साथ

समझौते में पृथक् निर्वाचन को स्वीकार तो कर ही लिया, परंतु लोकमान्य तिलक जैसे उग्रपंथी नेता, जिन्हें लगभग सभी इतिहासकार हिंदूवादी कहते हैं तथा कुछ इतिहासकार तो तिलक पर हिंदू सांप्रदायिकता बढ़ाने का आरोप यह कहकर लगाते हैं कि 1993, 1995 में तिलक ने गणेश और शिवाजी महोत्सव महाराष्ट्र में शुरू कर हिंदू सांप्रदायिकता को बढ़ावा दिया था, परंतु तिलक ने एनी बेसेंट की मध्यस्थता के चलते लखनऊ समझौते में पृथक् निर्वाचन को खुले मन से स्वीकार कर लिया। तिलक और एनी बेसेंट अलग-अलग क्षेत्रों में उस समय होमरूल आंदोलन छेड़े हुए थे। तिलक ने आखिर ऐसा क्यों किया? शायद ये लोग मुसलिम लीग के ब्रिटिश विरोधी बयानों से भ्रमित हो गए थे। ये ब्रिटिश विरोधी बयान मुसलिम लीग के नेताओं के अचानक कांग्रेस के प्रति उमड़े प्रेम के कारण नहीं दिए थे, बल्कि 1912 में ब्रिटिश हुकूमत द्वारा बंगाल विभाजन रद्द करने के बाद उसके विरोधस्वरूप दिए थे।

1905 में बंगाल के विभाजन का वहाँ के मुसलमानों ने स्वागत किया। पूर्वी बंगाल में जहाँ-जहाँ मुसलमान बहुसंख्यक थे, वहाँ उन्होंने बंगाल विभाजन पर हर्ष व्यक्त किया। मुसलमानों का कहना था कि पश्चिमी बंगाल का शिक्षित उच्च हिंदू वर्ग सरकारी सेवाओं, वाणिज्य, शिक्षा और अच्छे पेशे पर अपना पूर्ण आधिपत्य रखे हुए था। इसलिए पूर्व बंगाल के मुसलमान यह समझते थे कि यह विभाजन उनके लिए वरदान है। इसलिए उनके नेताओं में एक नवीन उत्साह और आशा की भावना भर गई थी।[123]

यह कहना कि बंगाल विभाजन, अंग्रेजों की राजनैतिक चाल थी, भ्रामक और त्रुटिपूर्ण है। क्योंकि जब बंगाल विभाजन की समाप्ति की खबर मुसलमानों तक पहुँची तो उन्हें इससे बड़ी निराशा हुई। उनको लगा जैसे उन्हें अंग्रेजों ने धोखा दिया है।[124]

मुसलिम लीग के वरिष्ठ नेता विकार-उल-मुल्क ने बंगाल के विभाजन की समाप्ति पर दु:ख व्यक्त करते हुए कहा कि अब यह दोपहर के सूरज की तरह साफ हो गया कि हाल में जो कुछ हुआ, उसे देखने के लिए मुसलमानों से यह कहना व्यर्थ है कि वह सरकार के प्रति वफादार रहें।[125]

मुसलिम लीग के नेताओं ने ब्रिटिश हुकूमत के प्रति निराशा से नजरिया और नीति दोनों बदल डालीं। 1913 में लखनऊ में हुए लीग के अधिवेशन में उसके उद्देश्य को बदल दिया गया, अर्थात् ब्रिटिश राज्य के प्रति वफादारी की जगह ब्रिटिश राज्य के अंतर्गत स्वशासन कहना घोषित किया गया।

मुसलिम लीग ने 1916 में लखनऊ में कांग्रेस के साथ इसलिए मंच साझा किया कि उसका समान शत्रु के साथ सामना करने की रणनीति थी। कांग्रेस के प्रति लीग के परिवर्तित दृष्टिकोण से कांग्रेस का उदारवादी धड़ा ही नहीं, अपितु हिंदूवादी कहे जानेवाले तिलक जैसे अन्य कांग्रेसी नेता भी मुसलिम लीग के छिपे एजेंडे को नहीं समझ पाए। पृथक् निर्वाचन के मुद्दे पर 1907 में कांग्रेस ने सूरत अधिवेशन में तिलक के नेतृत्व में कांग्रेस का चरमपंथी गुट अलग हो गया था। एनी बेसेंट की मध्यस्थता के चलते 1916 में कांग्रेस के दोनों गुटों के साथ मुसलिम लीग ने मंच साझा किया। यहाँ तिलक सहित अन्य चरमपंथी कांग्रेसी नेताओं ने भी पृथक् निर्वाचन को स्वीकारने में संकोच नहीं किया। कुछ लोगों ने तिलक पर मुसलमानों के आगे बहुत ज्यादा झुकने का आरोप लगाया। इस आरोप के स्पष्टीकरण पर तिलक ने कहा, "मैं ऐसा कहते हुए निश्चय ही देश भर के हिंदुओं की भावनाओं को व्यक्त कर रहा हूँ कि बहुत ज्यादा झुकने का सवाल ही नहीं उठता। मुझे इस बात की परवाह नहीं है कि स्वराज्य का अधिकार मुसलिम समुदाय को दिया जाता है या किसी अन्य भारतीय समुदाय को। क्योंकि तब हमारा संघर्ष त्रिमुखी न होकर केवल उस समुदाय के साथ होता, जिसे उक्त अधिकार सौंपा जाता।[126]

यह अजीब दुर्भाग्य है, किंतु सत्य है कि यदि तिलक जैसे कद्दावर व्यक्ति ने पृथक् निर्वाचन का समर्थन न किया होता, तो कांग्रेस इस प्रस्ताव का शायद ही अनुमोदन कर पाती। हिंदुओं की बड़ी असहमति के बावजूद हिंदूवादी कहे जानेवाले तिलक के ही विशाल व्यक्तित्व के कारण पृथक् निर्वाचन की कांग्रेस स्वीकारोक्ति कर सकी।[127]

कहते हैं बड़े लोगों की गलतियाँ भी बड़ी और ऐतिहासिक दुष्प्रभाव वाली होती हैं। जिसके परिणाम भी बहुत बुरे होते हैं और बहुत दूर तक दिखते हैं। तिलक की यह ऐतिहासिक गलती भी यही सिद्ध करती है। यदि तिलक मुसलिमों के पृथक् निर्वाचन और अन्य सांप्रदायिक शर्ते स्वीकार नहीं करते तो सांप्रदायिक समझौतों पर कांग्रेस भविष्य में कभी आगे नहीं बढ़ पाती। जिससे कि कांग्रेस का सांप्रदायिकता के आगे निर्बाध झुकना शुरू नहीं होता और तब शायद 1919 का सांप्रदायिकता की वृद्धि वाले अधिनियम का निर्माण कभी नहीं हो पाता।

इतिहासकार ताराचंद ने कांग्रेस द्वारा लखनऊ समझौते में पृथक् निर्वाचन के स्वीकार कर लिए जाने पर जो टिप्पणी की, वह गौर करने के लायक है। उन्होंने कहा कि कांग्रेस ने लखनऊ समझौते में पृथक् निर्वाचन को स्वीकार कर लिया था, लेकिन इसके गंभीर परिणामों का आकलन करने में वह विफल रही। 1919 के कानून में उसे भारतीय संविधान में स्थान देकर मार्ले-मिंटो ने 1909 के दुष्कृत्य की पुष्टि कर दी, जिसके शोचनीय परिणाम उजागर हुए।[128]

यह कहना तर्कसंगत और न्यायसंगत होगा कि जो भूल महात्मा गांधी ने खिलाफत आंदोलन का समर्थन करके की थी, वैसी ही भूल तिलक ने पृथक् निर्वाचन का समर्थन करके की। दोनों भूलों ने ही सांप्रदायिकता की आग में घी डालने का काम किया। लखनऊ समझौते के प्रस्ताव कुछ इस प्रकार थे।

1. प्रांतीय परिषदों में मुसलमानों के लिए विशेष और अलग निर्वाचन व्यवस्था का अनुपात निम्नवत् होगा—

• पंजाब में 50 प्रतिशत, संयुक्त प्रांत में 30 प्रतिशत, बंगाल में 40 प्रतिशत, बिहार में 25 प्रतिशत, सेंट्रल प्राविसेज में 15 प्रतिशत, मद्रास में 15 प्रतिशत और बंबई में प्रतिशत।

• केंद्रीय सभा में कुल 150 सदस्य होने चाहिए। जिनमें 120 गैर-सरकारी सदस्य हों और निर्वाचित सदस्यों में से एक-तिहाई मुसलमान हों।

• किसी भी विधेयक या विधेयक के किसी भी निर्णय पर या किसी भी संकल्प में, जो कि गैर-सरकारी सदस्य द्वारा प्रस्तुत किया गया हो और जिसका असर अन्य संप्रदाय पर पड़ता हो, तब तक विचार नहीं हो सकेगा, जब तक प्रांतीय या केंद्रीय विधान मंडल में उस संप्रदाय के तीन-चौथाई सदस्य उस बिल निर्णय या संकल्प के विरुद्ध हों।

• रक्षा, वैदेशिक और राजनैतिक मामले-युद्ध शांति और संधि केंद्रीय सभा के अधिकतर क्षेत्र से बाहर माने जाएँगे।[129]

इतिहास के झरोखे से देखें तो भारत विभाजन की नींव 1909 के मार्ले-मिंटो सुधार से ही पड़ गई थी। मार्ले व वायसराय मिंटो का यह सुधार अधिनियम भारतीय समाज के लिए सबसे बड़ा दुर्भाग्य साबित हुआ। इस अधिनियम द्वारा विधान परिषदों में मुसलिमों के लिए पृथक् आरक्षण की व्यवस्था हुई। इसी अधिनियम से सांप्रदायिकता का मुखर बीजारोपण हुआ और इसी बीज के अंकुर से सांप्रदायिकता की विषबेल दिन दूनी रात चौगुनी पनपती चली गई। कांग्रेस जिसने प्रारंभ में इस अधिनियम का पुरजोर विरोध किया था, उसने आजादी हासिल करने के उतावलेपन में उसे लखनऊ के 1916 पैक्ट में उसी रूप में स्वीकार कर लिया। लखनऊ समझौते में ही मार्ले-मिंटो के पृथक् निर्वाचन अधिनियम को कांग्रेस के द्वारा स्वीकृति दे दी गई। यहीं से कांग्रेस के मुसलिम सांप्रदायिकता के आगे

घुटने टेकने का सिलसिला सही मायने में शुरू हुआ। इसी तुष्टीकरण और लचर रवैये के कारण बाद के 1919 के मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार तथा 1935 के प्रांतीय स्वायत्तता अधिनियम में सांप्रदायिक अधिकारों का विस्तार होता गया। तब तक 30 दिसंबर, 1906 में ढाका के नवाब तथा कट्टरपंथी नेताओं द्वारा मुसलिम लीग की स्थापना की जा चुकी थी, जो कि खुलेआम कांग्रेस के आंदोलनों का विरोध तथा अंग्रेजी शासन के प्रति स्वामिभक्ति का प्रदर्शन कर रही थी। मुसलिम लीग के गठन में सबसे बड़ी भूमिका सर सैयद अहमद खाँ तथा उनकी संस्था मुहम्मडन पैट्रियाटिक एसोसिएशन ने निभाई। पहले भी लिखा जा चुका है अपने आरंभिक काल में सर सैयद अहमद खाँ हिंदू-मुसलिम एकता के प्रबल समर्थक थे। उन्होंने हिंदू और मुसलिम को एक सुंदर वधू (भारत देश) की दो आँखें बताया था। जो सर सैयद कभी खुद को कहने में गुरेज नहीं करते थे, वे धर्म के मसले पर सबसे पहले सांप्रदायिक बनकर उभरे। उन्होंने सबसे पहले द्वि-राष्ट्रवाद की वकालत शुरू की। उन्होंने कहा कि भारत एक देश नहीं, बल्कि उप-महाद्वीप है। यहाँ की दो कौमें—हिंदू और मुसलमान कभी एक नहीं रह सकतीं। ब्रिटिश कर्मचारी सर सैयद हिंदी भाषा के भी विरोधी थे। बल्कि वे अंग्रेजी राज्य के समर्थक थे। उनका मानना था कि हिंदी अपनाने से मुसलमानों के अंदर इसलामिक संस्कृति सभ्यता का क्षरण होगा। उन्होंने कांग्रेस को हिंदू संस्था बताकर अपने समाज में प्रचार किया कि कांग्रेस के समर्थन से हिंदुओं के हाथ में सत्ता चली जाएगी। कांग्रेस की 1985 में स्थापना हुई, परंतु सर सैयद के बदले हुए विचारों से मुसलिम समाज में कांग्रेस के प्रति संदेह की खाई पैदा हो गई, जो कि विभाजन हो जाने तक निरंतर बनी रही। भ्रम की स्थिति गहरा जाने के उपरांत अधिकतर मुसलमान भारत विभाजन हो जाने तक कांग्रेस के आंदोलन से खुद को न जोड़ सका।

निर्वाचन का अलग अधिकार प्राप्त हो जाने के बाद मुसलिमों की माँग सुरसा के मुँह की तरह बढ़ना आरंभ हो गई। प्रथम विश्वयुद्ध में टर्की की पराजय तथा वहाँ के खलीफा अपदस्थ होने के बाद रूढ़िवादी भारतीय मुसलमान आशंकित होने लगे और वे सभी परिषदों में 50 प्रतिशत अलग आरक्षण की माँग करने लगे। हिंदू और मुसलिमों के बीच एकता की चाह को लेकर कांग्रेस ने गांधी के नेतृत्व में टर्की में खलीफा की सत्ता को स्थापित करने के लिए ब्रिटिश शासन के खिलाफ खिलाफत आंदोलन छेड़ने का फैसला किया।

गौरतलब है कि तुर्की के खलीफा को सारी दुनिया के मुसलिम उस वक्त अपना धर्म गुरु मानते थे। असहयोग आंदोलन के जरिए रौलट ऐक्ट के भी विरोध का फैसला किया गया। इस कृत्रिम एकता की चाह में गांधीजी ने धार्मिक कट्टरवाद का आंदोलन में प्रवेश करा दिया। इस आंदोलन में बड़ी संख्या में मुसलमानों की भागीदारी हुई। कांग्रेस ने आंदोलन शुरू करने से पहले पूरे देश में खिलाफत सभाएँ कीं। 1 अगस्त, 1920 को आंदोलन ब्रिटिश सरकार के भारी बहिष्कार के साथ पूरे देश में शुरू कर दिया। इसमें अच्छी जन भागीदारी हुई। हिंदुओं-मुसलमानों के बीच एकता दिखाई दी, परंतु यह एकता पूरी तरह खोखली थी। क्योंकि इस एकता का आधार एक वर्ग के धार्मिक पोषण पर आधारित था। आंदोलन के समाप्त होते ही यह एकता ताश के पत्तों की तरह बिखर गई। कई शहरों में दंगे शुरू हो गए। यहाँ आश्चर्य की बात यह थी, ये दंगे ब्रिटिश लोगों के खिलाफ न होकर हिंदुओं के खिलाफ थे। हिंदुओं पर जानलेवा हमले की काररवाइयाँ आरंभ हो गईं। केरल के मालावार तट पर अरबवंशी मोपला, जो एक हजार वर्ष पूर्व यहाँ आकर बसे थे, उन पर मौलवियों का बेहद असर था। वे कट्टर और धर्मांध थे। उन्होंने हिंदू पड़ोसियों पर आक्रमण कर भयंकर मार-काट शुरू कर दी। मोपलाओं ने हजारों हिंदुओं को मार डाला। बच्चों, महिलाओं को उनके अभिभावकों के सामने कत्ल किया गया। महिलाओं के साथ बलात्कार किया गया। सैकड़ों लड़कियों को जबरन इसलाम अपनाने पर विवश किया गया। मालावार की स्त्रियों का लेडी रीडिंग के

लिए, जो मैमोरियल दिया गया, उसका वृत्तांत दिल दहलाने वाला है। जीवित और अद्‌र्धजीवित व्यक्तियों से तालाब और कुएँ भर दिए गए। गर्भवती स्त्रियों के टुकड़े-टुकड़े कर दिए गए, जिससे उनके शिशु बाहर निकल आए। माता-पिताओं के सामने उनके अबोध शिशु काट डाले गए। बहनों और लड़कियों के साथ बलात्कार किए गए। हिंदू स्त्री-पुरुष जंगलों में भाग गए। इन घटनाओं का वर्णन अनेक अखबारों ने छापा जो और ज्यादा विस्तार से बयान करना संभव नहीं है।[130] क्योंकि हमारा उद्‌देश्य मोपलाओं की बर्बरता दिखाना नहीं है।

मोपला कहे जानेवाले इन धर्मांध मुसलमानों ने अमानवीयता में उन्हें गजनी और गोरी के समक्ष खड़ा कर दिया। स्थानीय निवासी सम्भास नैयर ने अपने बयान में तत्कालीन सरकारी अधिकारियों को बताया कि कुछ लोगों को पकड़कर उनसे उन्हीं की कब्रें खुदवाई गईं और फिर उन्हें कत्ल कर उन्हीं कब्रों में दफना दिया गया।[131]

मुसलिम समुदाय की बात छोड़ दें तो इतना सब हो जाने के बावजूद कांग्रेस के किसी बड़े नेता ने मोपलाओं की बर्बरता की भर्त्सना नहीं की। यह कांग्रेस की बेहयाई की इंतहा थी। सामान्य मुसलमानों ने तो ऐसी घटनाओं के अस्तित्व से ही इनकार कर दिया। इतना ही नहीं मोपलाओं के कुकृत्यों की निंदा करने की बजाय उन्हें बहादुर बताया। जबकि अंग्रेजी फौज ने मोपलाओं के विद्रोह को समाप्त करने के लिए भारी ताकत झोंकी, जिसमें 43 सैनिक मारे गए और मोपलाओं के खिलाफ दमनात्मक काररवाई में लगभग ढाई हजार मोपला भी मारे गए। बर्बर मोपलाओं के खिलाफ इस जवाबी काररवाई को अंग्रेजी फौज की गोरखा बटालियन ने अंजाम दिया था। इस अमानुषिक क्रियाकलाप पर खिलाफत कमेटी ने अजीबोगरीब प्रस्ताव पास किया। उस प्रस्ताव में मोपलाओं को उनके धार्मिक कार्यों के लिए धन्यवाद दिया गया। उन्हें धर्मयोद्‌धा कहा गया। गांधीजी ने भी मोपलाओं के इस कृत्य को यह कहकर सराहा कि मोपला अपने धर्म के लिए लड़ रहे थे।[132] गांधी के इस अकल्पनीय रूप ने तत्कालीन बुद्‌धिजीवियों को अवाक् कर दिया। 30 दिसंबर, 1921 को कांग्रेस अध्यक्ष हसरत मोहानी ने इलाहाबाद के अधिवेशन में मोपलाओं के कार्यों को उचित ठहराया। मुल्तान सहित देश के कई शहरों में खिलाफत आंदोलन के बाद तत्काल दंगे शुरू हो गए। लगभग सभी जगह मुसलिमों ने हिंदुओं पर आक्रमण किया। इतना सब होने के बावजूद किसी भी दल से भर्त्सना के कोई स्वर नहीं उठे। इसे धर्मांध कट्‌टरता कहें या फिर मुसलिम समुदाय का समर्थन। कांग्रेस सहित लगभग सभी दल मुसलिमों के आगे नतमस्तक दिखे। गांधीजी सहित सभी कांग्रेसी हिंदू-मुसलिम एकता बनाए रखने के लिए हिंदुओं के हितों की लगातार बलि दे रहे थे। मदन मोहन मालवीय, श्रद्‌धानंद सहित हिंदू महासभा तथा आर्य समाज के कुछ लोगों ने मुसलिम आक्रमणों की निंदा तो की, परंतु इनका प्रभाव कुछ ज्यादा नहीं था। वह कांग्रेस और ब्रिटिश हुकूमत पर दबाव नहीं बना सकते थे। अब सवाल यह उठता है गांधीजी जैसे दूरदृष्टि वाले व्यक्ति ने सांप्रदायिकता बढ़ाने वाला रवैया क्यों अख्तियार किया? गांधीजी ने मूल रूप से एक संप्रदाय को कांग्रेस के आंदोलन के साथ जोड़ने के लिए धार्मिक रवैया अपनाया। टर्की के अपदस्थ खलीफा, जिसका न तो टर्की में ही कोई धार्मिक महत्त्व था और न ही मुसलमानों की पवित्र भूमि अरब में। भारतीय मुसलमान जिसमें बहुसंख्यक मुसलमान अरबी नहीं थे, फिर भला भारतीय मुसलमानों के लिए खलीफा, धार्मिक विद्‌वान् से भी ज्यादा कैसे महत्त्व रख सकता था। गांधीजी ने यह समझने में भारी भूल की कि राजनीति से धार्मिक मसलों को जोड़ना कितना विस्फोटक हो सकता है। खासतौर पर उस संप्रदाय के लिए, जिसके लिए हर मसले से धर्म सर्वोपरि होता है। सभी हिंदुओं ने गांधीजी के विशाल सर्वग्राही व्यक्तित्व के कारण खिलाफत आंदोलन में बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। यह जानते हुए भी कि दूसरे संप्रदाय के धार्मिक मसलों का राजनैतिक आंदोलन से कोई लेना-देना नहीं था। गांधीजी समझते होंगे कि हम उस संप्रदाय के धर्म को महत्त्व देकर एकता कायम करने में उन्हें मदद मिलेगी और

ब्रिटिश सरकार के खिलाफ एक सशक्त मोर्चा तैयार करने में वे कामयाब हो जाएँगे। यह गांधीजी की गंभीर चूक थी। सांप्रदायिक दंगों के आँकड़े बताते हैं कि खिलाफत आंदोलन की समाप्ति के बाद मालावार तट समेत देश के कई शहरों में हुए सांप्रदायिक दंगों में भारी जान-माल का नुकसान हुआ। गांधीजी की सांप्रदायिक सद्भाव की यह कोशिश सांप्रदायिक विप्लव का कारण बनी। धार्मिक जोश खत्म होते ही बहुसंख्यक मुसलमान कांग्रेस से अलग हो गए और देश का विभाजन होने तक कांग्रेस के आंदोलन से अलग ही रहे। उन्होंने मुसलिम लीग का दामन थाम लिया, जो कि उनके धार्मिक और आर्थिक हितों को मुद्दा बनाए हुए थी। अबुल कलाम जैसे जो मुसलमान कांग्रेस से जुड़े हुए थे, उनका अपने समुदाय पर प्रभाव नहीं था। जहाँ तक अली बंधुओं शौकत अली तथा मुहम्मद अली के कांग्रेस से जुड़े रहने का मसला है, वे भी कांग्रेस के अंदर रहकर बेहिचक धार्मिक कट्टरता का राग अलापने से नहीं चूकते थे। हालात यह थे कि इन अली बंधुओं से घिरे रहने के कारण गांधीजी हिंदुओं के हितों की न्यायपूर्ण और तर्कसंगत बात भी नहीं कह पाते थे। अली बंधुओं ने गांधीजी पर मानसिक दबाव बनाए रखा कि मुसलिमों के हितों की माँगों पर अनदेखी से दोनों समुदायों की एकता बरकरार नहीं रह पाएगी। जबकि अली बंधु खुलेआम औचित्यहीन हिंदुओं को चोट पहुँचाने वाली बातें करने से तनिक भी परहेज नहीं करते थे।

गांधीजी ने हिंदू-मुसलिम एकता बनाए रखने की चाहत में मुसलिमों के पक्षपातपूर्ण रवैये का कभी विरोध नहीं किया। इस तथ्य पर विचार करना समीचीन होगा कि क्या सभी कांग्रेसी खिलाफत का समर्थन करने के लिए तैयार थे? तथ्य बताते हैं कि ऐसा नहीं था। सभी कांग्रेसी खिलाफत आंदोलन के तरफदार नहीं थे, लेकिन अगर उनकी तरफ से कोई विरोध के स्वर प्रत्यक्षत: नहीं उठे तो उसकी वजह केवल गांधी का विराट् व्यक्तित्व था। जिसने उनके विरोध को प्रकट होने से पहले से ही दबा दिया। ऐसे लोगों में तिलक और एनी बेसेंट का नाम लिया जा सकता है।

प्रो. रविंद्र कुमार के अनुसार, गांधीजी द्वारा तिलक को सत्याग्रह के सद्गुणों तथा खिलाफत के मुद्दे पर मुसलमान समुदाय के साथ मिलने के औचित्य को मनवाने के लिए काफी चेष्टा करनी पड़ी।

फिर भी तिलक को सत्याग्रह के राजनैतिक हथियार के रूप में इस्तेमाल होने में संदेह था। वे मुसलिम नेताओं के साथ धार्मिक समस्या पर संधि करने के पक्षधर नहीं थे।[133]

तिलक खिलाफत आंदोलन शुरू होने पर क्या रुख अपनाते यह उनके दृष्टिकोण पर निर्भर था, परंतु दुर्भाग्यवश वह पहले ही चल बसे। खिलाफत का विरोध करने में मदन मोहन मालवीय की भी अग्रणी भूमिका थी। इस आंदोलन का समर्थन सामान्य आदमी ने तो किया ही, परंतु व्यापारियों और मुसलमानों ने बढ़-चढ़कर इसमें हिस्सेदारी निभाई। व्यापारियों ने इसलिए भी विदेशी सामानों का बहिष्कार, क्योंकि इसमें उनके व्यापारिक हित शामिल थे। मुसलमानों की हिस्सेदारी इसलिए ज्यादा थी, क्योंकि उनके धार्मिक मामले को आंदोलन में प्रमुखता से स्थान दिया गया था।

जिन्ना की जीवनी के लेखक एम.एच. सैयद ने लिखा कि मुसलमानों को मुख्यत: खिलाफत के प्रश्न की चिंता थी, जिसके समाधान के लिए वे हिंसा का सहारा लेने को तैयार थे। उनके लिए स्वराज्य गौण विषय था।[134] खिलाफत और असहयोग आंदोलन की समाप्ति के बाद कानपुर कोहटा मुल्तान सहित देश के कई शहरों में सांप्रदायिक दंगे हुए। इन दंगों का बीजारोपण स्वाधीनता आंदोलन में धार्मिक मसले में शामिल होने के कारण हुआ था। आंदोलन के बाद समाज में धार्मिक विद्वेष फैलने पर 1924 में लाला लाजपत राय ने दु:खी मन से कहा, "यह दु:ख का विषय है कि पिछले दशक में हमने ऐसा वातावरण निर्मित किया, जिसमें विवेक और सहिष्णुता की जगह धर्मांधता और कट्टरता का ही बोलबाला है। स्वयं असहयोग आंदोलन ने इस प्रकार का वातावरण तैयार

करने में काफी ठोस योगदान किया है। यह दुर्भाग्यपूर्ण था कि भारत में खिलाफत आंदोलन का आधार राजनैतिक न होकर धार्मिक रहा। यह और भी दुर्भाग्य की बात थी कि महात्मा गांधी और खिलाफत आंदोलन के नेताओं ने एक ऐसे आंदोलन के संबंध में जो मूलत: धार्मिक कम और राजनैतिक आधार ज्यादा था, उसमें धर्म को इतनी अधिक प्रधानता दी। एक इससे भी बड़ी भूल यह थी कि असहयोग के कार्यक्रम की विभिन्न बातों के लिए धार्मिक पुष्टि की खोज की ख्वाहिश होती रही। इससे धार्मिक जोश शीघ्र फिर उमड़ा और वे प्रभाव तथा शक्तियाँ सामने आईं, जो अखंड भारत के विचार के विरुद्ध थीं।"[135]

इंदुलाल याज्ञिक ने अपनी पुस्तक 'गांधी एज आई न्यू हिम' में लिखा है कि हमने गांधीजी से यह सौदा कभी नहीं किया था कि हम उनके साथ किसी अंधे धार्मिक या धार्मिक राजनैतिक आंदोलन में शामिल होंगे। हम उनके साथ एक भारत के इस विचार को लेकर चले थे कि हम राष्ट्रीय मुक्ति की उपलब्धि के लिए विशुद्ध राजनैतिक संघर्ष छेड़ने के उद्देश्य से अग्रगामी प्रत्यक्ष काररवाई के किसी रास्ते पर उनके पीछे चल रहे हैं। हम टर्की के सुल्तान की प्रभुसत्ता, सुदूर स्थित प्रांतों में मेसोपोटामिया या अरब में स्थापित होने के प्रति गांधीजी के उत्साह में भागीदार नहीं हो सकते।[136]

इसके अलावा कई नेता, जैसे—जिन्ना, सी.आर. दास, जवाहरलाल नेहरू, वल्लभभाई पटेल, जो खिलाफत को स्वाधीनता आंदोलन के साथ जोड़ने के पक्षधर नहीं थे, वह भी हिचक के साथ शामिल हुए। जवाहरलाल नेहरू ने इस आंदोलन के विरोध में कहा कि हमने पूरे अंचल में उत्साह उमड़ता हुआ देखा, वे एक विचित्र उत्तेजना से आंदोलित थे।[137]

शायद यह उत्तेजना स्वाधीनता को लेकर कम और धार्मिक उन्माद को लेकर ज्यादा थी। निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि असहयोग आंदोलन से दोनों ही लक्षित उद्देश्यों में सफलता नहीं मिली। स्वराज्य का लक्ष्य भी पूरा नहीं हुआ और दोनों समुदायों के बीच एकता भी कायम न हो सकी। उल्टे दोनों समुदायों के बीच विद्वेष फैला। इसके अलावा मुसलिमों के अंदर धार्मिक कट्टरता बढ़ गई और इसके प्रति वे उन्मुख हो गए और इसी कट्टरता ने भारत विभाजन कराने में प्रमुख भूमिका निभाई।

एक तथ्य यह भी है कि बँटवारे में सबसे ज्यादा आर्थिक नुकसान हिंदुओं से ज्यादा सिक्खों को हुआ। क्योंकि पंजाब प्रांत में सिक्खों की बहुत ज्यादा फायदे वाली जमीन उनके कब्जे में थी। जो पाकिस्तानी क्षेत्र के किसी भू-भाग से ज्यादा उपज देती थी। सिक्खों के तत्कालीन नेता मास्टर ताराचंद बँटवारे को लेकर बहुत चिंतित व असमंजस में थे। उन्हें यह फिक्र थी कि बँटवारे में उनके समुदाय का क्या होगा? बँटवारा उसकी इच्छा स्वरूप नहीं हुआ। पंजाब दो भागों में बँट गया। एक भाग पाकिस्तान में चला तथा दूसरा भाग हिंदुस्तान में रह गया।

बँटवारे के दौरान जिसे सबसे ज्यादा जान-माल का नुकसान हुआ, वह दलित समुदाय था। क्योंकि बँटवारा तय होने के बाद साधन संपन्न सवर्ण हिंदू, सिक्ख तथा सिंधी समाज अपने संसाधनों द्वारा पाकिस्तान से भारत के लिए पलायन कर गए, परंतु दलित समुदाय साधनहीन होने के कारण पलायन नहीं कर सका। इसके अलावा दलितों के पास जानकारी और जागरूकता का अभाव था। इसलिए जो किसी भी तरह पाकिस्तान छोड़ने की सामर्थ्य रखते थे, उन्होंने भी नहीं छोड़ा। वे भावी विषम परिस्थितियों का अंदाजा नहीं लगा सके और वहीं फँसकर रह गए। बँटवारा हो जाने के बाद दंगे शुरू होने पर अपनी जान-माल को खतरे में देखकर कई शहरों और गाँवों के दलितों ने अपने घरों से भारत पलायन करना चाहा, परंतु तब तक देर हो चुकी थी। वहाँ के कट्टरपंथी और अमीर मुसलमानों ने दलितों को जबरन रोक लिया। दलितों को पाकिस्तान में जबरन रोके जाने की सूचना पर गांधीजी ने स्वंय चिंता

व्यक्त की थी। उन्होंने कहा हरिजन वहाँ से आना चाहते हैं, मगर उन्हें आने नहीं दिया जा रहा। जो लोग पाखाना वगैरह साफ नहीं करते थे, उन्हें भी यह काम करना पड़ रहा है। दलित नेता जगजीवन राम ने भी पाकिस्तान में दलितों की दयनीय स्थिति की जानकारी पर अपील की—दलितों को पाकिस्तान से आ जाना चाहिए।[138]

□

गांधी, नेहरू, पटेल, आंबेडकर, लोहिया, वामपंथ और विभाजन

महात्मा गांधी विभाजन के प्रबल विरोधी थे, उन्होंने कहा था कि विभाजन उनकी लाश पर होगा, फिर वे क्यों विभाजन के लिए तैयार हो गए, क्यों उन्होंने विभाजन के निर्णय पर खुला विरोध कांग्रेस और उनके प्रमुख नेताओं का नहीं किया, हम उनके विभाजन के मसले पर सिलसिलेवार बयानों और उनसे जुड़े घटनाक्रमों का जायजा लेंगे। उनके ज्यादातर बयान हिंदू-मुसलिम एकता को लेकर होते थे, लेकिन कभी-कभी उनके बयान न केवल आश्चर्यजनक होते थे, बल्कि हिंदुओं को आहत भी करते थे।

12 अप्रैल, 1947 को जब गांधीजी पहली बार माउंटबेटन से मिले तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि उन्हें इस बात की चिंता नहीं है, यदि सारे मुल्क को पाकिस्तान करार दे दिया जाए और उसे जिन्ना साहब के हवाले कर दिया जाए, लेकिन यह आपसी बातचीत से समझौते से हो सकता है, बल प्रयोग से नहीं।

भारत विभाजन रोकने के लिए जिन्ना के हाथों पूरे भारत की कमान सौंपने की पेशकश की और उन्हें पूरे कैबिनेट बनाने की छूट दी, परंतु गांधीजी के इस प्रस्ताव पर उनके सबसे नजदीकी बादशाह खान ही तैयार थे, नेहरू और अन्य नेताओं के गांधी के प्रस्ताव पर तैयार होना तो बहुत दूर की बात थी।[139] गांधीजी अपनी रोज की सामूहिक प्रात:काल की प्रार्थना में कुरआन की आयतों के साथ सभी धर्मोपदेश या भजन से होती थी, हालाँकि आयतों को लेकर ज्यादातर प्रार्थना में विरोध होता था, कभी-कभी प्रार्थना बंद भी करनी पड़ती थी।

2 जून, 1947 को गांधीजी ने कहा कि मैं भले ही अपने विचारों में अकेला हूँ, फिर भी मैं यह कहे बिना नहीं रहूँगा कि बँटवारा देश के लिए हानिकारक ही प्रमाणित होगा, यद्यपि 150 साल की दासता का अंत हो रहा है, लेकिन जो हालात हैं, उनसे नहीं लगता कि आजादी इतने वर्ष टिक सकेगी। मुझे यह सोचकर खेद होता है कि विभाजन की योजना में सिर्फ नुकसान के अलावा कुछ नहीं है। बँटवारा तय हो जाने पर असहाय गांधीजी ने कहा कि बँटवारा कांग्रेस और लीग अपने विचार-विमर्श से होना चाहिए, किसी तीसरे पक्ष की मध्यस्थता से नहीं।[140] उन्होंने यह भी कहा कि यद्यपि वे यह कहते रहे हैं कि आपसी समझौता तीसरी पार्टी को मध्यस्थ बनाकर नहीं हो सकता है, उस सूरत में पहले ब्रिटिश हुकूमत को यहाँ से जाना जरूरी है, मगर अब वह यहाँ तक तैयार है कि माउंटबेटन जाति हैसियत से, वायसराय की हैसियत से नहीं, पंच बन जाएँ और जिन्ना साहब केंद्र में अपनी पसंद की हुकूमत बना ले और भले ही सत्ता बदलने से पूर्व पाकिस्तान की योजना की मंजूरी पेश कर दे। कांग्रेस जिन्ना साहब की हुकूमत की दिल से सहायता करेगी और चूँकि हुकूमत मुसलिम लीग की होगी, इसलिए उसका कर्तव्य होगा कि तमाम दंगे-फसादों को बंद करवाए और चूँकि वायसराय ने इस बात का ऐलान किया है कि वह केवल न्याय करना चाहते हैं, इसलिए उनके लिए लाजिमी होगा कि यदि मुसलिम लीग केंद्रीय हुकूमत न बना सके तो फिर उन्हीं शर्तों पर कांग्रेस को हुकूमत बनाने का अवसर दिया जाए। यह जो दोनों दलों को खुश करने की नीति चली आई है, उसे छोड़ना होगा।[141] गांधीजी की इस अटपटी योजना पर पूरी कांग्रेस खिलाफ थी, सहमत न बनने पर हताश होकर 12 अप्रैल को उन्होंने इस संबंध में वासराय को पत्र लिखा—"मैंने पंडित नेहरू के साथ थोड़ी देर तक कई बार बातें कीं और एक घंटा उनसे एकांत में बात हुई, उसके बाद रात को मैंने जो फॉर्मूला आपके सामने पेश किया था, उसके संबंध में कार्यकारिणी के कई सदस्यों से चर्चा की। मुझे खेद होता है कि सिवा बादशाह खान के मैं किसी को अपने साथ नहीं ले सका।"[142]

गांधीजी से 27 मई, 1947 को आचार्य कृपलानी तथा जयप्रकाश नारायण मिलने आए, उनसे गांधीजी ने कहा कि

देश विभाजन की कल्पना ही उन्हें कँपा देने वाली है, मैंने प्रार्थना में भी कहा कि यदि हम साथ न रह सके तो राजी-खुशी जरूर अलग हो जाए।

लेकिन उसमें हमसे किसी की दखलगीरी सहन नहीं होगी।[143]

गांधीजी जानते थे कि बँटवारे के प्रश्न पर उन्होंने यदि कांग्रेस का खुलकर विरोध किया तो ब्रिटिश हुकूमत और मुसलिम लीग के साथ मिलकर देश भर में दंगा फैला देंगे, इस कारण गांधीजी मौन रहे। उनका मानना था ऐसी स्थिति में आजादी की बात बहुत पीछे चली जाएगी।[144]

गांधीजी का कहना था कि अहिंसा बहादुरों का हथियार है, परंतु अंग्रेजों से लड़ने पर यह पता लगा कि वह उनका भ्रम था, अंग्रेजों के खिलाफ की अहिंसा कमजोरों की अहिंसा साबित हुई, उन्होंने यह भी कहा कि हिंदुस्तान में वीरों को अहिंसा का प्रयोग करने का मौका नहीं मिला।[145]

गांधीजी का कहना था कि हिंदू और मुसलमानों को एक हो जाना चाहिए। मैं बनावटी एकता नहीं चाहता, सच्ची व निस्स्वार्थ एकता चाहता हूँ। हिंदू इस बात पर विश्वास करें कि इसलाम का उद्धार मक्का, मदीने, सीरिया, फिलस्तीन, मेसोपोटामिया, सुल्तान और खलीफा का उद्धार ही काशी का उद्धार है। वही गौवंश का उद्धार है।

यदि हम सब वास्तव में मुसलमानों के साथ मैत्री संबंध स्थापित करना चाहते हैं, तो हमें उनकी सहायता अवश्य करनी चाहिए, चाहे वे गौरक्षा का प्रयत्न करे या न करे।

हम लोग मुसलमानों पर जितना दबाव डालने की चेष्टा करेंगे, उतना ही अधिक गौवध बढ़ता जाएगा। इसलिए इस संबंध में यही उचित है कि हम कुछ न बोले और सारी बात मुसलमानों की मर्यादा, कर्तव्य ज्ञान पर छोड़ दी जाए।[146] खिलाफत आंदोलन में हिंदुओं की ज्यादा भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए गांधीजी ने कहा कि अगर हिंदुओं को मुसलमानों से अमिट दोस्ती करनी है तो उन्हें इसलाम की इज्जत रखने की खातिर शहादत में उनका साथ देना चाहिए।[147]

एक हिंदू होने के नाते आपको तो इस बात पर गर्व करना चाहिए कि एक हिंदू ऐसा पागल गांधी आप में से ऐसा था, जिसने मुसलमानों के साथ इनसाफ ही नहीं किया, बल्कि वह उनके हिस्से से भी ज्यादा देने को तैयार था।[148]

मैं पंजाब के हिंदुओं से और सिक्खों से बार-बार यह प्रार्थना करूँगा कि वे किसी भी हालत में बदला न लें, मैं तो यहाँ तक कहता हूँ कि अगर बदला लिये बिना सारे हिंदू और सिक्ख अपने मुसलामान भाइयों के हाथों मारे जाएँ तो वे न सिर्फ हिंदू और सिक्ख धर्म को बचाएँगे, बल्कि इसलाम की भी सेवा करेंगे और सारी दुनिया की हिफाजत करेंगे।[149] 23 अगस्त, 1947 को गांधीजी ने 'अल्ला हो अकबर' को दुनिया का सबसे बड़ा धार्मिक नारा बताया, जबकि वंदे मातरम् को राजनैतिक नारा बताया।[150] 29 अगस्त, 1948 में दिल्ली की प्रार्थना सभा में वंदे मातरम् गाया गया। सब लोग खड़े हो गए, लेकिन गांधीजी बैठे रहे, उन्होंने कहा कि राष्ट्रगीत का ऐसा राग तय कर दे, जो सबको मंजूर हो।[151] 3 जून को भारत विभाजन की योजना पर पुरुषोत्तम दास टंडन ने कहा था कि आजादी की कुछ कीमत देने की अपेक्षा ब्रिटिश हुकूमत के नीचे कुछ समय और रहने को तैयार होना चाहिए।[152] बँटवारे के समय कांग्रेस अध्यक्ष आचार्य कृपलानी थे, जो स्वयं विभाजन के पक्ष में थे, कांग्रेस कार्यकारिणी का बहुमत बँटवारे का पक्षधर था, विभाजन के पक्ष में 157 मत पड़े तथा विरोध में 15 मत पड़े थे।[153] 16 सितंबर, 1947 को दिल्ली की भंगी कॉलोनी की आर.एस.एस. की शाखा में गांधीजी गए, वहाँ उन्होंने कहा कि श्री जमनालाल बजाज कई वर्षों पहले मुझे वर्धा के संघ के कैंप ले गए थे। उस कैंप को देखकर मैं बहुत खुश हुआ था, कड़ा अनुशासन और सादगी थी, और सवर्ण व गैर-सवर्ण सब समान थे, संघ को चलाने वाले हेडगेवार बहुत बड़े सेवक थे और सेवा

के लिए ही जीते थे, वो चले गए; लेकिन संघ की ताकत दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई। संघ पर जो दंगा-फसाद के आरोप लगाए जाते हैं, वह सच है कि नहीं मैं नहीं जानता; परंतु संघ का काम है कि वह सही कामों से इस इल्जाम को झूठा साबित करे।[154] 16 अक्तूबर, 1947 को गांधीजी ने राममनोहर लोहिया से कहा कि "आजादी आए अभी चार पाँच महीने ही हुए हैं, उतने में ही यदि यह पार्टियाँ और नेता वादों के प्रचार में पड़कर सत्ता प्राप्त करने के लिए मारा-मारी करेंगे तो नतीजा अच्छा नहीं होगा, इसलिए मैं तो कांग्रेस को तोड़ने के लिए कहता था; लेकिन आज मेरी कोई सुनता ही नहीं।"[155] 26 अक्तूबर, 1947 को पाकिस्तान में हो रहे दंगों के बारे में कहा था कि यदि अहिंसा की प्रतिज्ञा के कारण बहनों की आबरू की रक्षा नहीं हो सके तो ऐसी नामर्दों की अहिंसा की अपेक्षा मैं हिंसा पसंद करूँगा, यदि आप हिंसा करके कभी बहनों की आबरू बचा सके तो मैं उसमें बाधा नहीं बनूँगा।[156] 8 नवंबर, 1947 को राजेंद्र प्रसाद के समक्ष एक बार फिर गांधीजी ने कहा, "कांग्रेस संस्था की इस वक्त की जो स्थिति है, वह संतोषजनक नहीं है या तो उसको मजबूत बनाने के लिए किसी को बाहर आना चाहिए, चूँकि इस संस्था का हमेशा स्वराज्य से लेना था, वह अब पूरा हो गया; इसलिए बेहतर है कि वह गिरे उससे पहले ही उसे तोड़ दिया जाए।" 11 जनवरी, 1948 को भी गांधीजी ने यही दोहराया।[157] कश्मीर मसले पर और अन्य रियासतों के मसले पर गांधीजी का मत आज की पीढ़ी के लोगों को खासकर युवाओं को रास नहीं आएगा, परंतु गांधी का कहना था कि कश्मीर का हल कश्मीरियों पर छोड़ देना चाहिए, वह किस राज्य में शामिल होंगे, यह उन पर छोड़ना चाहिए, हालाँकि वह इस मसले को द्विपक्षीय आधार से हल करने के पक्षधर थे, तीसरे किसी पक्ष के हस्तक्षेप के पक्षधर नहीं थे, यू.एन.ओ. में इस मसले को ले जाने के वे विरोधी थे, रियासतों के मसले में भी उनकी यही राय थी।[158] लोगों के मन में प्रश्न उठता है कि आखिर गांधीजी ने नेहरू को पटेल की अपेक्षा प्रधानमंत्री पद के लिए ज्यादा उपयुक्त क्यों समझा? गांधीजी का मानना था कि नेहरू अंतरराष्ट्रीय आदमी हैं और वे हिंदुस्तान में रहनेवाले सभी विदेशी राजदूतों से दोस्ताना संबंध रखते हैं, आजादी के बाद विदेशों से मजबूती से संबंध रखना अपरिहार्य आवश्यकता समझी जाती थी, गांधी के मुताबिक नेहरू, पटेल की अपेक्षा इन संबंधों के निभाने में ज्यादा उपयुक्त है। गांधीजी के सम्मान में नेहरू सिगरेट पीते हुए हाथों के पीछे कर लेते थे, नेहरू और पटेल दोनों विभाजन के प्रश्न पर एकमत थे, दोनों विभाजन को जरूरी मानते थे, नेहरू और पटेल दोनों ने गांधीजी को बिना विश्वास में लिये चुपके से तत्कालीन वायसराय माउंटबेटन से बँटवारे पर उस समय सहमति दे दी, जब गांधीजी जिन्ना की प्रत्यक्ष काररवाई के बाद बंगाल और बिहार में हो रहे सांप्रदायिक दंगों को रोकने के लिए नोआखाली से लौटकर बिहार होकर वापस आ रहे थे, दोनों में से किसी ने भी गांधीजी को जानबूझकर इस मसले पर कुछ भी नहीं बताया।

सरदार पटेल ने कहा था कि यदि हम विभाजन स्वीकार नहीं करते तो हिंदुस्तान कितने ही टुकड़ों में बँट जाएगा और तबाह हो जाएगा। फिर एक पाकिस्तान की जगह अनेक पाकिस्तान बन जाते। हर विभाग में पाकिस्तान की कोठरिया कायम हो जाती। उन्होंने अपनी एक साल के अंतरिम सरकार के शासन के दौरान, जिसमें वे गृहमंत्री ही थे, अनुभव कर लिया था कि हर प्रांत में लीग के साथ मिलकर अंग्रेज अधिकारी दंगे की साजिश में लगे हुए हैं, प्रमुख विभागों में मुसलमानों को भेज दिया गया है।[159]

गांधीजी का विवादित अंतिम अनशन

गांधीजी के कई अनशनों ने सफलता अर्जित की। सबसे सफल अनशन अनुसूचित जातियों को हिंदू समुदाय से अलग मान्यता देने की माँग के विरोध में लंबा अनशन, जिसमें पूना पैक्ट हुआ और ये माँगें सदा के लिए समाप्त हो गईं, परंतु गांधीजी ने 13 जून, 1947 को दिल्ली में अनशन शुरू कर दिया और उनकी माँगें माने-जाने तक 6 दिनों

अर्थात् 18 जनवरी तक चला, यह अनशन काफी विवादित माना जाता है। उस समय गांधीजी का व्यक्तित्व इतना बड़ा था, चाहकर भी कोई विरोध नहीं कर सकता था और करता तो उसका कोई प्रभाव नहीं होता, अब जरा गांधीजी की माँगों के बारे में जान लीजिए।

1. पाकिस्तान को 55 करोड़ रुपए और दिए जाएँ।
2. महरौली में कुतुबद्दीन बख्तियार की मजार है, वह मुसलमानों के लिए बिल्कुल सुरक्षित होनी चाहिए, दरगाहों के खिदमतदारों को कोई जान का खतरा न हो, यह विश्वास हिंदू और सिक्ख समुदाय दोनों दें।
3. दिल्ली की 117 मसजिदें, जिन पर हाल के उपद्रवों में हिंदू और सिक्ख शरणार्थियों ने शरण ले रखी है, उन्हें स्वेच्छा से मुक्त कर दें। उस समय पाकिस्तान से आए हुए पीड़ित हजारों शरणार्थियों के पास भयंकर सर्दी में कोई सुरक्षित आशियाना न होने पर वे ज्यादातर मंदिरों, मसजिदों और गुरुद्वारों में ही शरण लिये हुए थे।
4. करोल बाग, सब्जीमंडी और पहाड़गंज में मुसलमान आजादी से आ-जा सके और उसकी जान को कोई खतरा न हो।
5. दिल्ली के जो मुसलमान तंग आकर पाकिस्तान चले गए हैं, वे अगर वापस दिल्ली आना चाहें तो कोई विरोध न हो।
6. रेलों में मुसलमान बिना किसी खतरे के सफर कर सकें।
7. मुसलमान दुकानदारों का बहिष्कार न किया जाए।
8. दिल्ली शहर के जिन इलाकों में मुसलमान रहते हैं, उन इलाकों में हिंदुओं और सिक्खों के बसने के प्रश्न को मुसलमानों की रजामंदी पर छोड़ दिया जाना चाहिए।

गांधीजी की पाकिस्तान को 55 करोड़ देने की माँग भारत सरकार ने 16 जनवरी, 1948 को अर्थात् अनशन के चौथे दिन ही मान ली, भारत सरकार की कैबिनेट ने इसे मंजूरी दे दी। इसके बावजूद गांधीजी ने अनशन नहीं तोड़ा।[160] वे अन्य माँगों पर अड़े रहे और अपना अनशन जारी रखा, 18 जनवरी अर्थात् अनशन के छठवें दिन गांधीजी की सभी माँगें मान ली गईं। इस दौरान सभी धर्मों, संगठनों के प्रमुख लोग, कांग्रेस के सभी दिग्गज मौजूद थे, सरकार के वरिष्ठ अधिकारी भी मौजूद थे, पाकिस्तान के राजदूत भी उपस्थित थे। आलम यह था कि गांधी के प्रभावशाली व्यक्तित्व के कारण आर.एस.एस. के प्रतिनिधि के रूप में हरिश्चंद इन माँगों से सहमत न होने के बावजूद मौजूद थे, इस दौरान हरिश्चंद ने कहा कि हमसब आपके सामने शपथ लेते हैं कि आपकी आज्ञा का पूरा पालन होगा, आपके अनशन से घर-घर रोना मच गया है, हम शपथ लेकर कहते हैं कि पूर्ण शांति रहेगी। हम मकान नहीं माँगेंगे और न ही नौकरी। ईश्वर जैसे रहने देगा रहेंगे।[161] भारत के कष्टपूर्ण विभाजन को, जिन्होंने देखा और समझा उन समकालीन लोगों में समाजवादी चिंतक डॉ. राममनोहर लोहिया भी थे। वे विभाजन के प्रबल विरोधी थे, उनका मानना था, इस विभाजन से किसी भी समुदाय हिंदू और मुसलिम दोनों को ही हानि ही पहुँचेगी। वे सीधे तौर पर विभाजन के लिए कांग्रेस के बड़े नेताओं को दोषी मानते थे, खासकर नेहरू, गांधी को। वे नेहरू को जहाँ सत्तालोलुप मानते थे, इसी के तहत नेहरू ने बँटवारे को स्वीकार किया। उन्होंने नेहरू पर कई तरह के आरोप लगाकर नेहरू को दोषी माना, वे नेहरू को बहुरूपिया कहने से भी नहीं चूके, गांधी को अनिश्चयी और दृढ़हीन व्यक्ति माना।

लोहिया के अनुसार जिस कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक में देश के विभाजन का निर्णय लेना था, उस बैठक में केवल चार लोगों ने ही विरोध किया था, वे स्वयं थे, दूसरे जयप्रकाश नारायण, तीसरे गांधीजी और चौथे अब्दुल

गप्फार खाँ। जब गांधीजी ने बैठक को संबोधित करते हुए कहा कि उन्हें विभाजन के बारे में कुछ भी नहीं बताया गया, नेहरू और पटेल ने इसके बारे में बिल्कुल नहीं उन्हें बताया, इसी दौरान नेहरू ने टोकते हुए कहा कि वे उनको बराबर जानकारी देते रहे। गांधीजी ने दोबारा, फिर इसको

दुहराया तो नेहरू बोले कि नोआखाली बहुत दूर था। लोहियाजी आरोप लगाते हैं कि नेहरू और पटेल ने आपस में बँटवारे की योजना के बारे में गांधीजी को न बताने की दुरभि संधि कर ली थी। नेहरू, पटेल का गांधीजी से इस दौरान वाद-विवाद हुआ तथा दोनों ने गांधीजी से अशिष्ट व्यवहार भी किया।[162]

लोहिया ने एक बार अल्मोड़ा के एक राजनैतिक सम्मेलन में नेहरू को बहुरूपिया तक कह डाला, जिसको इलाहाबाद के समाचार-पत्र ने प्रमुखता से छापा। नेहरू के इस नाम की चर्चा उनके महिला मित्र मंडली में काफी दिनों तक रही।[163] लोहिया के अनुसार नेहरू और पटेल को अपनी वृद्धावस्था की चिंता सता रही थी कि आजादी का प्रश्न तब तक नहीं सुलझ सकता, जब तक कि मुसलिम लीग बँटवारे के लिए अड़ी रहेगी तो इसका परिणाम आएगा कि ऐसी दशा में ब्रिटानी सरकार भारत को सत्ता हस्तानांतरण नहीं करेगी। ऐसे में वे सत्ता सुख से अपने इस जीवन काल में वंचित रह जाएँगे। लोहिया ने गांधीजी पर आक्षेप किया कि गांधीजी स्थिर व्यक्तित्व के होने के बावजूद वे अपने चेलों में स्थिरता का संचार नहीं कर सके। लोहिया निष्कर्षता से कहते हैं कि मैं सिर्फ इतना कह सकता हूँ कि स्थिरता और दृढ़ता की कमी के कारण देश का विभाजन हुआ। लोहिया ने कहा कि गांधीजी के बिना हिंदुस्तान अच्छी स्थिति में होता, लोहिया ने यह साबित करने की कोशिश कि गांधीजी वरदान नहीं अभिशाप थे, इतना ही नहीं लोहिया ने गांधी के अहिंसा के सिद्धांतों की भी आलोचना की।[164] उन्होंने कहा कि मैं यह दृढ़ता से कह सकता हूँ कि श्री नेहरू और उनके जैसे औरों ने देश को बहुत नुकसान पहुँचाया है, जब उन्होंने देश की एकता की कीमत देकर देश की आजादी को खरीदा। सत्ता पाने की संभावना के समय यदि ये लोग शर्मीली बहू जैसा भी आचरण करते तो देश को इतना नुकसान न कर पाते। वे इंतजार कर सकते थे और प्रयत्न जारी रख सकते थे।[165] बँटवारे को स्वीकार करने के पीछे पटेल और नेहरू का तर्क था कि यदि बँटवारा नहीं हुआ तो एक नहीं अनेक पाकिस्तान होंगे, ऐसा उन्होंने अंतरिम सरकार के शासन के दौरान अनुभव कर लिया था। मुसलिम लीग की धमकी और कलकत्ता, नोआखली में दंगों में नरसंहार का अनुभव, बँटवारा न होने पर फिर दंगों का डर भी नेहरू के मन में था। वे सोचते थे कि बँटवारे के बाद दंगे रुक जाएँगे, उनका आकलन निर्मूल साबित हुआ। बँटवारे के बाद दंगों की विभीषिका शुरू हुई, जिसमें लगभग दस लाख लोग मारे गए, डेढ़ करोड़ लोग विस्थापित हुए, लाखों लोग अपंग हुए, हजारों महिलाओं के अपहरण और बलात्कार हुए।

इन दंगों के दुष्परिणाम को देखकर नेहरू ने 16 अक्तूबर, 1949 को न्यूयॉर्क में संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिवेशन में कहा कि उन्हें यदि विभाजन के परिणामस्वरूप होनेवाले नरसंहार के बारे में पता होता तो वह बँटवारा नहीं होने देते।[166]

भारत के विभाजन की महादुर्घटना का विवेचन किया जाए और डॉ. भीमराव आंबेडकर के इस संबंध में दृष्टिकोण का समावेश न किया जाए तो सत्य के पास नहीं पहुँचा जा सकता। आंबेडकर साहब ने पाकिस्तान की माँग के बाद तत्कालीन भारत में हो रहे अनगिनत सांप्रदायिक दंगों के कारणों पर गंभीरतापूर्वक चिंतन किया, आंबेडकर वाङ्मय पढ़ने से पता लगता है कि वे हिंदू धर्म में फैली कुरीतियों में आमूलचूल सुधार करना चाहते थे, इसके लिए वे और इंतजार नहीं करना चाहते थे, उन्होंने इसी के चलते हिंदू धर्म पर करारा प्रहार किया। इसके बावजूद वे कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के मुसलिम तुष्टीकरण नीति के बेहद खिलाफ थे। महात्मा गांधी की

मुसलिम परस्त नीति खासकर उनके द्वारा चलाए गए खिलाफत आंदोलन को मूर्खतापूर्वक करार दिया और 1920 से शुरू हुए दंगों की लंबी अवधि की शृंखला को खिलाफत आंदोलन की मूल जड़ बताया। इस महत्त्वपूर्ण विषय पर उन्होंने अपने दो महीनों का अमूल्य समय अज्ञातवास में बिताकर अंग्रेजी में 'थॉटस ऑफ पाकिस्तान' लिखी, बाद में इसका संसोधित संस्करण भी प्रकाशित हुआ, जिसका हिंदी संस्करण 'पाकिस्तान अथवा भारत का विभाजन' प्रकाशित हुआ। आंबेडकर ने पृथक् निर्वाचन अधिनियम, लखनऊ समझौता, खिलाफत आंदोलन, मोपला हत्याकांड, सांप्रदायिक पंचाट सहित उन सभी प्रावधानों का मुखर विरोध किया, जिसमें मुसलिम तुष्टीकरण किया गया हो, इसके लिए गांधी और कांग्रेस की तीखी आलोचना की। वे भारत में स्थायी शांति और समृद्धि के लिए भारत के बँटवारे को जरूरी तो मानते थे, परंतु धार्मिक आधार पर जनसंख्या की अदला-बदली के साथ। पाकिस्तान बने तो लेकिन शेष भारत से मुसलमान बँटवारे के साथ पाकिस्तान चला जाए, शेष भारत में केवल हिंदू, सिक्ख तथा अन्य समुदाय ही रहे, बँटवारे के लिए उन्होंने रोडमैप का भी खाका खींचा। आंबेडकर का स्पष्ट मत था कि एक साथ दोनों समुदाय के लोग लंबे समय तक शांति और सद्भाव से एक साथ नहीं रह सकते हैं, उनके अंदर सदैव तनाव व्याप्त रहेगा और यह तनाव सांप्रदायिक दंगों का कारण बनता रहेगा, ऐसे में देश दंगों के सुलझाने में लगा रहेगा और समुचित उन्नति नहीं कर सकेगा। एक तरह से आंबेडकर भी द्वि-राष्ट्रवादी थे, हालाँकि आंबेडकर का द्वि-राष्ट्रवाद, सावरकर के द्वि-राष्ट्रवाद से अलग था, सावरकर विभाजन के विरोधी थे, वे हिंदू वर्चस्व वाले राष्ट्र बनाने की चाह रखते थे।

आंबेडकर ने अपने सुझाव में सांप्रदायिक समस्या के बारे में समाधान बताया कि पाकिस्तान का निर्माण तो हो, लेकिन सजातीय देश के रूप में हो और शेष देश से जनसंख्या की अदला-बदली करके हमेशा के लिए हिंदू और मुसलिम समस्या के बारे में निजात पाई जा सकती है और ऐसी दशा में अलग निर्वाचक मंडल की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।[167] उन्होंने तुर्की, यूनान और बुल्गारिया का उदाहरण देते हुए बताया कि जो जनसंख्या की अदला-बदली की योजना की खिल्ली उड़ा रहे हैं, उनको इन देशों की अल्पसंख्यकों की समस्या का अध्ययन करके समझ सकते हैं कि एकमात्र प्रभावकारी हल सजातीय जनसंख्या की अदला-बदली ही है। उन्होंने कहा कि जब सबसे बढ़िया शांतिपूर्ण सुरक्षित हल जनसंख्या की अदला-बदली ही है, तब अन्य समाधानों के खोजने की आवश्यकता ही क्या है।[168]

आंबेडकर का चिंतन इस विषय पर एकांगी नहीं था। उन्होंने हिंदुओं की उस चिंता पर भी अपना समाधान प्रस्तुत किया, जिसमें मिश्रित जनसंख्या वाले पाकिस्तान निर्माण की बात चल रही थी। उन्होंने स्पष्ट कहा कि हिंदुओं की चिंता इस विषय पर वाजिब है और इसका समाधान होना चाहिए कि पाकिस्तान बनने के बाद भी हिंदुस्तान के अंदर सांप्रदायिक समस्या से मुक्ति नहीं मिल सकेगी, क्योंकि हिंदुस्तान भी मिश्रित देश ही बना रहेगा और समस्या जस की तस न्यूनाधिक रूप में ही बनी रहेगी। सीमाओं का निर्धारण करके पाकिस्तान तो बनाया जा सकता है, परंतु बड़े भाग वाले हिंदुस्तान में जहाँ मुसलमानों की जनसंख्या बिखरी है, जनसंख्या की अदला-बदली ही एकमात्र कारगर उपाय है। इस पर अवश्य विचार कर लेना चाहिए कि जब तक जनसंख्या की अदला-बदली का उपाय नहीं किया जाएगा, तब तक हिंदुस्तान में बहुसंख्यक बनाम अल्पसंख्यक समस्या का समाधान नहीं हो सकेगा।[169] क्या वर्तमान परिवेश को देखते हुए दूरदर्शी विचारों वाले आंबेडकर की बात कांग्रेस और गांधीजी को माननी चाहिए कि नहीं? इसका निर्णय सुधी पाठक स्वंय करेंगे।

उन्होंने कहा कि मुसलिम क्षेत्र हिंदुस्तान के लिए असामान्य मोटापे जैसा है और हिंदुस्तान असामान्य वृद्धि जैसा

है। साथ बँधे रहने से वे भारत को एशिया का रुग्ण पुरुष बना देंगे। पाकिस्तान का गठन यदि भारत के कुछ भागों को अलग कर देने वाली बुराई है तो उसके बनने से संघर्ष के स्थान पर सौहार्द का सृजन होगा।[170]

आंबेडकर का मानना था कि सामाजिक सुधारों के बिना आजादी का कोई मतलब नहीं है, सामाजिक सुधार भारतीय समाज के लिए अति आवश्यक है। सांप्रदायिक तनाव में सरकार और समाज दोनों इसी में उलझे रहेंगे और ऐसे वातावरण में सामाजिक सुधारों को गति नहीं मिल सकेगी। दोनों समुदायों के सुधारों को गति देने के लिए इस समस्या का स्थायी हल आवश्यक है, पाकिस्तान का निर्माण ही इस समस्या का स्थायी हल है। दोनों समुदाय एक-दूसरे पर अपना प्रभुत्व पैदा करने की चेष्टा से मुक्त हो सकेंगे तथा गुलामी और आक्रमणों की आशंका से मुक्त हो सकेंगे और सामाजिक सुधारों का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा।[171] उन्होंने कहा कि भारत की सुरक्षा जैसे महत्त्वपूर्ण मसले को भाग्य के भरोसे नहीं छोड़ सकते, ऐसा करना सबसे बड़ा अपराध होगा। उन्होंने जोर देकर कहा कि हिंदू और मुसलिम दोनों को सुरक्षा प्रदान करने का सबसे मजबूत और सुरक्षित तरीका भारत का मुसलिम भारत और गैर-मुसलिम भारत में विभाजन ही है।[172]

अब हम आंबेडकर के दृष्टिकोण से सांप्रदायिक आक्रामकता तथा अंग्रेजों की विभाजनकारी नीति का अध्ययन करेंगे, जिनके चलते सरकार ने मुसलिम समुदाय को हिंदुओं से कहीं ज्यादा अलग अधिकार प्रदान किए।

मुसलिम समुदाय का हिंदुओं के प्रति आक्रामक रवैया ज्यादा प्राचीन और ज्यादा भी है, इसका आकलन सामान्य व्यक्ति भी कर सकता है, यद्यपि हिंदू भी अब आक्रामक हो गए हैं, इसी के चलते मुसलमानों की राजनैतिक माँगें बेतहाशा बढ़ती जा रही हैं।

मुसलमानों की राजनैतिक माँगों का प्रारंभ 1892 से तब शुरू होता है, जब कांग्रेस की 1885 में स्थापना हुई और वायसराय डफरिन ने सोचा कि क्यों न मुसलमानों को रियायतें देकर मुसलमानों को कांग्रेस से दूर रखा जाए। 1892 के अधिनियम में यह निश्चित किया गया कि विधायिकाओं में मुसलमानों के लिए मनोनयन के लिए अलग प्रतिनिधित्व दिया जाए, यद्यपि यह दिया नहीं गया, बस इसे सैद्धांतिक मान्यता भर दी गई।[173] ब्रिटिश काल में सांप्रदायिकता का कैसे समावेश हुआ और यह कैसे देश की अखंडता के लिए घातक सिद्ध हुई, उस समय क्रमागत अधिनियमों में उत्तरोत्तर सांप्रदायिकता की बढ़ोतरी हुई 1909 में सचिव मार्ले और वायसराय मिंटो ने मुसलमानों की माँग पर पहली बार विधायिकाओं में पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था की, जिसे मार्ले-मिंटो सुधार के नाम से जाना जाता है। इस अधिनियम में यह व्यवस्था हुई कि केवल मुसलमान ही कई सीटों पर अपने ही प्रत्याशी चुन सकेंगे, इन पर हिंदुओं को मतों को अलग रखा जाएगा अर्थात् मुसलमान, मुसलमान को ही चुनने का अधिकार रहेगा। यह कथित सुधार भारत के लिए सबसे बड़ा बिगाड़ साबित हुआ। एक बार सांप्रदायिक माँगों के स्वीकारोक्ति की शुरुआत हुई, फिर सुरसा के मुँह की तरह बढ़ती रही, आगे वाले सभी अधिनियमों में ऐसी माँगें कम होने के बजाय बढ़ती रहीं और जिसका परिणाम भारत विभाजन के रूप में आया। सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह रहा, जिस कांग्रेस ने 1909 के अधिनियमों में पृथक् निर्वाचन का पुरजोर विरोध किया था। उसी कांग्रेस ने 1916 में लखनऊ समझौते में मुसलिम लीग से समझौता कर मुसलिम सांप्रदायिकता, तुष्टीकरण को सैद्धांतिक और व्यावहारिक रूप से स्वीकार कर लिया, अगर कांग्रेस ऐसा नहीं करती तो शायद भारत का यह भौगोलिक परिदृश्य नहीं होता। दुर्भाग्य यह भी कि कांग्रेस की तुष्टीकरण नीति आजादी के बात भी जारी रही, जो अनवरत अभी तक जारी है। 1909 के अधिनियम में पंजाब तथा मध्य प्रांत को छोड़कर सभी प्रांतों में पृथक् निर्वाचन की व्यवस्था कर दी गई, पंजाब प्रांत में वहाँ की मुसलिम जनसंख्या की अच्छी स्थिति को देखते हुए आवश्यकता नहीं थी तथा मध्य

प्रांत में, तब तक विधान परिषद् अस्तित्व में नहीं था।

1909 में पृथक् निर्वाचन लागू हो जाने के बाद मुसलमानों के अंदर आत्मविश्वास हो गया कि वे थोड़े प्रयास करके अपनी ज्यादा माँगें मनवा सकते हैं, इसी मनोदशा के तहत 1916 में एक बार फिर मुसलमानों का प्रतिनिधि मंडल वायसराय चेम्सफोर्ड से मिला और अपनी कुछ माँगें प्रस्तुत कीं—

1. पृथक् निर्वाचन का प्रावधान मध्य प्रांत और पंजाब में भी लागू किया जाए।
2. प्रांतीय परिषदों और इम्पीरियल लेजिस्टेटिव कौंसिल में मुसलमान प्रतिनिधियों की संख्या निर्धारित की जाए।
3. मुसलमानों के धार्मिक और रीति-रिवाजों के मामले में अधिनियमों को संरक्षण प्रदान किया जाए।
4. प्रांतीय परिषदों और इम्पीरियल कौंसिलों में तब तक किसी सदस्य द्वारा प्रस्तुत कानून पर अमल न किया जाए, जो किसी समुदाय के प्रतिकूल लगता हो, जब तक कि उस समुदाय के तीन चौथाई सदस्य इस काररवाई के पक्ष में न हो।
5. इम्पीरियल कौंसिल के भारतीय सदस्यों में से एक तिहाई मुसलिम सदस्यों का चुनाव तय हो, जिन्हें पृथक् निर्वाचन के द्वारा ही चुना जाए।

इन माँगों पर विचार के बाद सहमति बनने के बाद ही लीग और कांग्रेस के बीच 1916 में समझौता हुआ और 1919 में इन सभी माँगों को मॉन्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधार, भारत सरकार के 1919 अधिनियम में शामिल कर कानूनी रूप दे दिया गया।[174] 1927 में एक बार फिर भारत के संवैधानिक सुधारों की सुरक्षा के लिए साइमन कमीशन बनाया गया। कमीशन का लक्ष्य था कि मौजूदा कानूनों की समीक्षा की जाए और संभव कानूनों में सुधार तथा अभिवृद्धि की जाए, यह कमीशन अध्ययन करता और अपनी रिपोर्ट देता उसके पहले कई मुसलिम संगठनों ने अपनी पहले से ज्यादा सांप्रदायिक माँगें प्रस्तुत कर दीं, मुसलिम लीग ने अपनी पूर्ववत् स्वीकार की गई माँगों के साथ कई सूत्रीय माँगें कमीशन के सामने रख दीं, इन माँगों में प्रमुख माँगें केंद्रीय विधायिका में मुसलिम प्रतिनिधित्व एक-तिहाई से कम नहीं होना चाहिए, इसके साथ पंजाब और बंगाल में, जहाँ 1919 में ही पृथक् निर्वाचन में मुसलिम प्रतिनिधियों की आरक्षित व्यवस्था हो गई थी बावजूद इसके कि यहाँ मुसलमानों का जनसंख्या का प्रतिशत और प्रांतों से कहीं ज्यादा था, ऐसी दशा में मुसलमान सदस्य संयुक्त निर्वाचन से चुनकर भी पर्याप्त संख्या में आ सकते थे, फिर भी इसकी व्यवस्था 1919 के अधिनियम में कर दी गई थी। साइमन कमीशन के समक्ष मुसलिम संगठनों ने बंगाल और पंजाब में मुसलिम प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ाए जाने की अतिरिक्त माँग की। हिंदुओं और सिक्खों के तर्कपूर्ण विरोध के बाद इन माँगों को साइमन कमीशन द्वारा खारिज कर दिया गया। खास बात यह है कि ब्रिटिश सरकार ने कमीशन द्वारा खारिज करने के बावजूद भी वे सारी पुरानी और नई सांप्रदायिक माँगें मुसलमानों की मान लीं।[175] मुसलमानों को केवल इस बात का ही फायदा मिल गया कि कोई कमीशन केवल कानून की समीक्षा करने के लिए ही बनाया गया हो और उसके सामने अपनी माँगें प्रस्तुत कर दी हो, भले ही कमीशन ने लागू करने की संस्तुति न की हो। इस तरह हम देख रहे हैं कि सभी अग्रिम सुधारों और अधिनियमों में सांप्रदायिक माँगें स्वीकारी जाती रहीं और सामाजिक और राजनैतिक वातावरण विषाक्त होता गया। दोनों समुदायों की दूरी बढ़ती जा रही थी और इसे रोकने का उपाय अब किसी के पास नहीं था। जिस 1909 के पृथक् निर्वाचन अधिनियम में सांप्रदायिकता के कानूनी रूप का बीजारोपण हुआ था, वह अब बड़ा पेड़ बन चुका था।

1932 में गोलमेज कॉन्फ्रेंस के बाद सांप्रदायिक पंचाट लागू किया गया तमाम अन्य मुसलिम हितों वाली माँगें ब्रिटिश सरकार ने अधिसूचित कर दीं, उत्तरी पश्चिमी प्रांत अब गवर्नर शासित राज्य बना दिया गया। गोलमेज

कॉन्फ्रेंस के बाद माँगों की स्वीकारोक्ति से ऐसा लगने लगा था कि मुसलिम माँगें आसमान छू रही थीं, चौंकाने वाली बात यह थी कि मुसलिम समुदाय को अभी भी संतोष नहीं था, मुसलिम मंडल ने अपनी अतिरिक्त माँगों की सूची भी तैयार कर ली थी। कई ऐसी माँगें थीं, जो न केवल हिंदू समुदाय की मान्यताओं के एकदम खिलाफ थीं और विचित्र भी, जबकि इन माँगों का संबंध मुसलिम हितों से नहीं था, केवल इन माँगों को इसलिए ही प्रस्तुत किया गया था; क्योंकि हिंदू इसे पसंद नहीं करते थे, जैसे—गौवध पर पूरी छूट और मसजिद के पास हिंदुओं के जुलूस गाजे-बाजे के साथ प्रतिबंध जबकि अन्य मुसलिम देश जैसे—अफगानिस्तान में ऐसा करने पर कोई प्रतिबंध नहीं था, यहाँ ऐसा इसलिए हिंदुओं की पसंदगी और मान्यताओं के विरोध के कारण किया जा रहा था।[176]

सरकार के अधिनियम की बात करें तो भारत सचिव ने 7 जुलाई, 1934 में संकल्प पत्र में प्रकाशित करवाया कि सभी प्रांतीय और केंद्रीय सेवाओं में मुसलमानों की पच्चीस प्रतिशत सीट सुनिश्चित कर दी गई है। मुसलमानों की माँगों को मानते हुए 1935 के अधिनियम में अवशिष्ट सभी शक्तियाँ गवर्नर जनरल को सौंप दी गईं, जिसका यह अर्थ यह हुआ कि अब हिंदू सदस्यों के पास शक्तियों का अभाव हो गया, साथ ही यह व्यवस्था की गई कि गवर्नर जनरल तथा प्रांतीय गवर्नर को भी संशोधन करने से पहले प्रस्ताव को संसद् पटल पर रखकर इस तथ्य का अध्ययन करना होगा कि संशोधन का अल्पसंख्यकों पर क्या प्रभाव पड़ेगा?[177] मुसलमान अपने अधिकारों की बढ़ोतरी को लेकर अपनी माँगें सुरसा के मुँह की तरह बढ़ाते जा रहे थे।

1939 में एक बार फिर मुसलमानों ने प्रत्येक जगह पचास प्रतिशत भागीदारी सुनिश्चित कराने की माँग ब्रिटिश शासन के समक्ष रख दी। आंबेडकर ने इन माँगों के बारे में कहा, यह हिटलर के डयूषलैंड उबेर एलेस और लैबेंसरोम के समान है। निष्कर्षत: आंबेडकर को उपरोक्त परिदृश्य देखकर महसूस हुआ कि मुसलमानों की कहीं ज्यादा माँगें सरकार उनके अधिकार से ज्यादा मान रही है।

जब भी कोई संवैधानिक सुधारों का प्रस्ताव आता है तो मुसलमान अपनी कई माँगें एक साथ सरकार के समक्ष रख देते, विवाद में ब्रिटिश सरकार से अपेक्षा की जाती है कि उनका वह न्यायपूर्ण सम्यक् समाधान निकालेंगे, लेकिन पूर्व के अनुभवों से यह लगता है कि मुसलमान ब्रिटिश सरकार से जितना वे स्वयं माँगते हैं, उससे अधिक वह दे देते हैं।[178]

भले ही कई इतिहासकारों ने मुसलिम आक्रांताओं मुहम्मद बिन कासिम, महमूद गजनवी, मुहम्मद गौरी, कुतुबुद्दीन ऐबक, बख्तियार खिलजी, तैमूर लंग तथा नादिरशाह को लुटेरा आक्रांता ही बताया हो, परंतु आंबेडकर ने इन्हें जेहादी और धर्म से प्रेरित बताया, इन सब आक्रांताओं का एक ही सामूहिक लक्ष्य था, वह था—हिंदू धर्म का विध्वंस। उन्होंने बाबर, औरंगजेब, शाहजहाँ को भी इसी तरह की प्रकृति वाला व्यक्ति बताया। इस संबंध में जजिया कर का उदाहरण देते हुए कहा कि हिंदुओं पर यह कर पचास प्रतिशत तक था, जो कि धार्मिक विद्वेष के कारण लगाया गया था, आंबेडकर ने अपनी पुस्तक पाकिस्तान अथवा भारत विभाजन में इसके बारे में 'एकता का विघटन' शीर्षक में विस्तार से लिखा है।

आंबेडकर द्वारा वर्णित कई आक्रमणों में से हम यहाँ केवल तीन मुसलिम आक्रमणों का ही उल्लेख करेंगे—उन्होंने डॉक्टर टाइटस का हवाला देते हुए लिखा कि महमूद ने अपने भारत पर अठारह आक्रमणों में पहले आक्रमण में ही बहुत अधिक लूट के माल के साथ वह भारत से पचास हजार सुंदर हिंदू पुरुष और महिलाओं को गुलाम बनाकर गजनी ले गया था।

गजनवी ने सन् 1070 में जब कन्नौज पर आक्रमण कर कब्जा किया और इतनी अधिक संपदा लूटी और लोगों

को बंदी बनाया कि उनकी गणना करनेवालों की उँगलियाँ थक गई थीं, गजनी के वहाँ गुलामों के बाजार में मात्र दो से दस दिरहम तक में ही बेचा गया।[179] सन् 1202 ई. में कुतुबुद्दीन ने बुंदेलखंड के कालिंजर पर आक्रमण किया, वहाँ के मंदिरों को ध्वंस कर पूरी तरह मूर्तिपूजा का नामो-निशान मिटाने के बाद हजारों लोगों को बाँधकर, गुलाम बनाकर एक मैदान में एकत्रित कर इस प्रकार ठसाठस किए कि घने मानव सिरों के कारण वह मैदान काला सा दिखाई देने लगा।[180] आंबेडकर ही तत्कालीन समय के वह बुद्धिजीवी व्यक्ति थे, जो शायद हिंदू महासभा और गोलवरकर के बाद गांधीजी की मुसलिम तुष्टीकरण नीति की सबसे ज्यादा आलोचना करते थे, उन्होंने खिलाफत आंदोलन को कांग्रेस के नेतृत्व में चलाने के गांधीजी के निर्णय को बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण और देश की एकता के लिए घातक बताया। ऐसे तमाम क्रियाकलाप हैं कांग्रेस और गांधीजी के, जिनकी आंबेडकर ने खुलकर निंदा की।

यहाँ तक कि आंबेडकर मुसलिम लीग के अलग देश की माँग को लेकर कांग्रेस के विचारों की अपेक्षा सावरकर के दृष्टिकोण को ज्यादा अच्छा मानते थे, उनका कहना था कि सावरकर का पाकिस्तान के बारे में अधिक स्पष्ट, साहसपूर्ण, निर्णायक मत है, सावरकर ने कम-से-कम अपनी योजना में मुसलिमों को यह बता तो दिया है, तुम्हें हिंदू प्रभाव वाले शासन में कम अधिकारों के साथ रहना होगा, जबकि कांग्रेस और गांधीजी का मत अनिश्चित और अस्पष्ट है।[181] अब जरा भारत में खिलाफत आंदोलन चलाने का औचित्य समझ लें, तुर्की में खलीफा को शासन से अपदस्थ कर दिया गया था, यद्यपि उस समय प्रतीकात्मक रूप से खलीफा को दुनिया भर में मुसलमानों के प्रतिनिधित्व के रूप में माना जाता था, जिस कारण से 27 अक्तूबर, 1919 को भारत के मुसलमानों ने खिलाफत आंदोलन शुरू कर दिया, गांधीजी के निर्णय के चलते कांग्रेस भी पूरी ताकत से इस आंदोलन में अगस्त 1920 को कूद पड़ी और आंदोलन का नाम असहयोग आंदोलन दे दिया गया। आंबेडकर सहित कई अन्य लोग, इस आंदोलन में कांग्रेस के शामिल होने के अनौचित्य में कई कारण देख रहे थे।

जब तुर्की की जनता वहाँ के खलीफा को शासन से विमुख करना चाहती थी, जिनके लिए भारत में आंदोलन चलाया जा रहा था। इतना ही नहीं, वहाँ राजतंत्र को समाप्त कर गणतंत्र बनाना चाहते थे, जब तुर्की के लोग राजतंत्र को समाप्त करना चाहते थे, तो जबरन उन पर राजशाही थोपना कहाँ तक उचित और न्यायपूर्ण था।[182]

गांधीजी मानते थे कि अल्प समय में ही हिंदू-मुसलिम एकता को स्थापित कर स्वराज्य के लक्ष्य को पाया जा सकता था। इसी के चलते गांधीजी ने खिलाफत के मसले को मुसलमानों से अपने हाथ में ले लिया, गांधीजी के इस निर्णय से अनेक हिंदुस्तानी आश्चर्यचकित रह गए थे।[183]

गांधीजी की इस मसले पर अधीरता हतप्रभ करनेवाली थी, खिलाफत पर सहयोग की सीमा पर गांधीजी ने कहा कि मुसलमानों के लिए अधिकतम कष्ट उठाएँ। मैं मुसलमानों की भवनाओं पर नियंत्रण नहीं कर सकता। मैं तो उनकी उस बात को स्वीकार करता हूँ कि खिलाफत उनके लिए धार्मिक प्रश्न है कि वे अपनी जान पर खेलकर भी उस लक्ष्य को पाने की कोशिश करेंगे।[184]

गांधीजी पर आंबेडकर ने आरोप लगाया कि हिंदू-मुसलिम एकता की चाह में इतने ज्यादा वे आसक्त थे कि उन्होंने राष्ट्रीय हितों की भी परवाह नहीं की। खिलाफत के विषय पर, जब भारत के मुसलमानों ने अफगानिस्तान के अमीर से भारत पर हमला करने के लिए आमंत्रित किया तो गांधीजी ने अमीर को सलाह दी, वह अंग्रेज सरकार से कोई संधि न करे, बल्कि यह भी घोषणा की कि वह यदि अफगानिस्तान का अमीर अंग्रेज सरकार से साथ युद्ध करता है तो मैं उसकी निश्चित तौर पर सहायता करूँगा।[185]

गांधीजी के पक्षपातपूर्ण रवैए की भी आंबेडकर ने निंदा की, उन्होंने कहा कि गांधी ने हिंदुओं पर हुई हिंसा और

कत्लेआम के लिए मुसलमानों के कृत्य की खुलकर निंदा नहीं की, घटना की निंदा करके इतिश्री कर ली। मुसलमानों के शुद्धीकरण के आरोप में 23 दिसंबर, 1926 को स्वामी श्रद्धानंद, इसके बाद आर्यसमाजी लाला नानकचंद, 6 अप्रैल, 1929 को लेखक राजपाल, सितंबर 1934 में नाथूरामल शर्मा सहित कई अन्य प्रमुख हिंदुओं का कत्ल कर दिया गया, मुसलमानों ने इन हत्यारों की निंदा नहीं की, बल्कि हत्यारों को गाजी कहकर सम्मानित किया, इसके लिए गांधीजी ने देश के मुसलमान नेताओं और संगठनों से निंदा करने के लिए नहीं कहा, जबकि दूसरी ओर छोटी सी भी घटना, जो मुसलमानों को ठेस पहुँचाने वाली होती थी। उसके लिए गांधीजी समूची कांग्रेस को इच्छा के विपरीत निंदा करने के लिए विवश कर देते थे।

निष्कर्षत: गांधीजी ने हिंदू-मुसलिम एकता के लिए हिंदुओं की हत्या की कोई चिंता नहीं की।[186]

खिलाफत आंदोलन की समाप्ति के बाद केरल के मालाबार तट पर मुसलिम धर्मांध मोपलाओं ने हिंदुओं का बड़े पैमाने पर कत्लेआम किया, हजारों महिलाओं के साथ बलात्कार किए गए, गर्भवती महिलाओं के पेट फाड़कर बच्चे तलवार की नोक पर लटकाए गए, इतना अमानवीय अत्याचार जिनका वर्णन संभव नहीं है, हजारों हिंदुओं को खासकर दलित समुदाय के हिंदुओं को धर्मांतरित जबरन कराया गया। खिलाफत के कुछ मुसलमान नेताओं द्वारा मोपलाओं को धर्म के खातिर लड़ने वाले बताकर बधाई दी गई, किंतु गांधीजी हिंदू-मुसलिम एकता के बारे में इतने ज्यादा सनकी हो चुके थे कि उन्होंने मोपलाओं के कारनामों पर बधाई देने वाले खिलाफतवादियों की निंदा तक नहीं की। गांधी ने मोपलाओं के बारे में कहा कि मोपला भगवान् से डरने वाले बहादुर लोग हैं और वे इस बात के लिए लड़ रहे हैं, जिसे वे धर्म समझते हैं और उस तरीके से लड़ रहे हैं, जिसे वे धार्मिक समझते हैं।[187] नतीजा यह हुआ कि गांधीजी के प्रभाव के चलते कांग्रेस कार्यसमिति ने मोपला आक्रमण पर मामूली अतर्कसंगत, पक्षपातपूर्ण निंदा कर ही कर्तव्य पूरे कर लिये।

गांधीजी के नेतृत्व में 1920 से कांग्रेस खिलाफत आंदोलन चलाने के साथ पूरी तरह मुसलिम तुष्टीकरण की राह पर चल पड़ी थी, उसके भयावह परिणाम तत्कालीन भारत की जनता को झेलने पड़े, देश सांप्रदायिक दंगों की आग में आ गया, छोटी-छोटी बातों में दंगे-फसाद होने लगे, चारों तरफ मार-काट शुरू हो गई, यह सिलसिला शुरू हुआ तो देश विभाजन होने तक रुका नहीं। 1920 से 1940 तक देश में गृहयुद्ध जैसे हालात बने रहे, इन्हें रोकना किसी के बस की बात नहीं थी, वैसे ब्रिटिश सरकार के ज्यादातर अधिकारी दंगों को रोकने की बजाय, दंगा कराने की मानसिकता रखते थे, वे फूट डालो राज करो की नीति पर चल रहे थे।

आंबेडकर के अनुसार 1920 से 1940 तक गांधीजी की दोनों समुदायों की एकता की कोशिश के फलस्वरूप देश का दु:खद चित्र ही सामने उभरकर आता है कि इस कालखंड के 20 वर्ष भीषण रक्तपात और गृहयुद्ध के रहे।[188] मुल्तान, कोहाट, मथुरा, मैनपुरी, फिरोजबाद, कानपुर व कलकत्ता तक दंगों में सैकड़ों लोग मारे गए, इस अवधि में प्रतिवर्ष इन दंगों में मारे गए लोगों की संख्या बहुत अधिक होती थी, हजारों लोग घायल हुए अनेक महिलाओं के अपहरण और बलात्कार हुए। 1921-1922 में मुहर्रम के अवसर पर पंजाब और बंगाल में बड़ी मात्रा में दंगे हुए, बड़ी मात्रा में जान-माल को नुकसान पहुँचा। 1924-25 में कोहाट, दिल्ली, लखनऊ, मुरादाबाद, भागलपुर, नागपुर, शाहजहाँपुर, इलाहाबाद में भयंकर लूटपाट, हत्याएँ हुईं। 1925-1926 में कलकत्ता, बंबई प्रेसीडेंसी, संयुक्त प्रांत, गुजरात में भीषण दंगे हुए। खास बात यह थी कि ये दंगे शहरों से गाँव तक पहुँच चुके थे। दर्जनों लोग मारे गए, तथा सैकड़ों लोग घायल हुए, अकेले कलकत्ता में 197 लोग मारे गए, लगभग 1600 लोग घायल हुए। 1927-1928 में 25 दंगे पंजाब, मध्य प्रांत, बंगाल बिहार, उड़ीसा तथा दिल्ली में हुए। इन दंगों में

लगभग 103 व्यक्ति मारे गए और 1084 लोग घायल हो गए 1927 में अकेले लाहौर के दंगे में 272 लोग मारे गए शायद ही कोई इस साल का महीना हो, जब देश दंगा मुक्त रहा हो। यद्यपि 1928-1929 का साल अपेक्षाकृत शांति का रहा, लेकिन 1929 में फिर बड़े पैमाने पर दंगे हुए। केवल बंबई में 204 लोग मारे गए। 1929-1930 में फिर बंबई दंगों की चपेट में आ गया, इसमें 35 लोग मारे गए। 1930-31 तक सविनय अवज्ञा आंदोलन की शुरुआत के साथ ही देश के कई शहरों अमृतसर, सक्कुर, मेमन, रावलपिंडी, मिर्जापुर, मैनपुरी, मथुरा, आजमगढ़, बलिया सहित कई जिले सांप्रदायिक दंगों की चपेट में आ गए, जिसमें दर्जनों लोग मारे गए। 1931-1932 में कानुपर में भीषण दंगा हुआ, रामचंद्र नाम के व्यापारी का पूरा परिवार दंगों की भेंट चढ़ गया, आक्रोशित हिंदुओं से बचाकर मुसलमानों को उन्हीं के इलाके में लेकर गए प्रसिद्ध पत्रकार गणेश शंकर विद्यार्थी को भी दंगाइयों ने नहीं बख्शा और उन्हें मार डाला। 1932-1933 का साल अपेक्षाकृत शांत रहा, लेकिन 1933-1934 का वर्ष फिर दंगों का ही रहा। बनारस, कानुपर, पंजाब, पेशावर, लाहौर, मद्रास और कन्नूर में बड़े दंगे हुए। 1935 में कराची में मुहम्मद साहब के बारे में लेखक नाथूरामल के लिख देने पर बड़े पैमाने पर दंगा हुआ, उग्र भीड़ को नियंत्रित करने के लिए सेना को गोली चलानी पड़ी, जिसमें 47 लोग मारे गए।

14 अप्रैल, 1936 में फिरोजाबाद में भीषण दंगा हुआ। एक मुसलिम जुलूस मुख्य बाजार से गुजर रहा था। हिंदू घरों से ईंट-पत्थर फेंकने के आरोप में क्रुद्ध मुसलिम भीड़ ने डॉ. जीवनराम तथा उनके नजदीक स्थित राधाकृष्ण मंदिर में आग लगा दी, जीवनराम के घर रहनेवाले 11 हिंदुओं को जीवित जला दिया गया, इसी साल बंबई, मुंगेर जमालपुर में भी दंगे हुए। 1937 का साल भी दंगों का ही रहा, मार्च माह में पानीपत में दंगा हुआ। 14 लोग मार दिए गए। इसी साल मद्रास, शिकारपुर पंजाब में भी दंगे हुए। इन दंगों पर काबू पाने के लिए सेना को बुलाया गया। 1938 में इलाहाबाद और बंबई में दंगा हुआ। 1939 में कलकत्ता, कानपुर, बनारस सहित छह शहरों में दंगे हुए। कानपुर में ही अकेले 42 लोग मारे गए।[189] पुरानी बंगाल विधान परिषद् में 6 सितंबर, 1932 को महिलाओं के अपहरण के बारे में प्रश्न पूछे गए जवाब में सरकार ने बताया कि 1922 से 1927 के बीच 568 महिलाओं के अपहरण किए गए, जिसमें 101 अविवाहित थीं और 467 विवाहित थीं। ये सरकारी आँकड़े थे, जिनके मामले दर्ज थे। गैर-सरकारी आँकड़ों की संख्या हजारों में थी।[190]

□

वामपंथ की बँटवारे में भूमिका

वामपंथियों, कम्युनिस्टों ने भारत के विभाजन के लिए एक वैचारिक आधार दिया, सामान्य तौर पर माना जाता है कि द्वि-राष्ट्रवाद की थ्योरी के कारण भारत का बँटवारा हुआ। इसके लिए जिन्ना और उनकी पार्टी मुसलिम लीग की द्वि-राष्ट्रवाद की थ्योरी, जिसमें माना गया था कि हिंदू और मुसलमान दो अलग ही नहीं परस्पर विपरीत, विरोधी राष्ट्र हैं, जो एक साथ शांति से कभी नहीं रह सकते। दोनों के पूर्वज, धार्मिक अधिष्ठान, संस्कृतियाँ, रीति-रिवाज भिन्न ही नहीं, बल्कि परस्पर विरोधी हैं। हिंदू महासभा के नेता सावरकर भी यही मानते थे। सावरकर के अनुसार आपस में दोनों समुदायों के लोग तभी एक साथ शांति से रह सकते हैं, जब हिंदुओं को प्रथम दर्जे का नागरिक मानकर उन्हें नागरिक अधिकार मुसलिमों से ज्यादा दिए जाए, क्योंकि हिंदुओं के लिए पुण्यभूमि और पित्रभूमि केवल विश्व में एक ही है, वह है—भारत भूमि। सबसे ज्यादा चौंकाने वाली बात यह है कि कम्युनिस्ट तो द्वि-राष्ट्रवाद की थ्योरी का समर्थन ही नहीं करते थे, बल्कि बहुराष्ट्रवाद की थ्योरी को मानते थे, वे भारत को कई राष्ट्रों का समूह मानते थे। इस तरह कम्युनिस्टों ने बहुराष्ट्रवाद की खुलकर वकालत की। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान कम्युनिस्टों ने खूब पैंतरेबाजी की। दरअसल भारतीय कम्युनिस्ट अंतरराष्ट्रीय कम्युनिस्ट संगठन का हिस्सा थे, जिनका केंद्र बिंदु रूस था। भारतीय कम्युनिस्टों का भारत में संचालन भारतीय आवश्यकताओं के अनुसार नहीं होता था, बल्कि रूस से होता था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान पहले कम्युनिस्ट अंग्रेजों के समर्थन में नहीं थे, वे इस युद्ध को साम्राज्यवाद को बढ़ावा देने वाले बता रहे थे; लेकिन जब मित्र राष्ट्रों और ब्रिटिश सेना के पक्ष में रूस आ गया तो वे अंग्रेजों के समर्थन में खुलकर आ गए।[191]

इतना ही नहीं साम्यवादियों ने कांग्रेस और मुसलिम लीग के बीच मतभेदों को और अधिक बढ़ावा देकर मुसलिम लीग का समर्थन किया। इन कम्युनिस्टों का मत यह था कि भारत बहुत छोटे देशों में बँट जाए और हमारा कम-से-कम किसी एक देश में अधिकार हो जाए और हम अपनी विचारधारा को सुनियोजित तरह से अन्य देशों में प्रचार-प्रसार करने का अवसर मिल जाए। कम्युनिस्ट अपने कम वजूद की हकीकत को अच्छी तरह जानते थे। इस संबंध में कम्युनिस्ट दल ने 1942 में एक प्रस्ताव पारित कर घोषणा की कि भारत एक बहुराष्ट्रवादी राज्य है, जिसमें कम-से-कम 16 राज्य हैं। इतना ही नहीं, इन्होंने सत्ता हस्तानांतरण की संभावनाओं का पता लगाने के लिए 1946 में बिट्रेन से भारत आए कैबिनेट मिशन के समक्ष भी अपना माँग-पत्र रखा कि भारत की प्रभुसत्ता को अलग-अलग 17 देशों में बाँट दिया जाए।[192] 1941 में सी.पी.आई. महासचिव पी.सी. जोशी ने कहा कि मुसलिम लीग प्रमुख राजनैतिक संगठन है, उन्होंने कांग्रेस से अलग हटकर लीग की माँग स्वीकार करने का आग्रह किया। सितंबर 1942 में सी.पी.आई. की केंद्रीय समिति ने प्रस्ताव पारित किया, जो इस प्रकार था—जो बहुराष्ट्रवाद की परिकल्पना की पुष्टि करता है। भारतीय जनमानस के प्रत्येक अंग, जिसका उसके देश में संबद्ध क्षेत्र, समान ऐतिहासिक परंपरा, समान भाषा, संस्कृति मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति, समान आर्थिक जीवन हो उसे स्वतंत्र भारतीय केंद्र या संघ में एक स्वायत्त राज्य के रूप में रहने के अधिकार के साथ एक भिन्न राष्ट्रीयता प्रदान करनी चाहिए और अपनी इच्छा पर उसे केंद्र या संघ से अलग होने का भी अधिकार होना चाहिए।[193]

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया (भाकपा) के नेता एम. फारूखी ने स्वीकार किया कि आजादी के पूर्व कम्युनिस्ट पार्टी के नेताओं ने बहुराष्ट्रवाद को स्वीकार किया, जो कि गलती थी।[194]

कम्युनिस्टों का इस रुख का निहितार्थ यह था कि कम्युनिस्टों को अपनी हैसियत का पता था, आजादी के बाद

कि वे अखंड भारत अथवा पाकिस्तान के निर्माण के बाद वाले भारत में किसी भी दशा में वर्तमान और भविष्य में सत्ता उनके लिए दूर की कौड़ी ही रहेगी, उनका मंतव्य था कई स्वायत्त देशों या स्वायत्त राज्यों में से किसी एक-दो राज्यों में उन्हें सत्ता मिल जाएगी, जहाँ से वे अन्य राष्ट्रों के लिए अपना कम्युनिस्ट विचारधारा का प्रचार-प्रसार कर सकेंगे।

(2)

अब हम पिछले कुछ सालों की घटनाओं के बारे में विश्लेषण करेंगे, जो न केवल भारत में हुईं, बल्कि दूसरे देशों की हैं, जो विभिन्न समाचार-पत्रों, माध्यमों में सुर्खियाँ बनीं। खास बात यह है कि इनकी मूल प्रकृति एक जैसी है, कारण में भी समानता है, भले ही इन घटनाओं के स्थानों की दूरी बहुत अधिक हो; लेकिन प्रकृति में समानता है। चौंकाने वाली बात यह भी है कि इन घटनाओं को अपवादस्वरूप छोड़ दें तो इन पर प्रतिक्रियाओं, चुप्पी में भी समानता है, वर्तमान कथित सेक्युलर राज्य सरकारों, वामपंथियों की छलपूर्ण दोगली नीति और कांग्रेस की तुष्टीकरण, कट्टरतावाद पर घुटना टेक नीति, 1920 के दशक के भारत की याद दिलाती है, जिसमें कांग्रेस ने शुद्ध राजनैतिक एजेंडे में धार्मिक मुददे को शामिल कर राष्ट्रीयता को भारी चोट पहुँचाई थी। मालाबार तट पर हिंदुओं के नरसंहार पर कांग्रेस ने विरोध करने की भी जुर्रत नहीं की थी, ऐसी तमाम आजादी के पहले की घटनाएँ, जो बहुत पहले घटित हुई थीं, इतने वर्षों के बावजूद कांग्रेस और अन्य कथित सेक्युलर दलों की ऐसी घटनाओं पर प्रतिक्रियाओं में ज्यादा अंतर नहीं दिखाई देता, जो भारत के वर्तमान और भविष्य को चिंता में डालने वाली है, क्योंकि तब कांग्रेस के लचर और विवेकहीन क्रियाकलाप के कारण अविभाजित भारत में क्या परिणाम आया था? ऐसे ही विभाजित भारत में हो रही घटनाओं पर विमर्श जरूरी है कारणों के साथ।

'जम्मू-कश्मीर' के कई इलाकों में रोहिंग्या मुसलमानों की आपत्तिजनक और गैर-कानूनी गतिविधियों की सूचना आने के बाद भारत सरकार के गृह मंत्रालय की इन अवैध प्रवासियों के खिलाफ रिपोर्ट और प्रतिकूल खुफिया रिपोर्ट के बावजूद वहाँ की पी.डी.पी. और बी.जे.पी. की सरकार उन्हें वापस भेजने के प्रयास में काफी विलंब कर दिया, जब केंद्र सरकार ने वापस भेजने की तैयारी के संकेत दिए तो अक्तूबर 2017 में भारत के सुप्रीम कोर्ट ने बहस पूरी होने तक यथास्थिति बनाए रखने के आदेश दे दिए, उधर म्याँमार से लाखों रोहिंग्या मुसलमान बँगलादेश में प्रवेश करने के बाद भारत में भी प्रवेश करने की फिराक में हैं। हैरान करनेवाली बात यह है कि जम्मू में स्थानीय लोग इन्हें तत्काल निकाले जाने की माँग कर रहे हैं, जबकि जम्मू से अलग घाटी की अन्य जगहों में इन्हें बसाए जाने का समर्थन भी वहाँ के लोग कर रहे हैं, भाजपा को छोड़कर वहाँ के लगभग सभी दल इन रोहिंग्याओं के बसाए जाने का समर्थन कर रहे हैं—कांग्रेस ने इस संवेदनशील मुद्दे पर अपनी चुप्पी साध रखी है। मई 2012 में दिल्ली उच्च न्यायालय के हस्तक्षेप के बाद म्याँमार के हजारों अवैध घुसपैठियों को दिल्ली से बाहर निकालना संभव हुआ, जिन्हें दिल्ली पुलिस ने बसंत कुंज के समीप सुल्तानगढ़ी में शरण लेने की अनुमति दी थी। सेक्युलर दलों के सहयोग से देश में अब भी करीब डेढ़ करोड़ बँगलादेशी घुसपैठिए न केवल सुरक्षित जिंदगी गुजार रहे हैं, बल्कि राशन कार्ड, मतदाता कार्ड बनवाने में भी सफल हो रहे हैं। इसलिए रोहिंग्या म्याँमारी घुसपैठियों की भारत में स्थायी रूप से बसने की आशंका निराधार नहीं है। रोहिंग्या म्याँमारी बँगलादेश के चटगाँव और म्याँमार के रखाइन प्रांत में हजारों बौद्ध, चकमाओं के नरसंहार के अपराधी हैं, जिन्हें बँगलादेश और म्याँमार—दोनों ने इस जघन्य कांड के लिए खदेड़ भगाया है। सन् 2012 में ही रोहिंग्या म्याँमारी नागरिक हजारों की संख्या में दिल्ली स्थित

संयुक्त राष्ट्र के दफ्तर के सामने एकत्रित हुए थे और भारत में शरणार्थी का दर्जा दिलाने की माँग की। उस समय भाजपा सांसद बलबीर पुंज ने राज्यसभा में यह मामला उठाया था और सरकार से जानना चाहा था कि आखिर बिना वीजा ये लोग दिल्ली कैसे धमक आए? उन्हें संरक्षण और समर्थन देने वाले कौन से व्यक्ति का संगठन है?

इन सवालों का सरकार के पास कोई जवाब नहीं था। हैदराबाद, पंजाब, जम्मू, जलालाबाद, मेरठ, आगरा, दिल्ली और खुर्जा में हजारों रोहिंग्या म्याँमारी अवैध रूप से आ सके और सरकार को कोई जानकारी ही नहीं थी। हजारों की संख्या में म्याँमार से चलकर यदि ये दिल्ली पहुँचे हैं, तो इतने बड़े वर्ग का नेतृत्व किसने किया, किसने इनका वित्त पोषण किया और इन सबका समन्वय आखिर किसने किया? क्या यह देश धर्मशाला है, जहाँ कभी बँगलादेश से तो कभी म्याँमार से अवैध घुसपैठिए बेरोक-टोक आ धमकते हैं और स्थानीय जनजीवन को अस्त-व्यस्त करते हैं। हालाँकि मौजूदा यू.पी. की योगी सरकार ने रोहिंग्या और अन्य अवैध नागरिकों के होने की खुफिया जानकारी कराई है, जो देश की सुरक्षा के लिए अच्छा कदम है। क्या वोट बैंक की राजनीति के लिए इन अवैध घुसपैठियों को इसलिए शरणार्थी मान लेना चाहिए कि वे मजहब विशेष के हैं? रोहिंग्या म्याँमारी और बँगलादेशी घुसपैठियों का भारत से दूर-दूर का संपर्क नहीं है, फिर भी उन्हें संरक्षण दिलाने के लिए सेक्युलर दलों का एक बड़ा तबका चिंताग्रस्त है, किंतु उन हजारों हिंदुओं के लिए कोई फिक्रमंद दिखाई नहीं देता, जो मजहबी चरमपंथ और हिंसा से खौफजदा होकर बँगलादेश और पाकिस्तान से पलायन कर अपने वतन लौटे हैं। लाखों कश्मीरी पंडित अपने ही देश में बेगानों की तरह शरणार्थी शिविरों में जीवनयापन कर रहे हैं, किंतु उनकी घर वापसी की चिंता नहीं होती। क्यों? क्या इसलिए कि वे हिंदू हैं?

देश का विभाजन मजहबी जुनून के कारण हुआ। बड़े पैमाने पर रक्तपात हुआ। पाकिस्तान ने खुद को इसलामी राष्ट्र के रूप में स्थापित कर लिया। 11 अगस्त, 1947 को मोहम्मद अली जिन्ना ने पाकिस्तान की संसद् के माध्यम से यह भरोसा दिलाया था कि पाकिस्तान में अल्पसंख्यक बराबरी के अधिकार से सुरक्षित रहेंगे, किंतु उनके देहावसान से वह सपना ही रह गया। इसके बाद 1950 में तत्कालीन भारतीय प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू और पाकिस्तानी प्रधानमंत्री लियाकत अली खान के बीच एक संधि हुई। इसमें भी भरोसा दिलाया गया कि विभाजन के बाद दोनों देश अपने-अपने अल्पसंख्यकों का विशेष खयाल रखेंगे, किंतु आज स्थिति कैसी है?

भारत अपनी पंथ-निरपेक्ष परंपरा के अनुसार सेक्युलर राष्ट्र है, जहाँ मुसलमानों को न केवल बहुसंख्यकों के बराबर अधिकार प्राप्त है, बल्कि वोट बैंक की राजनीति के कारण प्राय: सभी सेक्युलर दलों में उन्हें ज्यादा-से-ज्यादा विशेषाधिकार, रियासतें और सुविधाएँ दिलाने की होड़ लगी रहती है। वहीं पाकिस्तान में हिंदू और ईसाइयों की क्या स्थिति है? वहाँ उनके साथ तीसरे दर्जे के नागरिक की तरह व्यवहार होता है। पाकिस्तान के मानवाधिकार आयोग की रिपोर्ट के अनुसार हर महीने अकेले सिंध प्रांत में 20-25 हिंदू लड़कियों के अगवा करने, उनका जबरन मतांतरण कराने के बाद उनका मुसलिम लड़कों से निकाह कराने की घटनाएँ सामने आती हैं। दिल्ली स्थित विदेशी क्षेत्रीय निबंधन कार्यालय के अनुसार पाकिस्तान से भारत आनेवाले हिंदुओं की संख्या पिछले कुछ समय में तेजी से बढ़ी है।

रिंकल नामक एक हिंदू युवती के साथ जो हुआ, वह पाकिस्तान में हिंदुओं की अवस्था को समझने के लिए काफी है। 26 मार्च, 2012 को पाकिस्तान के मुख्य न्यायाधीश इफ्तिखार मोहम्मद चौधरी के समक्ष सिंध में अपने परिजनों के साथ रहनेवाली 19 वर्षीय रिंकल कुमारी ने नावेद शाह नामक व्यक्ति पर अपने अपहरण का आरोप लगाते हुए, उसे अपनी माँ के संरक्षण में देने की गुहार लगाई। कोर्ट से जब पुलिस उसे खींचकर ले जा रही थी तो

उसने बिलखते हुए मीडियाकर्मियों से कहा कि उसका जबरन मतांतरण और निकाह कराया गया है, किंतु 18 अप्रैल को मामले की सुनवाई के लिए जब वह दोबारा सर्वोच्च न्यायालय पहुँची तो उसने स्वेच्छा से मतांतरण और नावेद से निकाह करने की बात कबूल कर ली। कारण? सुनवाई के वक्त हजारों की संख्या में बंदूकधारियों का जमा होना। ऐसी अनेक रिंकलों की कहानी राजस्थान, गुजरात और पंजाब में शरणागत हिंदू परिवारों के सीनों में मौजूद है, लेकिन जो स्वयंभू सेक्युलर दल पाकिस्तान के हिंदुओं के उत्पीड़न पर खामोश रहते हैं, केंद्र और पूर्वोत्तर समेत भाजपा शासित सभी राज्य सरकारें इस ओर ध्यान दें, यों कि भाजपा के एजेंडे में अवैध नागरिकों के निष्कासन का वादा दर्ज है, इस मामले में मौजूदा केंद्र की राजग सरकार तथा असम की भाजपा सरकार ने अवैध घुसपैठियों के बारे में कोई ठोस कदम नहीं उठाये हैं, यह चिंतनीय है।

अगस्त-सितंबर 2013 में केन्या की राजधानी नैरोबी और पाकिस्तान के पेशावर शहर में इसलामिक कट्टरपंथियों ने दिलदहलाने वाला खून-खराबा किया है। इन हमलों के कारण खून से सनी और सिसकियों से सहमी जगहों से भारत का करीबी भावनात्मक संबंध है। इस रोशनी में भारत का इन घटनाओं से कहीं-न-कहीं जुड़ना लाजिमी है। अगर बात केन्या की करें तो यहाँ पर हजारों भारतवंशी रहते हैं। पूर्वी अफ्रीका में सर्वाधिक भारतीय केन्या में ही रहते हैं। ये ज्यादातर गुजरात या पंजाब से संबंध रखते हैं। इन्होंने यहाँ पर रेलवे लाइनें बिछाने से लेकर व्यापार की नींव रखी थी। अंग्रेजों के दौर में भारतीय केन्या गए। कुछ सालों से भारतीय पेशेवर इधर काफी तादाद में पहुँचने लगे हैं। नैरोबी की घटना में कुछ भारतीय मारे भी गए हैं। पेशावर के चर्च में हुए हमले में दर्जनों मासूम मारे गए। ये चर्च पेशावर के उसी बाजार किस्सा खानी इलाके से सटा है, जहाँ पर हिंदी सिनेमा के दिग्गज दिलीप कुमार का जन्म हुआ था। इधर ही कपूर खानदान का पुश्तैनी घर भी है। इसी घर में राजकपूर का जन्म हुआ था। अपने यहाँ के पुश्तैनी घर को छोड़कर शाहरुख खान के वालिद भारत आए थे। सरहदी गांधी खान अब्दुल गफ्फार खान भी इधर ही रहते रहे।

नैरोबी और पेशावर—दोनों घटनाओं में कई समानताएँ हैं। दोनों में कट्टरपंथी इसलामिक संगठनों का हाथ है। केन्या में तो चरमपंथियों ने चुन-चुनकर गैर-मुसलिमों को मौत के घाट उतार दिया। वे मॉल में मौजूद लोगों से कुरआन की आयतों से लेकर इसलाम से जुड़ी बाकी जानकारियाँ ले रहे थे। जो उनके सवालों के जवाब नहीं दे पाए, उन्हें बदले में मिली—मौत। नैरोबी हमले में घाना के प्रसिद्ध कवि कोफी आवानर भी मारे गए हैं, जो नैरोबी में साहित्य महोत्सव में भाग ले रहे थे। कहीं-न-कहीं लग रहा है कि केन्या सरकार इतने बड़े आतंकी हमले का मुकाबला करने के लिए तैयार नहीं थी। कुछ देर के लिए शॉपिंग सेंटर के बाहर खड़ी रहीं, भारतीय मूल की केन्याई सांसद सोनिया विरदी ने बताया कि उन्हें ऐसी कोई चीज सुनाई या दिखाई नहीं दे रही, जिससे लगे कि सुरक्षा बल अंतिम काररवाई कर रहे हैं। इस आतंकी हमले के शिकार लोगों में केन्या के राष्ट्रपति का भतीजा और उसकी मंगेतर भी शामिल थे। इस हादसे से तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा भी सन्न रह गए। वे मूलत: केन्या से ही आते हैं। उनके तमाम रिश्तेदार अब भी केन्या में ही रहते हैं। उन्होंने केन्याई राष्ट्रपति से बात भी की थी। भारत सरकार ने भी घटना की निंदा करते हुए केन्या को सभी तरह की मदद का वादा किया है। ओबामा पर अमेरिका में ही दबाव पड़ना शुरू हो गया है कि वे अल-शबाब पर हल्ला बोलें। रिपब्लिकन पार्टी के नेता टॉम कुब्न ने कहा था कि नैरोबी में मॉल में हुए हमले से साफ है कि अलकायदा की ताकत बढ़ी है।

केन्या में खून-खराबा करनेवाले संगठन अल-शबाब का कहना है कि उसने सोमालिया में जारी केन्याई सेना के अभियान के विरोध में यह हमला किया है। अलकायदा से जुड़े इस समूह ने कहा कि अगर केन्या ने सोमालिया से

अपनी सेना न हटाई तो वह और हमले करेगा। अब वक्त का तकाजा है कि अमन का संदेश देने वाले इसलामिक संगठन इन हमलों की कठोर शब्दों में निंदा करें। दरअसल इसलाम में या किसी भी अन्य मजहब में हिंसा के लिए कोई जगह हो ही नहीं सकती। महत्त्वपूर्ण है कि सोमालिया के दक्षिण में 2011 से करीब चार हजार केन्याई सैनिक चरमपंथियों से लड़ रहे हैं। जरा सोचिए कि उन बच्चों पर क्या गुजरी होगी, जो मॉल में हमले के वक्त शॉपिंग सेंटर में चिल्ड्रन डे मना रहे थे। तब वहाँ पर स्थानीय ईस्ट एफ.एम. रेडियो स्टेशन की ऑपरेशन डायरेक्टर जैस्मीन पोस्टवाला भी मौजूद थीं। दरअसल उस वक्त बच्चे एक कुकिंग कांटेस्ट में भाग ले रहे थे। भारतीय मूल की केन्याई सांसद सोनिया विरदी ने बताया कि कट्टरपंथी मॉल में बच्चों को भी नहीं बख्श रहे थे। मजहब के नाम पर खून-खराबा करनेवालों से सवाल पूछा जाना चाहिए कि बच्चों या बड़ों को मारकर उन्हें क्या हासिल होगा।

उधर, पाकिस्तान में चरमपंथी कत्लेआम करते वक्त कुछ देख भी नहीं रहे। अफसोस यह कि पाकिस्तानी सरकार इन पर लगाम नहीं लगा सकी। जरा गौर कीजिए कि केन्या के मॉल पर हमला करनेवाले संगठन अल-शबाब के सुरक्षा और प्रशिक्षण मामलों के सरगना पाकिस्तानी मूल के व्यक्ति को इस आतंकी काररवाई का मुख्य सूत्रधार माना जा रहा है। यानी कि पाकिस्तान से आतंकवाद का निर्यात भी हो रहा है। इस तथ्य को विश्व बिरादरी को नजरअंदाज नहीं करना चाहिए। यह ईसाई समुदाय पर पाकिस्तान में हाल के सालों में हुआ, सबसे बड़ा चरमपंथी हमला है। पाकिस्तान तालिबान से जुड़े एक चरमपंथी संगठन ने हमले की जिम्मेदारी लेते हुए कहा है कि ये कबायली इलाकों में हो रहे अमेरिकी ड्रोन हमलों का बदला है। दो आत्मघाती बम हमलावरों ने चर्च के भीतर दो अलग-अलग जगहों पर खुद को उड़ा लिया। इस हमले के बाद ईसाई समुदाय ने पेशावर समेत पाकिस्तान के कई हिस्सों में विरोध प्रदर्शन किए हैं। इनका कहना है कि हमले के बाद प्रांतीय सरकार का कोई मंत्री न तो घटना स्थल पर पहुँचा और न ही अस्पताल में घायलों का हालचाल लिया गया। लगता है कि पाकिस्तान में सरकार ने चरमपंथियों के आगे हथियार डाल दिए हैं। चरमपंथी जब चाहते हैं, जिसको चाहते हैं, मार देते हैं। सरकार को सुनिश्चित करना होगा कि पाकिस्तान से कट्टरपंथी भारत में घुसपैठ न कर पाएँ। उन्होंने मुंबई में जो किया था, उसे देश भूला नहीं है। भारत को हर तरह के कट्टरपंथ पर हल्ला बोलना होगा।

आज मजहब के नाम पर सबसे ज्यादा हत्याएँ कौन कर रहा है? और हिंसा में प्राण खोने वाले किस मजहब के हैं? क्या यह सत्य नहीं कि मजहब के नाम पर हिंसा करनेवाले और उस हिंसा के बदकिस्मत शिकार एक ही मजहब-इसलाम के हैं? दुनिया के किसी भी हिस्से में क्या कभी मजहब के नाम पर इस तरह एक ही संप्रदाय में हिंसक टकराव की इतनी घटनाएँ हुई हैं? कैथोलिक चर्च बनाम प्रोटेस्टेंट चर्च के बीच के हिंसक टकराव के एक कालखंड के अपवाद को छोड़ दें तो मजहब के नाम पर हिंसा दूसरे मतों-पंथों में नहीं हुई। अगस्त 2012 से अगस्त 2013 तक मिस्र में साल भर से हिंसा जारी रही तो दूसरी ओर सीरिया में अगस्त 2013 में उन दिनों रासायनिक हमले में 1300 लोग मारे गए। इन सारी जगहों पर मुसलिम अपने ही स्वधर्मियों का खून बहा रहे हैं। इस जानलेवा हिंसा के पीछे क्या प्रेरणा है? वह कौन सी विचारधारा है, जो इस विकृत मानसिकता को पुष्ट करती है? क्यों मिस्र, सीरिया, ईरान, इराक, अजरबैजान, अल्जीरिया, बहरीन, लेबनान, नाइजीरिया, बँगलादेश, पाकिस्तान आदि मुसलिम बहुल देश मजहबी हिंसा में झुलस रहे हैं? मिस्र की राजधानी काहिरा में एक मसजिद को मुसलिमों के एक गुट के कब्जे से मुक्त कराने के लिए सुरक्षा बलों को काररवाई करनी पड़ी। इस घटनाक्रम में सैकड़ों लोग मारे गए। कल्पना कीजिए, यदि भारत में ऐसी स्थिति आती तो क्या होता? फिलिस्तीन में इजराइली सेना के हाथों मारे जानेवाले मुसलिमों के लिए, जो स्वयंभू मानवाधिकारों और बुद्धिजीवी भारत की सड़कों पर नारेबाजी करते हैं,

वे आज मध्य पूर्व के देशों में फैले गृहयुद्ध पर खामोश क्यों हैं?

पूरी दुनिया की मुसलिम आबादी में सुन्नी 80-90 प्रतिशत हैं, जबकि शिया 10 से 20 प्रतिशत के बीच हैं। किंतु जहाँ कहीं भी शिया या सुन्नी बहुसंख्या में हैं, वे दूसरे को खत्म करने पर आमादा हैं। पाकिस्तानी संगठन सिपह-ए-मुहम्मद को ईरान सैन्य और वित्तीय संसाधन उपलब्ध कराता है तो सऊदी अरब सुन्नी देवबंदी, लश्करे झांगवी और वहाबियों को अकूत धन देकर हिंसा के लिए प्रेरित करता है। पाकिस्तान में हिंदुओं और सिखों की जनसंख्या विभाजन के समय 20 प्रतिशत से अधिक थी, जो आज दो प्रतिशत से भी कम रह गई है। या तो उनका बलात् धर्मांतरण कर उन्हें मुसलमान बना दिया गया या उन्हें पलायन के लिए मजबूर कर दिया गया। हिंदू और सिखों की संपत्तियों पर कब्जा करने के बाद अब मुसलिम समुदाय के गैर-सुन्नी मतों को निशाना बनाया जा रहा है।

पाकिस्तान में सुन्नियों के हाथों शियाओं की हत्याएँ रोज की खबरें बन गई हैं। जनवरी-फरवरी 2013 में ढाई सौ शिया मारे गए। क्वेटा में 12 जनवरी, 2013 को हुए शियाओं के नरसंहार के लिए अहल-ए-हदीस नामक जिहादी सुन्नी संगठन जिम्मेदार है, जिसे सऊदी अरब पोषित करता है। शिया जुल्फिकार अली भुट्टो को अपदस्थ कर मारने वाले सुन्नी जिया उल हक के शासन काल में मजहबी चरमपंथ को खूब पोषित किया गया है। जिया उल हक के समय में ही ईशनिंदा कानून बना, जिसके अंतर्गत इसलाम या अल्लाह पर प्रश्न खड़ा करनेवालों के लिए मौत की सजा निर्धारित है। यहाँ गौरतलब बात यह है कि शिया और सुन्नियों के बीच तनाव की वजह ही पैगंबर साहब के उत्तराधिकारी को लेकर है।

पाकिस्तान में सुनियोजित तरीके से इसलामी शासन के समर्थन और संरक्षण में जिहादी संगठन इसलाम को मानने वाले गैर-सुन्नी मतों के अहमदिया, बोहरा, कादियानी और शियाओं के सफाए में लगे हैं। जुलाई-अगस्त 2013 के पवित्र रमजान के दिनों में भी शियाओं का भारी संख्या में कत्ल होना मुसलिम समुदाय के ही दूसरे स्वधर्मी समुदाय की जिहादी मानसिकता का खुलासा करते हैं। बर्बरता की पराकाष्ठा देखें कि मृत शियाओं के पार्थिव शरीर को ढोने वाले एंबुलेंसों पर भी हमला किया गया। बलूचिस्तान में शियाओं पर हमलों की बारंबारता इतनी है कि अब वैसी खबरों को समाचार-पत्रों के पहले पन्ने पर जगह भी नहीं मिलती। मिस्र के तानाशाह शासक होस्नी मुबरक के अपदस्थ हो जाने के बाद कथित तौर पर कायम हुई प्रजातांत्रिक व्यवस्था इतनी जल्द ध्वस्त क्यों हुई? क्यों वहाँ अनवरत हिंसा जारी रही? वहाँ के जनमानस में यह तड़प उस व्यवस्था के लिए है, जहाँ इसलामी मान्यताएँ, परंपराएँ और शरीयत सर्वोच्च हो। मिस्र के हिंसक आंदोलन की कमान मुसलिम ब्रदरहुड के हाथ में है, जिसका घोषित लक्ष्य कुरआन को एक मात्र संविधान बनाना है।

पश्चिमी अफ्रीकी माले गणराज्य में सत्तारूढ़ इसलामी सरकार और कट्टरपंथियों के बीच हाल के दिनों में भयंकर संघर्ष देखने को मिलता रहा। सशस्त्र इसलामी चरमपंथियों से सरकार को बचाने के लिए फ्रांस को अपनी सैन्य टुकड़ियाँ भेजनी पड़ी थीं। नाइजीरिया में इसलामी शासन के दस्ते और बोको हराम नामक मजहबी चरमपंथी आंदोलन के बीच युद्ध चरम पर पहुँच गया था, जब सरकारी सेना ने आंदोलन के मुखिया को मार गिराया।

ओसामा बिन लादेन की हत्या के बाद आतंकवाद के समाप्त होने की आशा व्यर्थ है। अगस्त 2013 में ईद के मौके पर लाहौर के गद्दाफी स्टेडियम में लश्करे तैयबा के आतंकी व जमात उद दावा के प्रमुख हाफिज सईद ने ईद की नमाज की अगुवाई की। कई भारत विरोधी वीडियो हाफिज सईद के वायरल हो चुके हैं, जिसमें उसने भारत को धमकी देते हुए कहा, बहुत जल्द वह समय आएगा, जब कश्मीर, बर्मा और फिलिस्तीन के दबे-कुचले लोग आजादी की हवा में ईद मनाएँगे। कश्मीर घाटी से हिंसा के बल पर कश्मीरी पंडितों को खदेड़ना इसलामी

कट्टरवाद की असहिष्णुता की ही पुष्टि करता है। पाकिस्तान के तमाम जेहादी गुट खुलेआम भारत के खिलाफ घोषित युद्ध छेड़े हुए हैं, मिस्र से लेकर पाकिस्तान तक फैले इसलामी कट्टरवाद से जिहादी इसलाम का एक कटु सत्य रेखांकित होता है। 2003 में प्रकाशित 'द क्राइसिस ऑफ इसलाम' नामक अपनी पुस्तक में अमेरिकी विद्वान् बर्नार्ड लुइस ने लिखा है, "यदि स्वतंत्रता हारती है और आतंक विजयी होता है तो इसके सर्वाधिक और सर्वप्रथम शिकार इसलामी लोग होंगे। वे अकेले नहीं होंगे, दूसरे कई भी उनके साथ शिकार होंगे।" मिस्र, सीरिया, तुर्की, पाकिस्तान, इराक, ईरान, नाइजीरिया आदि में जो हिंसक घटनाक्रम चल रहा है, वह स्वधर्मी मुसलमानों के लिए एक संदेश है। जिहादी चरमपंथी इसलाम के जिस संस्करण को सच्चा बताते हैं, उस इसलाम को मानो या फिर मरने को तैयार रहो। इस जिहादी मानसिकता का शिकार दुनिया का सभ्य समाज हो रहा है, उससे भारत, यूरोप सहित विश्व के कई देश भी अछूते नहीं हैं। 12 दिसंबर, 2014 को इंटरपोल की रिपोर्ट प्रकाशित हुई, इस रिपोर्ट के मुताबिक 15,000 लोग सीरिया और इराक में ही अकेले आई.एस. से जुड़े, इंटरपोल की आतंकरोधी इकाई के उप-महानिदेशक जुआन फ्रासिंको हरास ने बताया कि अकेले फ्रांस से ही 1,000 लोग आई.एस. से जुड़ गए, ब्रिटिश से 500, ऑस्ट्रेलिया से 250 और जर्मनी से भी 250 लोग आई.एस. में शामिल हो गए, दिसंबर 2014 में ही बी.बी.सी. और इंटरनेशनल सेंटर फॉर स्टडी ऑफ रैडिकलाइजेशन के अनुसार प्रतिदिन जेहादी हिंसा में 168 लोगों की मौत होती है, नवंबर 2014 में अकेले ही 5,042 लोग जेहादी हिंसा में मारे गए, इनमें से अस्सी फीसदी मौतें अकेले चार देशों—इराक, नाइजीरिया, सीरिया और अफगानिस्तान में हुई, 7 जनवरी, 2015 में फ्रांस में इसलामिक आतंकी हमले में शार्ली शब्दों अखबार के कार्यालय में हमला हुआ, जिसमें संपादक स्टीफन कार्बोनियर सहित बारह पत्रकार मारे गए, इस अखबार ने मुहम्मद साहब के बारे में सुधारात्मक टिप्पणी की थी, इस घटना पर मेरठ के बसपा नेता हाजी याकूब कुरैशी ने ऐलान किया, वे आतंकवादियों को 51 करोड़ का ईनाम देंगे।

मलेशिया के प्रधानमंत्री मुहम्मद नजीब बिन तुन हाजी अब्दुल रजाक का मानना है कि मुसलमानों को बाहरी दुनिया से नहीं, बल्कि अपनों से ही सबसे बड़ा खतरा है, उन्होंने दुनिया भर के शांतिप्रिय मुसलमानों से कट्टरपंथियों के खिलाफ एकजुट होने का आह्वान किया। मलेशियाई पी.एम. ने संयुक्त राष्ट्र में दो टूक कहा कि हिंसा फैलाने के लिए इसलाम का गलत तरीके से इस्तेमाल किया जा रहा है।

रजाक का कहना था कि कट्टरपंथ पूरी दुनिया में बेवजह निर्दोष लोगों की बलि ले रहा है और आगे बढ़ने के अवसरों को समाप्त कर रहा है। मलेशिया के प्रधानमंत्री के अनुसार, "वैसे तो कट्टरपंथ सबको प्रभावित कर रहा है, लेकिन इसके चलते इसलाम धर्म में आस्था रखनेवाले सबसे ज्यादा नुकसान उठा रहे हैं।" मुसलमानों के अच्छे भविष्य के लिए रजाक ने कट्टरपंथियों के खिलाफ जंग छेड़ने की अपील की। कट्टरपंथी विचारधारा को परास्त करने के लिए उन्होंने आधुनिकीकरण पर विशेष जोर दिया। सितंबर 2013 को संयुक्त राष्ट्र अधिवेशन को संबोधित करते हुए रजाक ने कहा, "मेरा मानना है कि मुसलमानों के लिए सबसे बड़ा खतरा आज बाहर से नहीं है, बल्कि उनके अंदर से ही है।" उनका कहना था कि शिया और सुन्नी के बीच के संघर्ष ने सीरिया और लेबनान से लेकर इराक और पाकिस्तान के लाखों मुसलमानों की जिंदगी और आजीविका को खतरे में डाल रखा है।

प्रधानमंत्री रजाक के मुताबिक कट्टरपंथी अपने फायदे के लिए शांति और सहिष्णुता के सिद्धांत पर आधारित इसलाम धर्म की व्याख्या तोड़-मरोड़ कर करते हैं। उन्होंने कहा कि कट्टरपंथियों को हाशिए पर लाया जा सकता है। इसके लिए संयम और प्रतिबद्धता की जरूरत है, जो इसलाम में है। उन्होंने आगाह किया कि संयम को हमारी कमजोरी नहीं समझना चाहिए।

अक्तूबर 2013 के प्रथम सप्ताह में जम्मू-कश्मीर के केरन सेक्टर में सीमा पार से आतंकियों की घुसपैठ का प्रयास विफल करने के लिए भारतीय सेना को जिस तरह से जूझना पड़ रहा है, उससे न केवल इस घुसपैठ की गंभीरता का पता चलता है, बल्कि एक बार फिर यह स्पष्ट होता है कि पाकिस्तान, विशेषकर वहाँ की सेना के मामले में भारत को अपनी नीतियों पर नए सिरे से ध्यान देना होगा। क्योंकि प्रतिवर्ष भारत को सर्दी शुरू होने के पहले कश्मीर में पाकिस्तान प्रायोजित घुसपैठ का सामना करना पड़ता है। भारत के लिए उचित यही होगा कि वह पाकिस्तान से बातचीत का क्रम जारी रखते हुए, वहाँ की सेना को निगरानी के दायरे में लाने के लिए विश्व बिरादरी को राजी करने का प्रयास करे। अगर पाकिस्तानी सेना संयुक्त राष्ट्र की निगरानी सूची में आ जाती है तो कश्मीर में घुसपैठ की कोशिशों में उसकी संलिप्तता के सबूत सामने आते ही उस पर प्रतिबंध लगाना आसान हो जाएगा।

केरन सेक्टर में घुसपैठ की ताजा कोशिश भले ही आकार और गंभीरता में कारगिल जैसी न हो, लेकिन सीमा पार बैठे लोगों की नीयत और तौर-तरीके वही हैं, जो उस युद्ध सरीखे ऑपरेशन में अपनाए गए थे। तब पाकिस्तान ने आतंकियों की घुसपैठ के बहाने सियाचिन के आसपास सामरिक दृष्टि से बेहद महत्त्वपूर्ण ठिकानों को हथियाने की कोशिश की थी और इस बार भी कुछ वैसी ही कोशिश नजर आ रही है। पाकिस्तान की सेना खाली पड़े बंकरों पर कब्जा करके भारत पर दबाव बनाने की कोशिश की। जहाँ तक घुसपैठ का प्रश्न है तो यह एक तथ्य है कि इस मौसम में घुसपैठ की घटनाएँ हमेशा से होती आई हैं। सर्दियाँ आने के पहले आतंकवादी सीमा के अलग-अलग क्षेत्रों से कश्मीर में घुसने की कोशिश करते हैं और हर बार उन्हें पाकिस्तानी सेना से इस काम में मदद मिलती है, जो फायरिंग के जरिए उन्हें सुरक्षा कवर देने की कोशिश करती है। अकसर सीमा पर होनेवाली फायरिंग घुसपैठ की इसी कोशिश का हिस्सा होती है। पहले आतंकियों को मुख्य रूप से पाकिस्तान की खुफिया एजेंसी आई.एस.आई. की ही मदद मिलती थी और सेना बहुत सतर्कता के साथ इस खेल में शामिल होती थी, लेकिन अब देखने में आ रहा है कि सेना भी पूरी तरह आतंकियों की मदद करती है। इसके पीछे उसके अपने मकसद हैं। आतंकी, सेना और आई.एस.आई. की यह साझा नापाक कोशिश भारत के लिए हमेशा से एक खतरा रहा है।

पाकिस्तान की रणनीति कश्मीर मुद्दे का अंतराष्ट्रीयकरण करना है। वह ऐसा कोई मौका नहीं गँवाना चाहता, जब वह कश्मीर का मामला अंतरराष्ट्रीय मंचों पर न उठा सके। संयुक्त राष्ट्र महासभा के दौरान भी पाकिस्तान के प्रधानमंत्री नवाज शरीफ ने यही किया। यह सही है कि नवाज शरीफ के दल समेत पाकिस्तान के लगभग सभी राजनीतिक दलों ने पिछले चुनाव के प्रचार के दौरान कश्मीर का मुद्दा उठाने से परहेज किया था, लेकिन यह साफ नजर आ रहा है कि चुनाव जीतने और प्रधानमंत्री बनने के बाद नवाज शरीफ का रवैया बदल गया है। शरीफ एक तरफ तो यह कह रहे हैं कि वह भारत से बातचीत करना चाहते हैं और दूसरी तरफ अपनी सेना पर अंकुश भी नहीं लगा पा रहे हैं। दरअसल इसके पीछे कश्मीर को लेकर पाकिस्तान की दुर्भावना ही है। पाकिस्तान सेना और सरकार की रणनीति कश्मीर को अंतरराष्ट्रीय चर्चा में बनाए रखने की है। सीमा पर आतंकियों के साथ एक और लंबी मुठभेड़ यही बताती है कि पाकिस्तान की कोशिश एक ओर भारतीय सेना को उलझाने की है और दूसरी ओर वह कश्मीर को अंतरराष्ट्रीय चर्चा के केंद्र में लाने की है। वह यह भी समझते हैं कि भारत के पास पाकिस्तान से वार्त्ता करने के अलावा अन्य कोई विकल्प नहीं है। बातचीत में उनकी कोशिश व्यापार को सबसे अधिक प्रमुखता देने की है। उन्हें मालूम है कि भारत के साथ व्यापार बढ़ने से पाकिस्तान को तो फायदा होगा ही, उन्हें व्यक्तिगत लाभ भी होगा, क्योंकि उनका परिवार अनेक व्यापारिक गतिविधियों में शामिल है। भारत और पाकिस्तान के बीच आधिकारिक व्यापार भले ही बहुत कम है, लेकिन खाड़ी देशों के जरिए होनेवाला व्यापार चार-पाँच अरब डॉलर से

ज्यादा हो चुका है। अगर यह व्यापार सीधे होने लगे तो पाकिस्तान को बहुत लाभ होगा। यहाँ पर पाकिस्तान का अंतरविरोध भी सामने आता है। वहाँ की सरकार तो भारत के साथ व्यापार बढ़ाना चाहती है, लेकिन सेना को यह पसंद नहीं। सेना खुद को इसलामिक गणराज्य की सबसे बड़ी संरक्षक मानती है और भारत को दुश्मन नंबर एक। इसीलिए जब भी भारत और पाकिस्तान के बीच उच्च स्तरीय बातचीत की नौबत आती हो तो उसके पीछे घुसपैठ अथवा आतंकी हमले की घटनाएँ बढ़ जाती हैं। पाकिस्तान सेना ने एक बार फिर सीमा पर आतंकियों की घुसपैठ बढ़ा दी है और जो आतंकी वहाँ से प्रशिक्षण प्राप्त करके आ रहे हैं, वे कुछ समय जम्मू-कश्मीर में रुकने के बाद देश के अन्य हिस्सों में घुसने की कोशिश करेंगे।

अगर भारतीय सेना की बात करें तो स्वाभाविक रूप से घुसपैठ की ये घटनाएँ उसके लिए चिंता की बात है, लेकिन हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि हजारों किलोमीटर लंबी सीमा की निगरानी आसान बात नहीं है। हो सकता है कि इस निगरानी में कहीं कोई चूक रह जाती हो, लेकिन हमें सेना की स्थिति को भी समझना होगा। फिर भी अगर सेना की तैयारियों में कुछ कमियाँ हैं तो भारत सरकार को उन्हें दूर करने के लिए तत्काल प्रयास करने चाहिए।

सितंबर 2013 को तत्कालीन गृह मंत्री सुशील कुमार शिंदे ने राज्य सरकारों से कहा कि किसी निर्दोष मुसलिम युवक को आतंक के मामले में बंदी न बनाया जाए, क्या शिंदे को अपने ही पुलिस बलों तथा अन्य सुरक्षा एजेंसियों पर भरोसा नहीं है, क्या इसका अर्थ यह भी निकाला जाए कि गैर-मुसलिम निर्दोष को बंदी बनाने पर कोई आपत्ति नहीं है। केंद्रीय गृहमंत्री सुशील कुमार शिंदे के राज्य सरकारों को दिए गए इस सुझाव ने अनेक सवाल खड़े कर दिए थे। जहाँ तक आतंकवाद का मामला है तो उसमें मजहब का सवाल क्यों उठाया जाना चाहिए? आतंकवाद में यदि किसी अन्य समुदाय के लोग शामिल नहीं हैं तो क्या नाहक दूसरों को भी बंद करके सांप्रदायिक 'संतुलन' बनाया जाएगा? फिर बेल्जियम, स्पेन, जर्मनी आदि अनेक देशों में जेलों में बंद कैदियों में मुसलिमों की संख्या उन देशों की आबादी में मुसलिम अनुपात से काफी अधिक है। तो क्या यूरोपीय देशों में भी पुलिस ही गड़बड़ी कर रही है? हमारे नेतागण ऐसा खतरनाक खेल पहली बार नहीं खेल रहे। कहने को यह सब 'अल्पसंख्यक' कल्याण के लिए होता है, पर अब यहाँ अल्पसंख्यक शब्द ने अपना पारिभाषिक अर्थ खोकर एक विशिष्ट राजनीतिक-सांप्रदायिक अर्थ ग्रहण कर लिया है। चार दशक पहले ऐसा नहीं था। पर जनसांख्यिकी अनुपात जैसे-जैसे बदल रहा है, वैसे-वैसे यह राजनीतिक व्यवस्था को गिरफ्त में ले रहा है। यदि सुप्रीम कोर्ट और जनमत ने समय रहते इस प्रक्रिया को नहीं रोका तो अनर्थ हो सकता है।

सांप्रदायिक भेदभाव भरे निर्णय किस सिद्धांत पर हो रहे हैं? क्या यह उचित, न्यायपूर्ण, देश-समाज के हित में है? क्या यह संविधान के भी अनुरूप है? प्रश्न अटपटे लग सकते हैं, क्योंकि 'अल्पसंख्यकों' के लिए यह-वह करने के अभियान इतने नियमित हो गए हैं कि उन्हें सहज समझा जाने लगा है, किंतु वस्तुत: ये अभियान देश के लिए विघटनकारी हैं। भले ही राजीनतिक दलों और मतवादी बुद्धिजीवियों ने लोभ और वैचारिक झक में इसे सही मान लिया हो, लेकिन इससे इसका अन्याय, असंवैधानिकता और संभावित भयावह दुष्परिणाम छिपाया नहीं जा सकता। 'अल्पसंख्यक' के नाम पर बेहिसाब मनमानियाँ इसलिए भी चल रही हैं, क्योंकि संविधान ने इनकी पहचान करने में गड़बड़ी कर दी है। समस्या उसी से शुरू हुई, मगर उसने अब जो रूप ले लिया है, वह संविधान निर्माताओं के लिए ही नहीं, चार दशक पहले हमारे सांसदों के लिए भी अकल्पनीय था। क्या हम ब्रिटिश भारत के पहले और दूसरे दशक के इतिहास की पुनरावृत्ति करने लगे हैं, जिसमें अल्पसंख्यकों, मुसलिमों के लिए कांग्रेस,

ब्रिटिश हुकूमत ने घुटने टेक दिए थे। दूसरी बड़ी गड़बड़ी यह है कि अल्पसंख्यक की पूरी चर्चा में कहीं 'बहुसंख्यक' का उल्लेख नहीं है। संविधान में धारा-29 और 30 में अल्पसंख्यक संरक्षण करने का प्रावधान है, परंतु जब अल्पसंख्यक लिखित कानूनी धाराओं पर दिखते हैं, तब किसी अलिखित धारणा पर अनुमान में हमारे बुद्धिजीवी जो भी मानते हैं, वह संविधान में कहीं नहीं। भयंकर गड़बड़ियाँ इसी कारण हो रही हैं।

बुनियादी प्रश्न पूरी तरह और आरंभ से ही अनुत्तरित है, जैसे बहुसंख्यक कौन है? यदि मजहब, नस्ल, जाति और भाषा (धारा-29) अथवा केवल मजहब और भाषा (धारा-30) के आधार पर भी अल्पसंख्यक की पहचान करें तो तुलना में बहुसंख्यक किसे कहा जाएगा? फिर यह बहुसंख्यक और तद्नुरूप अल्पसंख्यक भी जिला, प्रांत या देश, किस क्षेत्राधार पर चिह्नित होगा? इन बिंदुओं को प्राय: छुआ भी नहीं जाता। न संविधान, न किसी सरकारी दस्तावेज, न सुप्रीम कोर्ट के किसी निर्णय में कोई 'बहुसंख्यक' नामक चीज कहीं दिखाई देती है। कोई 'अल्पसंख्यक' के रूप में अदालत का दरवाजा खटखटा सकता है, पर 'बहुसंख्यक' के रूप में नहीं, क्योंकि संविधान में उसका उल्लेख ही नहीं है।

इसका सीधा उत्तर है कि जानबूझकर 'अल्पसंख्यक' की धारणा को अस्पष्ट, अपरिभाषित रखा जा रहा है, ताकि मनचाही एकांगी अवधारणा विकसित की जा सकें। जबकि बहुसंख्यक का तो कहीं उल्लेख ही नहीं। इसलिए न उसके कोई अधिकार हैं, न कोई अन्याय। क्योंकि संविधान या कानून में उसका अस्तित्व ही नहीं। इस प्रकार देश की राजनीति और विधान में बहुसंख्यक के बिना ही अल्पसंख्यक अधिकार चल रहा है। अल्पसंख्यकों में भी केवल मजहबी अल्पसंख्यक, उनमें भी केवल एक चुने हुए अल्पसंख्यक को नित नई सुविधाएँ और विशेषाधिकार दिए जा रहे हैं। वह अल्पसंख्यक, जो वास्तव में सबसे ताकतवर है। फिर भी असली दबे-कुचले, उपेक्षित, निर्बलों की खोज-खबर नहीं ली जाती। संविधान में वर्णित 'अल्पसंख्यक' प्रावधान अपने अंतरविरोध व अस्पष्टता के चलते घटिया और देश विभाजक राजनीति का हथकंडा बनकर रह गया है। यह हथकंडा ही है। यह इससे दिखेगा कि 'अल्पसंख्यक' के मनमाने अर्थ को गलत बनाने अथवा उसकी एकाधिकारी सुविधाओं को खारिज करनेवाले सुप्रीम कोर्ट के निर्णयों को सरसरी तौर पर उपेक्षित कर दिया जाता है। जैसे—मजहबी आधार पर आरक्षण। न्यायाधीशों ने चेतावनी भी दी है कि यदि मात्र भिन्न धार्मिक विश्वास या कम संख्या या कम मजबूती, धन, शिक्षा, शक्ति या सामाजिक अधिकारों के आधार पर भारतीय समाज के किसी समूह के 'अल्पसंख्यक' होने का दावा स्वीकार किया जाता है तो भारत जैसे बहु-धार्मिक, बहु-भाषाई समाज में इसका कोई अंत नहीं रहेगा। न्यायाधीशों ने 'धार्मिक आधार पर अल्पसंख्यक होने की भावना को प्रोत्साहित करने' के प्रति विशेष चिंता जताई, जो देश में विभाजनकारी प्रवृत्ति बढ़ा सकती है। क्या हमारे अधिकांश नेता और मतवादी बुद्धिजीवी पूरे उत्साह से वही नहीं कर रहे हैं?

दुर्भाग्य से भारतीय राजनीति में पंथ-निरपेक्ष शब्द का गलत प्रयोग जारी है। यहाँ पंथ-निरपेक्षता अर्थात् धोखाधड़ी वाली धर्मनिरपेक्षता का अर्थ अल्पसंख्यकवाद है और अल्पसंख्यकवाद का अर्थ मुसलिम सर्वोपरिता। पंथ-निरपेक्षता अब सांप्रदायिक पाखंड है। अक्तूबर 2013 में जमीयत उलेमा हिंद के महासचिव मदनी के ताजा बयान से पाखंडी पंथ-निरपेक्षता बेपरदा हुई है। उन्होंने कथित पंथ-निरपेक्ष दलों की सांप्रदायिकता पर हल्ला बोला है कि ये दल नरेंद्र मोदी के नाम पर मुसलमानों को डराने से बाज आएँ। बात सही भी है। कांग्रेस, सपा, जद (यू) जैसे सत्तादल भी मोदी का हौवा खड़ा कर रहे हैं। इस दलतंत्र में मुसलिम वोटों को लेकर गलाकाट प्रतिस्पर्धा है। 2014 के लोकसभा चुनाव में अल्पसंख्यकवाद का मुद्दा सबसे बड़ा मुद्दा है, सुशासन, गरीबी, बेरोजगारी, कृषि, उद्योग,

भ्रष्टाचार और अर्थव्यवस्था जैसे राष्ट्रीय मुद्दे कमजोर रहे। मोदी का खौफ इन दलों की समान रणनीति रही। मदनी की बात में दम है, लेकिन मूलभूत प्रश्न यह है कि मुसलमान वोट बैंक की तरह इस्तेमाल ही क्यों होते हैं? वे मुसलिम हित, सुरक्षा या मुसलिम सर्वोपरिता की नारेबाजी में फँसकर सांप्रदायिक वोट बैंक बनते ही क्यों हैं?

यहाँ सेक्युलरिज्म इस तरह से बिहेव करता है कि सेक्युलर का मतलब विशेष आस्था वाले मुसलिम समुदाय को विशेष राजनीतिक समूह या विशेष लाभार्थी समूह के रूप में राजकीय मान्यता देने से है। सेक्युलर राष्ट्र-राज्य राज-काज संचालन में नागरिक का पंथ या मजहब नहीं देखते। संविधान ऐसी अनुमति नहीं देता। राजकोश संग्रह या कराधान में आस्था नहीं देखी जाती। किसी विशेष संप्रदाय पर राजकोश व्यय करने का अधिकार नहीं है, लेकिन भारत में हजयात्रा पर सब्सिडी है, मुसलिम बहुल गाँवों-नगरों के लिए विशेष बजट प्रावधान है। पूर्व केंद्रीय गृहमंत्री सुशील कुमार शिंदे ने अपने कार्यकाल के दौरान मुख्यमंत्रियों को आतंकवाद में मुसलिमों को न फँसाने के पत्र लिखे थे। पूर्व प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह भी राष्ट्रीय संपदा पर मुसलमानों का पहला अधिकार बता चुके हैं। बिहार के एक दलित नेता एक चुनाव में ओसामा बिन लादेन का प्रतीक लेकर निकले थे। पश्चिम बंगाल में मुसलिम धर्म गुरुओं के लिए वहाँ की सरकार ने मानदेय तय किए, यह अलग बात है कि न्यायालय ने इस फैसले पर रोक लगा दी, जिससे इसका क्रियान्वयन नहीं हो सका। उत्तर प्रदेश की अखिलेश सरकार ने योजनाओं में मुसलिम समुदाय के लिए 20 प्रतिशत आरक्षण और आतंकी आरोपियों के भी मुकदमा वापसी के प्रस्ताव किए। सरकार ने मृतकों के अंतिम संस्कार में भी सांप्रदायिक भेद किया। कब्रिस्तानों की बाउंड्री पर 300 करोड़ का प्रावधान हुआ। इसी राजनीति का नाम है सेक्युलरवाद।

सेक्युलरवाद भारतीय विचार नहीं है। यह विचार यूरोप से आया था। सत्ता पर नियंत्रण के लिए चर्च और राजाओं में संघर्ष हुआ। सितंबर 1870 में पोप के रोम पर इटली का अधिकार हो गया। इटली की संसद् ने ला ऑफ पेपर गारंटी पारित किया। पोप को उनका निवास और पड़ोसी क्षेत्र वेटिकन देकर सर्वोच्च शासक बनाया गया। बाकी रोम पोप नियंत्रण से अलग हो गया। फ्रांस ने भी सेक्युलर-भौतिक विषयों पर राजव्यवस्था के ही अधिकार का कानून बनाया। राज-काज में पोप, पादरी, मौलवी या आस्था से मुक्ति ही सेक्युलरवाद है, लेकिन भारत में आस्था के आधार पर राजकोश लुटाना और शासन को भी मजहबी आस्था से जोड़ना सेक्युलरवाद प्राय माना जाता है। भारत में आस्था और राजव्यवस्था का कभी कोई टकराव नहीं हुआ। भारतीय विचार में सभी आस्थाओं के प्रति श्रद्धा भाव रहा है। यही भारतीय सर्वपंथ समभाव है। मुसलमान यहाँ लंबे समय तक शासक रहे। उसके बाद अंग्रेजी राज रहा। फिर भारतीय संविधान तंत्र। मुसलमानों का उत्पीड़न इतिहास में कहीं नहीं मिलता, लेकिन कांग्रेस उन्हें डराती रही। यह भय कथित सेक्युलर दलों में है। वे अपने भय का हस्तानांतरण मुसलमानों में कर रहे हैं। विरोधी की आलोचना हरेक राजनीतिक दल का अधिकार है। कांग्रेस या अन्य कथित सेक्युलर दल मोदी की कार्यशैली, शासन या विकास की आलोचना कर सकते थे, लेकिन राजनीतिक अभियान को सांप्रदायिक रंग देना राष्ट्रतोड़क कारनामा है। कथित सेक्युलर दल अपने वोट अभियान व राजकीय प्रयोजनों में मुसलमानों को राष्ट्र से भिन्न संप्रदाय की तरह इस्तेमाल करते हैं।

संविधान निर्माताओं ने उद्देशिका में सेक्युलर शब्द नहीं रखा था। आपातकाल में इंदिरा गांधी ने सेक्युलर शब्द जुड़वाया। इसका अधिकृत अनुवाद पंथ-निरपेक्षता किया गया। धर्म, कर्म का पर्यायवाची है, आस्था का नहीं। प्रख्यात चिंतक रामविलास शर्मा मार्क्सवादी थे। संघी या भाजपाई नहीं। उन्होंने भी धर्म का अर्थ कर्म ही बताया है। इस तरह धर्म निरपेक्ष का अर्थ कर्महीन या कर्मनिरपेक्ष हुआ। राजनीतिक धर्मनिरपेक्षता सरासर धोखाधड़ी है। सच्चर

कमेटी को मुसलमानों की ही गरीबी आदि जाँचने का काम क्यों सौंपा गया? गरीबी राष्ट्रीय समस्या है, गरीबी पंथिक या मजहबी नहीं होती। मुसलमानों में ही गरीबी, बेरोजगारी खोजना कहाँ की पंथ-निरपेक्षता है। पुलिस काररवाई में आरोपित लोगों में मुसलमान ही खोजने और इसकी डुगडुगी बजाने का सेक्युलरवाद से क्या संबंध है? दंगों में मारे गए सभी लोग राष्ट्र नागरिक हैं। इनमें मुसलमान खोजकर आँकड़े जारी करने का पाप कौन सी पंथ-निरपेक्षता है?

पंथ-निरपेक्षता आखिरकार है क्या? क्या मजहबी अल्पसंख्यकवाद को पुरस्कार और शेष लोगों का तिरस्कार ही सेक्युलरवाद है? क्या सांप्रदायिक आधार पर अलग से तमाम सुविधाएँ देना ही पंथ-निरपेक्षता है? सभी नागरिकों के अधिकार एक समान हैं, लेकिन कांग्रेस ने अपनी समूची सत्ता में मजहबी अलगाववाद ही क्यों बढ़ाया? बेशक भारत का बहुसंख्यक समुदाय सांप्रदायिक रूप में असुरक्षा बोध है। मुजफ्फरनगर दंगे में एक ही संप्रदाय के विरुद्ध की गई काररवाई ने लोगों को चौंकाया है। सांप्रदायिकता निरपेक्ष नहीं होती। वह एकतरफा नहीं चलती। एक संप्रदाय की सांप्रदायिकता का असर दूसरे पर भी पड़ता है। सेक्युलर दलतंत्र को राष्ट्रीय एकता की परवाह नहीं। वे राष्ट्रीय एकता की जड़ों में डायनामाइट लगा रहे हैं। सांप्रदायिक खौफ, मजहबी तुष्टीकरण, लोभ और प्रलोभन की राजनीति से राष्ट्रीय एकता को खतरा है।

सितंबर 2013 में तत्कालीन संप्रग सरकार ने पहले ठंडे बस्ते में गया 'सांप्रदायिक और लक्षित हिंसा निरोधक विधेयक' कानून में बदलने की चेष्टा कर परिवर्तित विधेयक को संसद् में रखने का मन बनाया। शासकीय जिम्मेदारी उठाए वरिष्ठ कांग्रेस नेता ने इसकी जरूरत 'अल्पसंख्यकों' के हित में बताई। उनकी बात में स्पष्ट मत था कि मानो सांप्रदायिक हिंसा के शिकार केवल अल्पसंख्यक यानी मुसलमान ही रहे हैं। यही दर्शन उस विधेयक में भी हैं। सांप्रदायिक हिंसा रोकने के नाम पर यह ऐसे कानून का प्रस्ताव है, जो किसी सांप्रदायिक हिंसा के लिए सदैव 'बहुसंख्यकों' या हिंदुओं को दोषी मानकर चलेगा। यह कानून बन जाने पर किसी अज्ञात व्यक्ति की शिकायत पर भी कोई हिंदू गिरफ्तार किया जा सकेगा, यदि शिकायत सांप्रदायिक विद्वेष फैलाने की हो। मगर ऐसी शिकायत किसी 'अल्पसंख्यक' के विरुद्ध लागू नहीं होगी। अत: शुरू से ही किसी हिंदू को ही दोषी मानकर चला जाएगा। उसकी कोई टीका-टिप्पणी भी सांप्रदायिक हिंसा उकसाने जैसी बात मानी जाएगी, जो दंडनीय होगा इस प्रकार प्रस्तावित कानून स्थायी रूप से हिंदुओं के मुँह पर सदा के लिए ताला लगा देगा। इस विधेयक के अनुसार देश भर में सांप्रदायिकता पर निगरानी करनेवाला एक सर्वोच्च प्राधिकरण होगा। यह प्राधिकरण सांप्रदायिक हिंसा रोकने में विफलता आदि के लिए राज्य सरकारों तक को बर्खास्त कर सकेगा। इस प्राधिकरण में 'अल्पसंख्यक' अधिक संख्या में रखे जाएँगे, क्योंकि विधेयक की स्थायी मान्यता है कि हर हाल में, कहीं भी, कभी भी सांप्रदायिक हिंसा निरपवाद रूप से बहुसंख्यक ही करेंगे। अत: किसी सांप्रदायिक मामले की जाँच तथा निर्णय करनेवाली इस अथॉरिटी में गैर-हिंदू ही निर्णायक संख्या में होने चाहिए। इसमें यह कल्पना है कि हिंदू तो हिंदू दंगाई के लिए पक्षपात करेगा, किंतु गैर-हिंदू पक्षपात नहीं कर सकता। निस्संदेह स्वतंत्र भारत में सामुदायिक भेदभाव के आधार पर बनने वाला यह सबसे विचित्र कानून की अवधारणा थी। न्याय, सच्चाई और संविधान के साथ ऐसा भयंकर मजाक कौन लोग कर रहे हैं? क्या उन्हें भारत में सांप्रदायिक दंगों और हिंसा का इतिहास पता नहीं है? राष्ट्रीय एकता परिषद् में प्रस्तुत गृह मंत्रालय की एक रिपोर्ट के अनुसार देश में सन् 1968 से 1970 के बीच हुए 24 दंगों में 23 दंगे मुसलिमों द्वारा आरंभ किए गए थे। उसके बाद से आज तक हुई सांप्रदायिक हिंसा की भी लगभग वही तसवीर है। गोधरा से लेकर मऊ और मेरठ से लेकर मराड तक ऐसी हिंसा की शुरुआत क्या बहुसंख्यक समुदाय ने आरंभ

की? और पीछे चलें, तो अलीगढ़ दंगे (1978), जमशेदपुर (1979), मुरादाबाद (1980), मेरठ (1982), भागलपुर (1989), बंबई (1992-93) तथा 2013 के मुजफ्फरनगर में किसने शुरू किए थे? यह बुनियादी सच्चाई न केवल हर कहीं स्थानीय जनता जानती है, बल्कि जाँच आयोगों की रिपोर्टों में भी दर्ज है। जस्टिस जितेंद्र नारायण आयोग (जमशेदपुर दंगा), जस्टिस आर.एन. प्रसाद आयोग (भागलपुर दंगा) की रिपोर्टों में क्या पाया गया था? कड़वी सच्चाई यह है कि हर बार यहाँ बहुसंख्यक समाज को सांप्रदायिक हिंसा का भयानक दंश झेलना पड़ता है। यही स्वतंत्रता पूर्व भी होता था। तुर्की में खिलाफत खत्म होने (1921) पर यहाँ मोपला तथा अनगिनत स्थानों पर हिंदुओं को मारा गया। वह सब बार-बार देखकर महात्मा गांधी जैसे व्यक्ति को भी कहना पड़ा कि एक वर्ग स्वभाव से ही आक्रामक होता है। सांप्रदायिक हिंसा के संबंध में यह समकालीन सच्चाई गांधी ही नहीं, बंकिमचंद्र, श्री अरविंद, एनी बेसेंट, रवींद्रनाथ टैगोर, बाबा साहेब आंबेडकर, सरदार पटेल ने स्वीकार की, दंगे रोकने की चिंता और उसके कारणों का वास्तविक पता, तभी लगेगा, जब पहले देश में हुए प्रत्येक दंगे और हिंसा की पूरी जानकारी जनता के सामने रखी जाए। यह गिना जाए कि एक-एक दंगे की शुरुआत कैसे हुई, किसने की। तब स्वत: तय हो जाएगा कि समुदाय के आधार पर आगामी हिंसा से सुरक्षा किसको चाहिए? सच यह है कि कथित बहुसंख्यक होते हुए भी हिंदुओं का ही पीड़ित, शासित होना एक स्थायी स्थिति है। गांधीजी ने उसी को अपनी तरह से कहा था। ब्रिटिश शासन में भी कथित अल्पसंख्यक ही भारत के बहुसंख्यकों के उत्पीड़क थे। स्वतंत्रता पूर्व भारत में सांप्रदायिक दंगों का पूरा इतिहास इसकी अकाट्य गवाही है। डॉ. भीमराव आंबेडकर ने अपनी पुस्तक 'पाकिस्तान और भारत विभाजन' में अनगिनत दंगों का विस्तृत उल्लेख किया है। इसके अध्याय-7 से 12 तक पढ़कर स्वत: स्पष्ट हो जाएगा कि भारत में समुदाय के आधार पर कौन उत्पीड़क और कौन उत्पीड़ित रहा है। स्वतंत्रता-पूर्व भारत के दंगे खुले तौर पर एकतरफा होते थे, जिनका मतलब ही था—बहुसंख्यकों का संहार। यहाँ तक कि जिन्ना ने इस तथ्य का उपयोग भारत-विभाजन की माँग मनवाने के लिए ही किया, कि यदि पाकिस्तान की माँग न मानी गई तो मुसलिम लीग के 'डायरेक्ट एक्शन' (कलकत्ता 1946) जैसा सामूहिक संहार और किया जाएगा। जिन्ना ने घोषणा की थी, अब हिंदुओं का भी हित इसी में है कि वे पाकिस्तान की माँग स्वीकार कर लें और चाहे तो केवल हिंदुओं को कत्लेआम और विनाश से बचाने के लिए ही। क्या ऐसे अहंकारी बयान स्वयं नहीं बताते कि सामुदायिक बल पर हिंसा कौन करता और कौन झेलता है? जवाहरलाल नेहरू ने भी मुसलिम लीग की पहचान यही बताई थी कि वह 'सड़कों पर हिंदू-विरोधी हिंसा करने के सिवा और कुछ नहीं करती।' विभाजन से पहले भारत में सांप्रदायिक दंगों के पीड़ित समुदाय का एक ही अर्थ था—बेचारे हिंदू! मगर विभाजन के बाद के भारत में भी स्थिति मूलत: नहीं बदली। कश्मीर से पूर्णत: और असम, केरल, पश्चिम बंगाल तथा पश्चिमी उत्तर प्रदेश के कुछ जिलों के कई इलाकों से अंशत:केवल हिंदू ही मारकर भगाए गए। अभी भारत में हजारों ऐसे इलाके और बस्तियाँ हैं, जहाँ पुलिस जाने तक से डरती है। इनमें शायद कोई हिंदू बस्ती नहीं है। जिस अल्पसंख्यक वर्ग में देश का विभाजन करा देने और उसके बाद भी हिंसा के बल पर भारत के इलाके-दर-इलाके खाली कराने की क्षमता हो वह कतई पीड़ित, विवश या भयाकुल नहीं माना जा सकता। वास्तव में दिनोदिन अल्पसंख्यक ताकत का दबाव भारतीय सामाजिक, राजनीतिक, कानूनी, शैक्षिक आदि क्षेत्रों में बढ़ता जा रहा है। सरकार द्वारा विधेयक के मसौदे की तैयारी भी इसी का संकेत है। अधिकांश नेता, नीति-निर्माता यह जानते हैं, किंतु वोटों के लालच के चलते बोलते उल्टा ही हैं। यह विचित्र दुरभिसंधि एक खतरनाक संकेत है। यद्यपि यह बिल संसद् में पारित नहीं हो सका, लेकिन यह कांग्रेस सरकार की कुत्सित मानसिकता को दरशाता ही है।

अक्तूबर 2013 में कांग्रेस प्रवक्ता पी.सी. चाको ने कहा है कि हमारे तमाम वैचारिक मतभेदों के बावजूद मुझे मानना होगा कि कम्युनिस्ट पार्टियों ने सांप्रदायिकता पर सदैव एक सुसंगत रुख रखा है। भाजपा का जो रुख हो, कम्युनिस्ट पार्टियों ने सदैव उसका विरोध किया है। इस लिहाज से हम करीब हैं। चाको की बात में सांप्रदायिकता की एक विचित्र परिभाषा झलकती है। मुसलिम लीग, जमाते-इसलामी, सिमी, इंडियन मुजाहिदीन, लश्करे-तैयबा आदि अनेक संगठनों को सांप्रदायिक नहीं गिना जाता। भारत विभाजन कराने वाली मुसलिम लीग केरल में कांग्रेस की सत्ता-साझेदार रही है। स्वतंत्र भारत में लीग को कांग्रेस ने ही राजनीतिक पुनर्जीवन दिया। उसी केरल से इसका आरंभ हुआ, जहाँ से चाको आते हैं। तब कांग्रेस को कम्युनिस्टों का अपने करीब लगना स्वाभाविक है। अविभाजित भारत में भी इसलामी अलगाववाद को सेक्युलर जामा पहनाने का काम मार्क्सवादियों ने ही किया था। इसलाम की तरफ से बौद्धिक तर्क गढ़ने, प्रचारित करने का काम उनका ही था। डॉ. राममनोहर लोहिया ने मुसलिम लीग के 'पाकिस्तान-प्रस्ताव' पर कम्युनिस्ट नीति का मूल्यांकन इन शब्दों में किया था, भारतीय मार्क्सवादियों ने भारत विभाजन का समर्थन इस आशा में किया था कि उन्हें नए देश पाकिस्तान में मजबूत आधार मिल जाएगा, भारतीय मुसलमानों में उनका प्रभाव फैलेगा। यद्यपि उनका आकलन गलत साबित हुआ, भारतीय मुसलमानों के बीच उन्हें जहाँ-तहाँ थोड़ा प्रभाव हासिल हुआ और हिंदुओं में उनके प्रति कोई भारी क्रोध पैदा नहीं हुआ। कट्टरता के प्रति आज चल रही कम्युनिस्ट नीतियों के लिए लोहिया का मूल्यांकन सटीक बैठता है।

कम्युनिस्ट पार्टी ने ही 'मुसलमानों के आत्मनिर्णय का अधिकार' नामक सिद्धांत गढ़ा। उसके लिए कम्युनिस्ट पार्टी ने देश में आंदोलन चलाया। अपने कार्यकर्ताओं को मुसलिम लीग में शामिल होने के लिए भेजा। अंततः कम्युनिस्ट पार्टी में सक्रिय कई मुसलिम लेखक, शायर पाकिस्तान बनने पर वहीं चले भी गए। कश्मीर से विस्थापित लेखिका क्षमा कौल के अनुसार उन्होंने एक बार एक बड़े मार्क्सवादी लेखक-संपादक को कश्मीर की स्थिति के बारे में विस्तार से बताया। पूरी समस्या समझ लेने और किसी संदेह की गुंजाइश न बचने के बाद मार्क्सवादी ने रास्ता सुझाया, क्यों नहीं सभी हिंदू इसलाम ही कबूल कर लें। एक प्रसिद्ध वामपंथी कवि ने संसद् पर हमला करनेवाले आतंकी मुहम्मद अफजल की तुलना भगत सिंह से की थी। उन्होंने यह भी सुझाया कि भारत को कश्मीर अपनी ओर से पाकिस्तान को दे देना चाहिए। ऐसी बातें कहने वाले वे अकेले कम्युनिस्ट नहीं हैं, बल्कि कई वामपंथी सोच वाले बुद्धिजीवी इसी तरह का दृष्टिकोण रखते हैं। अफजल को फाँसी की सजा के विरोध में दिल्ली धरने पर बैठे महानुभावों में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के महासचिव ए.बी. वर्धन भी शामिल थे। कश्मीर पाकिस्तान को देने की वकालत एक मार्क्सवादी अर्थशास्त्री भी कर चुके हैं।

मुंबई में 2008 में हुए जिहादी हमले पर भी उन्होंने वही नीति दिखाई। संसद् में मार्क्सवादी नेता ने हमलों की भर्त्सना के बजाय भारत द्वारा अमेरिका के साथ रणनीतिक संबंध को दोषी ठहराया। उनका आशय था कि जो कार्य इसलामी ताकतों को पसंद न हो, वह क्यों करें? यदि भारत वैसा करेगा तो जिहादी हमला होगा ही। यानी भारत को अपनी विदेश नीति विश्व भर के इसलामियों की इच्छा के अनुसार रखनी चाहिए। अन्य उदाहरण भी वही दिखाते हैं। तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति क्लिंटन की भारत यात्रा के दौरान यहाँ सभी विरोध प्रदर्शन खुली मुसलिम-कम्युनिस्ट लामबंदी थी। उनके अमेरिका विरोधी नारों में भारतीय हित कहीं नहीं थे। केवल विश्व-इसलामी माँगें थीं। डेनमार्क का विरोध, इजराइल का विरोध, इराक में अमेरिकी उपस्थिति का विरोध तथा अमेरिकी-यूरोपीय नेताओं के विरुद्ध भड़काऊ, घृणित नारे व चित्रांकन ही उन प्रदर्शनों में छाया हुआ था। हिंसा और सांप्रदायिक घृणा का खुला प्रदर्शन करनेवाले उन प्रदर्शनों में वही कम्युनिस्ट बड़े उत्साह से शामिल थे, जो संघ-परिवार की 'हेट स्पीच' के

विरुद्ध बयानबाजियाँ करते हैं। भारतीय मार्क्सवादियों का हिंदू-विरोध स्वाभाविक रूप से भारत-विरोध में बदल जाता है।

यह विडंबना है कि जिन मार्क्सवादियों ने भारी बुद्धि लगाकर भारत का इसलामी-मजहबी विभाजन कराया उन्हें सांप्रदायिकता-विरोधी कहा जाता है। मार्क्सवादी इतिहासकारों द्वारा इसलामी इतिहास की लीपा-पोती का लक्ष्य भी वही रहा है। मार्क्सवादियों और कांग्रेस ने भी इतिहास से कुछ नहीं सीखा। यदि ऐतिहासिक अनुभवों के बाद भी कांग्रेस और कम्युनिस्ट फिर इसलामी कट्टरता को हवा दे रहे हैं तो कारण क्या है? निष्कर्ष एक ही सामने आता है कि कम्युनिस्ट मानस में हिंदू-द्वेष इतना गहरा है कि इसके लिए वह किसी भी चीज का समर्थन करने पर उतारू रहती है। यद्यपि कम्युनिस्ट लोग पहले भी इसलाम के प्रति विशेष झुकाव रखते थे, किंतु सोवियत विघटन के बाद यह और बढ़ गया। भारत ही नहीं, कई देशों में मार्क्सवादियों ने अब अपनी शक्ति इसलाम को समर्पित कर दी है। डेविड हेरोवित्ज की पुस्तक 'अनहोली एलायंस : रेडिकल इसलाम एंड द अमेरिकन लेफ्ट' (2006) में इसका प्रामाणिक आकलन है। पचास वर्ष के अनुभव के आधार पर हेरोवित्ज ने यह पुस्तक लिखी है। अंध-अमेरिका विरोध के नाम पर सारे कम्युनिस्ट अयातुल्ला खुमैनी, गद्दाफी, सद्दाम आदि का समर्थन करते रहे हैं। जागरूक लोगों को इसके प्रति सतर्क होना चाहिए। अन्यथा छह-सात दशक पहले का इतिहास पुन: अपने को दोहरा सकता है। भारत अब और विभाजन झेल कर जीवित नहीं रह सकेगा। हमें सबसे घातक सांप्रदायिकता को पहचानना होगा। गौर करनेवाला तथ्य यह है कि कभी कम्युनिस्टों को विश्व भर के कई देशों में हो रहे हमले दिखाई नहीं दे रहे हैं, वे इनके प्रति आँख कान बंद किए हुए है, उन्हें केवल इजराइल, अमेरिका, ब्रिटेन ही अपराधी दिखाई देता है, जे.एन.यू. कैंपस में खुलेआम भारत विरोधी नारे लगाने वालों के समर्थन में कम्युनिस्टों ने कई बार धरने देकर सरकार पर दबाव डालकर काररवाई करने से रोकने की कोशिश की।

तत्कालीन भारतीय विदेश मंत्री जसवंत सिंह को आज भी वह घटना शायद सताती होगी, जब उन्होंने जेलों में बंद तीन आतंकवादियों को रिहा कराके विशेष विमान से कंधार के हवाई अड्डे पर ले जाकर तालिबानी शासन के तत्कालीन विदेश मंत्री मुल्ला वकील अहमद मुतवकील को सौंप दिया था। बाद में मुतवकील को अमेरिकी सेना ने बंदी बना लिया था। नवंबर 2013 में वित्तमंत्री पी. चिदंबरम तालिबानी नेता मुल्ला अब्दुल सलीम जईफ का स्वागत करने और उससे बातचीत करने गोवा पहुँचे। अफगानिस्तान में अमेरिकी हमले से पहले तक जईफ पाकिस्तान में तालिबान का राजदूत था। बाद में इसे भी अमेरिका ने चार साल तक क्यूबा की गुआंतेनमो जेल में बंद रखा। स्पेन में जनमे अमेरिकी दार्शनिक जॉर्ज सांतायाना की चेतावनी खासतौर पर भारत के लिए सटीक है—जो अतीत को याद नहीं रखते, वे इसे दोहराते हैं। भारत की ऊटपटांग व्यक्ति केंद्रित कूटनीति स्वतंत्रता के बाद से जारी है और भारत अपनी गलतियों से कोई सबक नहीं सीख रहा है। 1999 में जैसे ही आई.सी.-814 उड़ान का अपहरण कर उसे कंधार में उतारा गया, वैसे ही जसवंत सिंह ने मीडिया के सामने घोषणा की कि यह तालिबान और उसके प्रायोजक पाकिस्तान को एक-दूसरे के विरोध में खड़ा करने का एक अच्छा अवसर देख रहे हैं। वास्तव में वह आधुनिक विश्व इतिहास में अब तक की सबसे अधम घटना की भूमिका तैयार कर रहे थे—एक विदेश मंत्री तीन आतंकियों को आतंकियों के इलाके में ले जाकर उन्हें शर्मनाक तरह से मुक्त कर दें।

गोवा में तालिबान दूत की यात्रा के महत्त्व के बारे में तब प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने और उनके सलाहकारों ने देश को बताया कि तालिबान के साथ व्यवहार बढ़ाने से कुख्यात लड़ाकुओं और पाकिस्तान को एक-दूसरे के खिलाफ भिड़ाने में मदद मिलेगी और अफगानिस्तान से अमेरिका की विदाई के बाद वहाँ खाली होनेवाली

कूटनीतिक जगह को भरने में सहायता मिलेगी। मनमोहन सिंह के नीति-नियंता यह कहना चाहेंगे कि वे पाकिस्तान के प्रधानमंत्री के विशेष दूत सरताज अजीज तथा कश्मीरी अलगाववादी नेताओं के बीच वार्त्ता कराकर पाकिस्तान और जम्मू-कश्मीर में 'स्वतंत्रता सेनानियों' के बीच मतभेद पैदा करना चाहते हैं। भारत ने बलूच नेताओं को तो वीजा जारी नहीं किया, किंतु आई.सी.-814 का अपहरण करनेवाले आतंकियों के स्वागत में झुक गई। यही नहीं भारत के दौरे पर आए सरताज अजीज और पाकिस्तानी उच्चायुक्त की अलगाववादी नेताओं यासीन मलिक और हुर्रियत काउंसिल के अध्यक्ष मीर वाइज उमर फारुख के बीच वार्त्ता कराने की भारत सरकार ने व्यवस्था की। इन दोनों मामलों में पहले से ही हाशिए पर डाल दिए गए विदेश मंत्रालय को दरकिनार किया गया। अमेरका ने इस दौरान भारत-पाक संबंधों को सुधारने पर भी जोर दिया। उदाहरण के लिए अक्तूबर 2013 में न्यूयॉर्क में मनमोहन सिंह-नवाज शरीफ मुलाकात का अमेरिका ने खुलकर समर्थन किया था। इस बैठक से तुरंत पहले पाकिस्तानियों ने भारतीय सैनिकों को मौत के घाट उतारा था और भारत के जलालाबाद में सैन्य शिविर पर आतंकी हमला हुआ था। यही नहीं इस वार्त्ता में विपरीत प्रभाव रोकने के लिए मनमोहन सिंह ने भारत के केरन क्षेत्र में पाकिस्तानी सेना की उन्हीं दिनों चल रही घुसपैठ को भी छुपाया था। वास्तव में सितंबर के अंत में मनमोहन सिंह के राजकीय दौरे की पूर्व संध्या पर व्हाइट हाउस ने 23 अक्तूबर, 2013 को इसी प्रकार के दौरे के लिए नवाज शरीफ को आमंत्रित किया था। दक्षिण एशिया में क्षेत्रीय संतुलन कायम करने और भारत-पाकिस्तान के बीच वार्त्ता जारी रखने की जरूरी बताने संबंधी ओबामा-शरीफ का संयुक्त बयान नई दिल्ली के लिए किसी बम धमाके से कम नहीं है। पाकिस्तान को वैश्विक आतंकवाद की धुरी मानने के मनमोहन सिंह के अनुरोध को दरकिनार करते हुए बराक ओबामा ने आतंकियों को परास्त करने के लिए इस्लामाबाद के फॉर्मूले पर मुहर लगा दी। उन्होंने अफगान शांति प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने के लिए जरूरी साझेदार बताकर पाकिस्तान की तारीफ भी की।

तालिबान के साथ शैतानी मोल-भाव की योजना को उचित ठहराने के लिए ओबामा टीम ने अलकायदा और तालिबान के बीच अंतर भी बताया। यही नहीं, यह इस करार के लिए तैयार होनेवाले तालिबान को अच्छे तालिबान और करार की खिलाफत करनेवाले को बुरे तालिबान के बीच भी बाँट रही है। जईफ एक 'अच्छा' आतंकवादी है, इसीलिए जसवंत सिंह के दोस्त मुतवकील की तरह उन्हें भी काबुल में रहने के लिए एक शानदार बँगला दिया गया है। अमेरिका ने कतर में तालिबान के कूटनीतिक मिशन की स्थापना करने और कथित कुछ 'अच्छे' आतंकियों को बर्लिन से लेकर टोक्यो तक की सैर कराने में सहायता प्रदान की। अब अपने प्रयासों को वैध ठहराने के लिए अमेरिका ने तालिबान कमांडर को भारत भेजा है।

अफगान युद्ध के अपने प्रमुख विरोधी तालिबान को अपने पक्ष में लाने के प्रयास में अमेरिका यह भूल रहा है कि वह एक आतंकी समूह को वैधता प्रदान कर रहा है, जो अपने नियंत्रण क्षेत्र में मध्यकालीन युग के कायदे-कानून लागू करना चाहता है। यह अमेरिकी नीति की लंबे समय से चली आ रही कमजोरी की ही कड़ी है—क्षेत्र में अपने मित्रों के हितों को दरकिनार करते हुए अपने संकीर्ण लक्ष्यों की पूर्ति करना। तालिबान, अलकायदा और लश्करे तैयबा जैसे समूहों की आत्मा को अलग-अलग करना संभव नहीं है। ये सब मिलकर वैश्विक जेहाद सिंडिकेट का निर्माण करते हैं। एकमात्र अंतर यह है कि अलकायदा पाकिस्तान स्थित पहाड़ों की गुफाओं से अपनी गतिविधियाँ संचालित करता है, जबकि तालिबान और लश्करे तैयबा पाकिस्तान की पश्चिमी और पूर्वी सीमाओं से खुलेआम अपनी गतिविधियाँ चलाते हैं। इस त्रिमूर्ति में से किसी के भी साथ समझौता करने से अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद में वृद्धि ही होगी। क्योंकि तीनों का वैचारिक अधिष्ठान मजहबी कट्टरपंथ ही है, जहाँ तक भारत का

सवाल है जईफ की खातिरदारी करके भारत ने दिखा दिया है कि उसकी विदेश नीति दिशा, गति और सिद्धांतों से विमुख हो चुकी है। जब मानवाधिकार हनन के मुद्दे पर विरोध जताने के लिए मनमोहन सिंह की श्रीलंका यात्रा रद्द करने की घोषणा की जा रही थी, उसी समय उनकी सरकार तालिबान माफिया का स्वागत करने में जुटी थी। इस दावे के उलट कि भारत में विदेश नीति क्षेत्रीय क्षत्रपों की बँधुआ हो रही है, ये दोनों फैसले कांग्रेस पार्टी ने अपने वोट बैंक को ध्यान में रखते हुए लिये थे।

क्या यह अजीब नहीं कि मुसलिम समाज में सुधारों की आवाज उठाने में महिलाएँ आगे हैं। पाकिस्तान, बँगलादेश आदि से लेकर ईरान, सऊदी अरब, यूरोप, अमेरिका तक सुधारवादी मुसलमानों के बीच निर्भीक स्वर स्त्रियों का ही है। यह इसलामी रीति-रिवाजों में पुनर्विचार की जरूरत पर बल देता है। इसलिए अब तसलीमा नसरीन को अपवाद रूप में नहीं लिया जा सकता। उनकी तरह ही अय्यान हिरसी अली, वफा सुल्तान, असरा नोमानी, मुख्तारन माई, अमीना वदूद, मोना एलताहावी, नोनी दरवेश, मलाला, बसमा बिन सऊद आदि की आवाजें मुखर हो रही हैं। अब इन्हें अज्ञानी, इसलाम विरोधी और अमेरिकी एजेंट कहकर झुठलाया नहीं जा सकता। बसमा तो स्वयं सऊदी राजपरिवार की है। आज नहीं तो कल मुसलिम नेताओं, उलेमाओं और आलिमों को उन पर गंभीर विचार करना ही होगा। धमकी या हिंसा के बल पर किसी को कब तक चुप किया जा सकता है?

अक्तूबर 2013 में तसलीमा नसरीन ने कहा था कि भारतीय नेता पिछले साठ साल से केवल कट्टरपंथी मुल्ले-मौलवियों को तरजीह देते रहे हैं, जो न संविधान की परवाह करते हैं, न अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और न ही मानव अधिकारों की। उसी तरह, बेनजीर की बेटी और लेखिका फातिमा भुट्टो ने कहा कि अदंरूनी हिंसा से पाकिस्तान खत्म हो सकता है इसलिए सहिष्णुता के मूल्य को अपनाना जरूरी है। ये बातें किसी इसलाम के दुश्मन के विरुद्ध नहीं, बल्कि स्वयं मुसलिम समाज की अपनी प्रवृत्ति के खिलाफ लक्षित हैं। विभिन्न देशों में, विभिन्न स्थितियों में मुसलिम स्त्रियों ने समान रूप से कड़वे सच का अनुभव किया है। यह समानता उनके निष्कर्षों को गंभीरता से लेने को मजबूर करती है। संक्षेप में, उनकी बातों में तीन बिंदु मुखर हैं। इसलाम में स्त्रियों की दशा, इसलामी देशों में गैर-मुसलिमों की दशा तथा मुसलिम नेताओं, प्रवक्ताओं द्वारा हर बात पर हिंसा का सहारा लेने की प्रवृत्ति। ईरान से लेकर सूडान और बँगलादेश से लेकर अमेरिका तक मुसलिमों में ये तीन कमजोरियाँ कमोबेश एक समान झलकती हैं। मुसलिम स्त्रियाँ सारी दुनिया के मुसलमानों से इन्हीं प्रवृत्तियों को सुधारने की माँग कर रही हैं।

निस्संदेह अपनी हक की आवाज उठाने वाली महिलाओं को धमकियाँ दी जा रही हैं। न केवल मुसलिम देशों में बल्कि इंग्लैंड, अमेरिका, भारत और कनाडा जैसे देशों में भी इन स्त्रियों पर इसलामी कट्टरपंथियों द्वारा जानलेवा हमले किए गए हैं। फिर भी वे निर्भीक होकर अपने समुदाय का विवेक जगाने का प्रयत्न कर रही हैं। यह गैर-मुसलिम उदारवादियों का कर्तव्य है कि वे उन्हें सहयोग दें। इसलिए तसलीमा का भारत संबंधी बयान और भी सामयिक हो जाता है।

तात्कालिक रूप से किस बात ने तसलीमा को प्रेरित किया यह तो बयान में नहीं, किंतु अरविंद केजरीवाल द्वारा दिल्ली विधानसभा चुनाव के दौरान कट्टरपंथी मौलाना तौकीर रजा से समर्थन माँगने के संदर्भ में इसे देखा गया था, आखिर कोई नेता हिंसक फतवे देने वाले उलेमा के बदले पूर्व राष्ट्रपति अब्दुल कलाम जैसे मुसलिम को महत्त्व क्यों नहीं देता? एक बार कनाडियन लेखिका इरशद माँझी ने ऑक्सफोर्ड में कहा था—मुसलिम विद्यार्थियों, प्रोफेसरों तथा बुद्धिजीवियों से कहा कि मुसलिमों को धमकी और शिकायत का रवैया छोड़कर आत्म अवलोकन और खुले विचार-विमर्श पर उतरना चाहिए। माँझी के अनुसार यह तर्क गलत है कि आर्थिक रूप में दूसरों से

कमजोर होने के कारण मुसलिम युवकों में आक्रोश है। इरशद ने गाजा इजराइल में इसलामी जिहाद के नेता से पूछा था कि आत्महत्या और शहादत में क्या अंतर है, तो उत्तर मिला कि आत्महत्या तो निराशा में की जाती है, जबकि शहीद होनेवाले हमारे लड़के अपनी दुनियावी जिंदगी में बड़े सफल रहे हैं। इंजीनियर, डॉक्टर आदि। कई आतंकियों के पास अपना सफल रोजगार था, फिर भी वे आतंकी कार्रवाइयाँ करते या उन्हें सहयोग देते हैं। अधिकांश उदाहरण बताते हैं कि मुसलिमों की आर्थिक कमजोरी आतंकवादी बनने का कोई कारण नहीं है। यदि मान भी लें कि किन्हीं कारणों से मुसलिम युवा खुद को दूसरे समुदायों से अलग-थलग पाते हैं, जिससे उन्हें बहकाना संभव होता है, किंतु यह सच नहीं कि उस हिंसा में कुछ भूमिका मजहब की भी है? मुसलिम प्रवक्ताओं के मुताबिक जिहादी आतंक से इसलाम का कोई लेना-देना नहीं। जबकि स्वयं आतंकी डंके की चोट पर इसके उलट अपनी बात कहते हैं। ओसामा बिन लादेन ने 15 वर्ष पहले सऊदी अरब के शाह फहद को लिखा था कि मुख्य विवाद इसलाम के अनुसार चलने या न चलने का ही है।

मुसलिम स्त्रियों के मुताबिक यह जरूरी नहीं कि इसलामी मूल स्रोतों से उन नकारात्मक आवाजों को मिटा दिया जाए। केवल यह मान लिया जाए कि ऐसी कुछ चीजें उसमें हैं, जो हानिकारक संदेश देती हैं, बस। मुसलिम समाज द्वारा यह स्वीकार कर लेना वही कार्य होगा, जो अपने वैचारिक स्रोतों के बारे में यहूदी और ईसाई समुदाय पहले ही कर चुका है। इरशद और तसलीमा जैसी आवाजें कहती हैं कि यदि मुसलमान अपनी ऐसी कमजोरी मान लें तो यह बड़ा रचनात्मक कदम होगा। यदि मुसलिम समुदाय अपने वैचारिक स्रोतों के एक मात्र सत्य या त्रुटिहीन होने की जिद छोड़ दें तो उसमें विवेकशील चिंतन स्वत: आरंभ हो जाएगा। तब उन्हें यह मानने में संकोच नहीं होगा कि दुनिया में कई तरह के लोग व विश्वास प्रणालियाँ मौजूद हैं और रहेंगे। इसलिए दुनिया को हरेक चीज रीति-रिवाज, चाल-चलन, शासन-कानून आदि का इसलाम के अनुरूप होना या बनाया जाना जरूरी नहीं। यह मानसिकता बनने पर ही दूसरे समुदाय के साथ 'जियो और जीने दो' की भावना सहज रूप लेगी। जब तक मुसलमान अपनी जिद ठाने रहेंगे, समस्या बनी रहेगी।

न्यूयॉर्क में 11 सितंबर की आतंकी तबाही के बाद लेखक सलमान रुश्दी ने भी पूछा था कि जिस मजहबी विश्वास में मुसलमानों की इतनी श्रद्धा है, उसमें ऐसा क्या है, जो सब जगह इतनी बड़ी संख्या में हिंसक प्रवृत्तियों को पैदा कर रही है? ऐसे प्रश्नों पर चर्चा नहीं होती। मगर मुसलिम समाज की आंतरिक समस्याओं की जड़ में भी यही सवाल है।

नवंबर 2013 में तत्कालीन सपा प्रमुख मुलायम सिंह यादव ने देश के विभाजन के लिए कांग्रेस को कसूरवार बताया। दूसरी ओर प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने भारतीय जनता पार्टी पर देश के इतिहास और भूगोल से खिलवाड़ करने का आरोप लगाया है। वास्तव में इतिहास और भूगोल के साथ खिलवाड़ तो कांग्रेस करती रही है। भारत का एक-तिहाई भू-भाग 1947 के देश विभाजन की भेंट चढ़ गया। कश्मीर के एक तिहाई हिस्से में पाकिस्तान का अवैध कब्जा है तो 1962 में चीन ने भारत के 40,000 वर्ग किलोमीटर भू क्षेत्र को हथिया लिया। भारत के भूगोल को बदलने का जिम्मेदार कौन है?

चुनावी माहौल होने के कारण मुलायम सिंह यादव भले ही देश के विभाजन में कट्टरपंथी मुसलमानों की भूमिका को नजर अंदाज करना चाहते हों, किंतु यह स्थापित सच है कि देश के रक्तरंजित विभाजन के लिए जहाँ मुसलिम अलगाववाद बड़ा कारण था, वहीं उस मानसिकता को पोषित करने की कांग्रेसी नीति भी बराबर की अपराधी है। 1905 के बंग में विभाजन, 1909 के मार्ले-मिंटो सुधार से लेकर 1916 में लखनऊ समझौता मुसलिम लीग और

कांग्रेस के बीच हुआ था, से लेकर खिलाफत आंदोलन में कांग्रेस की जो भूमिका रही, इससे कालांतर में द्वि-राष्ट्र की मानसिकता और पुष्ट हुई। 1909 के इस अधिनियम, जिसमें मुसलमान के लिए पृथक् निर्वाचन की माँग मान ली गई थी, को 1916 में लखनऊ समझौते में कांग्रेस ने क्यों खुले मन से स्वीकारा? तुर्की के खलीफा की बहाली के लिए भारत के मुसलमानों द्वारा छेड़े गए खिलाफत आंदोलन में कांग्रेस का कूद पड़ना, किस दृष्टि से तर्कसंगत था? 1916 में मुसलिम लीग और कांग्रेस के बीच हुए लखनऊ समझौते से देश को क्या हासिल हुआ? इतिहासकारों का मानना है कि कांग्रेस के उस समय के नेताओं ने सोचा था कि जो समझौता बन रहा है, वह अंतिम अध्याय है, परंतु वह पहला अध्याय निकला। इसके बाद तो कई सांप्रदायिक कानूनों को जैसे—1919 का अधिनियम, 1927 में साइमन कमीशन का लागू होना, 1932 में गोलमेज सम्मेलन के बाद सांप्रदायिक पंचाट तथा 1935 के अधिनियम में मुसलिमों के हितों के लिए अनेकानेक कानूनी विस्तार, और 1947 में कांग्रेस की घुटने टेक और तुष्टीकरण नीति के चलते अंत में पाकिस्तान देश भारत की भूमि से अलग हो गया।

सेक्युलरिस्ट देश के विभाजन के लिए हिंदू महासभा को कसूरवार ठहराते हैं, किंतु सावरकर के 1937 में अखिल भारतीय हिंदू महासभा के सभापति बनने से पूर्व 19 दिसंबर, 1930 के मुसलिम लीग के वार्षिक अधिवेशन में इकबाल ने मजहब के आधार पर अलग राष्ट्र का खाका खींचा तो 1933 में चौधरी रहमत अली ने पाकिस्तान की रूपरेखा निर्धारित की थी।[195] अपनी प्रसिद्धि के चरमोत्कर्ष काल में भी हिंदू महासभा हिंदू आबादी के चार प्रतिशत हिस्से को भी अपने साथ नहीं कर सकी थी। हिंदू आबादी का अधिकांश भाग गांधीजी की कांग्रेस के साथ था। किंतु अपनी तमाम सेक्युलर कोशिशों के बावजूद कांग्रेस चार प्रतिशत मुसलमानों को भी अपनी ओर नहीं खींच पाई। अधिकांश मुसलमान जिन्ना के साथ खड़े रहे, 'लड़ के लेंगे पाकिस्तान' का नारा लगाते रहे।

मुसलिम शासकों के सात सौ साल के राज के दौरान, जहाँ हिंदुओं को अपमानजनक परिस्थितियों में जजिया देकर या इसलाम कबूल कर जिंदा रहने को अभिशप्त होना पड़ा, वहीं मुसलिमों में सामंती मानसिकता विकसित हुई। यही मानसिकता देश की आजादी को लेकर उनके मन में छायी रही। ब्रितानियों के जाने के बाद उनमें यह डर था कि उन्हें उन लोगों के साथ बराबरी के अथवा निम्न स्तर पर रहना होगा, जिन पर उनके पुरखों ने राज किया था। इस मानसिकता का ब्रितानियों ने अपने हित के लिए खूब दोहन किया और हिंदू-मुसलिम के बीच मौजूद सामाजिक खाई का लाभ उठाया। मार्ले को यह दृढ़ विश्वास था कि भारत में दोनों संप्रदायों के बीच की दूरी कभी नहीं पाटी जा सकती है, भारतीय परिषद् के द्वितीय वाचन के दौरान उसने कहा कि उन्होंने सभा को याद दिलाया कि हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हिंदुओं और मुसलमानों के मतभेद केवल धार्मिक विश्वास पर आधारित नहीं हैं, बल्कि उनका जीवन, उनकी परंपराएँ, इतिहास, सामाजिक तथा आस्थागत विश्वास वस्तुत: वे सभी उपादान जो किसी समुदाय से भिन्न होते हैं, एक-दूसरे से नितांत भिन्न हैं।[196]

अब जरा वायसराय मिंटो के विचारों पर गौर करें, जो ज्यादा खतरनाक थे, कांग्रेस को कमजोर करने और बढ़ रही राष्ट्रीयता को कमजोर करने के लिए मिंटो विभाजनकारी नीति पर चल रहे थे। उनका मत था कि मुसलमानों का समर्थन प्राप्त किया जाए और उन उद्देश्यों को कमजोर किया जाए, जो दोनों समुदायों के बीच एकता कायम करने के लिए किए जा रहे हैं।

इसी क्रम में मिंटो ने 1 अक्तूबर, 1906 को मुसलिम प्रतिनिधि मंडल को आश्वासन दिया कि मुसलिमों को विधान परिषद् के चुनाव में पर्याप्त प्रतिनिधित्व नहीं मिल रहा है, वे चाहते हैं कि उन्हें जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व ही न मिले, बल्कि उनका राजनैतिक दृष्टि से भी महत्त्व है, क्योंकि मुसलमानों ने साम्राज्य के हितसाधन

में बहुमूल्य योगदान किया है।[197]

इसी पृष्ठभूमि में हमें अलीगढ़ मुसलिम यूनिवर्सिटी के रूप में उभरी सांप्रदायिकता को देखना चाहिए। 1857 के गदर में सैयद अहमद ने ब्रितानियों की मदद की थी। 'सर्वाधिक विश्वासपात्र मुसलमान' के रूप में ख्यात सैयद अहमद ने 1875 में अलीगढ़ में एंग्लो ओरिएंटल कॉलेज की स्थापना की। कॉलेज की आधारशिला खुद तत्कालीन वायसराय ने रखी थी, जो अंततः पाकिस्तान की नींव का पत्थर साबित हुआ। 1954 में अलीगढ़ के छात्रों को संबोधित करते हुए आगा खाँ ने कहा था—सभ्य इतिहास में प्रायः विश्वविद्यालयों ने देश के बौद्धिक व आध्यात्मिक जागरण में महती भूमिका निभाई है। अलीगढ़ भी अपवाद नहीं है, किंतु हम यह गौरव के साथ दावा कर सकते हैं कि स्वतंत्र संप्रभु पाकिस्तान का जन्म अलीगढ़ व मुसलिम विश्वविद्यालय से हुआ।

सर सैयद ने 1857 के स्वतंत्रता संग्राम में मुसलमानों के भाग लेने को लेकर न केवल मुसलमानों को लताड़ा, बल्कि उन्हें ब्रितानियों का साथ देने के लिए प्रेरित भी किया। उन्होंने हिंदू बनाम मुसलमान, हिंदी बनाम उर्दू और संस्कृत बनाम फारसी का मुद्दा उठाकर मुसलमानों की मजहबी भावनाओं का दोहन किया। वे हिंदू और मुसलमान को दो राष्ट्र मानते थे। 16 मार्च, 1888 को मेरठ में दिए उनके भाषण से तत्कालीन माहौल और मानसिकता को समझा जा सकता है। उन्होंने कहा था—फर्ज करो, ब्रितानी भारत में नहीं हैं तो कौन शासक होगा? क्या यह संभव है कि दो राष्ट्र—हिंदू और मुसलमान एक ही ताज पर बराबर के हक से बैठेंगे? मुसलिम आबादी में हिंदुओं से कम हैं और अंग्रेजी शिक्षित तो और भी कम, किंतु उन्हें गौण या कमजोर नहीं समझा जाए। वे अपने दम पर अपना मुकाम पाने में सक्षम हैं। किंतु कल्पना करो कि ऐसा नहीं हुआ तो क्या होगा? तब हमारे मुसलमान भाई और पठान पहाड़ों से उतरेंगे और उत्तर की ओर बंगाल की आखिरी हद तक खून की नदियाँ बहा देंगे, जब तक एक राष्ट्र, दूसरे को जीतकर अपने अधीन न बना ले, इस धरती पर शांति कायम नहीं हो सकती।[198]

यह मानसिक रूप से विक्षिप्त व्यक्ति का प्रमाद नहीं है। सर सैयद के चिंतन को अधिकांश मुसलिमों का समर्थन प्राप्त था और आज भी है। सर सैयद की विचारधारा देश के अधिकांश मुसलमानों को सेक्युलरिस्टों के लिए प्रासंगिक है। उन्होंने अंग्रेज सरकार और मुसलिम समाज के सहयोग से एक अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। अकसर राष्ट्र विश्वविद्यालयों का निर्माण करते हैं, परंतु अलीगढ़ विश्वविद्यालय ऐसा है, जिसने अपनी बौद्धिक क्षमता और मानव संप्रदा के बल पर एक नए राष्ट्र को जन्म दिया। देश का सेक्युलर अधिष्ठान उनके इस काम को निरंतर आगे बढ़ाने में लगा है। जो राष्ट्र इतिहास से सबक नहीं लेते, वे उसे दोहराने को अभिशप्त होते हैं।

(3)

जनवरी चौदह में तत्कालीन आम आदमी पार्टी (आप) के वरिष्ठ और वर्तमान में स्वराज पार्टी के नेता प्रशांत भूषण द्वारा नक्सल प्रभावित इलाकों में केंद्रीय अर्द्धसैनिक बलों की तैनाती पर जनमत संग्रह कराने की बात क्या महज एक अनुभवहीन व्यक्ति का प्रलाप है? प्रशांत भूषण ने इससे पूर्व कश्मीर घाटी में सेना की तैनाती को लेकर भी जनमत संग्रह कराने की बात की है, जिसकी पहले भी कड़ी आलोचना हुई और पिटाई भी हुई थी। दलित-वंचित के नाम पर पश्चिम बंगाल के नक्सलबाड़ी से जो हिंसक आंदोलन प्रारंभ हुआ था, वह आज फिरौती और अपहरण का दूसरा नाम है। एक अनुमान के अनुसार नक्सली साल में 1800 करोड़ रुपए की उगाही करते हैं। विदेशी आकाओं से प्राप्त धन-संसाधन और प्रशिक्षण के बल पर भारतीय सत्ता अधिष्ठान को उखाड़ फेंकना नक्सलियों का

वास्तविक लक्ष्य है। नक्सलियों ने 2050 तक सत्ता पर कब्जा कर लेने का दावा भी किया है। इस तरह के आंदोलन कंबोडिया, रोमानिया, वियतनाम आदि जिन देशों में भी हुए, वहाँ लोगों को अंततः कंगाली ही हाथ लगी। माओ और पोल पॉट ने लाखों लोगों की लाशें गिराकर खुशहाली लाने का छलावा दिया था, वह कालांतर में आत्मघाती साबित हुआ। नक्सलियों का साथ देने वाले क्या इसी अराजकता की पुनरावृत्ति चाहते हैं? नक्सलियों की भारतीय संविधान प्रणाली पर तनिक भी आस्था नहीं है, वे अपनी विचारधारा का शासन स्थापित करना चाहते हैं, उन्हें गरीबी मुक्त करने में भी कोई दिलचस्पी नहीं है, इसलिए वर्तमान शासन तंत्र की विकास योजनाआ का वे विरोध करते हैं और नक्सली क्षेत्रों में सड़कों तथा अन्य विकास योजनाओं का भी विरोध करते हैं।

क्या राष्ट्रीय सुरक्षा से जुड़े मुद्दों पर निर्णय आप की तर्ज पर मोहल्ला सभा तय करेगी? हालाँकि आप के नेता और दिल्ली के मुख्यमंत्री अरविंद केजरीवाल ने प्रशांत भूषण के कश्मीर संबंधी बयान से किनारा कर लिया है, किंतु इसकी सफाई में उन्होंने जो कहा, वह आप की नीति और सोच का खुलासा करने में सक्षम है। आंतरिक सुरक्षा पर आप की दिशाहीनता के कारण ही प्रशांत भूषण को निरंतर राष्ट्रविरोधी बयान देने की प्रेरणा मिली थी। केजरीवाल ने कहा है, "घाटी में सेना तैनाती का फैसला आंतरिक सुरक्षा का मामला है। इस पर जनमत संग्रह नहीं हो सकता, किंतु हमारा मानना है कि स्थानीय लोगों की भावनाओं का सम्मान किया जाना चाहिए, वरना लोकतंत्र खतरे में होगा।" स्वाभाविक प्रश्न है कि घाटी से सेना हटाने की माँग क्या स्थानीय लोगों की है? क्या जम्मू-कश्मीर और लोकसभा के चुनाव में घाटी के नागरिक भाग नहीं लेते? घाटी से सेना हटाने की माँग पाकिस्तान और पाक पोषित अलगाववादी नेताओं के कट्टरपंथी संगठनों की है। ऐसे में अलगाववादियों और भारत को हजार टुकड़ों में बाँटने के अपने एजेंडे में लगे पाकिस्तान की भावनाओं का खयाल रखा जाए या अपने देश की एकता, अखंडता और देश की संप्रभुता को प्राथमिकता दी जाए? जब तक घाटी में आतंक का ढाँचा मौजूद है और स्थानीय लोगों की सुरक्षा खतरे में है, तब तक कोई भी राष्ट्रनिष्ठ व्यक्ति घाटी से सेना हटाने की बात कैसे सोच सकता है? प्रशांत भूषण ने दो साल पहले भी कश्मीर समस्या के समाधान के लिए जनमत संग्रह कराने की बात की थी। कश्मीर पर प्रशांत भूषण का ताजा बयान 5 जनवरी, 1949 को संयुक्त राष्ट्र ने कश्मीर समस्या के समाधान के लिए जनमत संग्रह कराने का प्रस्ताव पारित कराने के एवज में दिया था। पेशे से वकील प्रशांत भूषण को याद रखना चाहिए कि इस प्रस्ताव का दूसरा पहलू यह भी था कि जनमत संग्रह कराने से पूर्व पाकिस्तान ने कश्मीर के जिन क्षेत्रों पर कब्जा जमाया है, उन सब को वह खाली कर देगा।

देश की कमान थामने की आकांक्षा रखनेवाली आप को यह भलीभाँति ज्ञात होना चाहिए कि भारत कश्मीर को अपना अविभाज्य अंग मानता है और अपने हिस्से की एक भी इंच जमीन पर त्याग नहीं सकता। यह संकल्प किसी राजनैतिक दल ने नहीं, अपितु भारत की संसद् ने बहुत पहले भारी बहुमत से किया है, अब तक की सभी भारतीय सरकारों ने यह स्पष्ट कर रखा है कि कश्मीर मसले पर वह किसी भी तीसरे पक्ष की मध्यस्थता स्वीकार नहीं करेगी। संयुक्त राष्ट्र के मध्यस्थ होने के नाते ओवन डिक्सन ने 1950 में जनमत संग्रह कराने की बात की थी और सुझाव दिया था कि जो जिस हिस्से में जीते, उसे वह भाग दे दिया जाए। भारत इस पर सहमत था, किंतु पाकिस्तान के दबाव पर बाद में संयुक्त राष्ट्र द्वारा केवल घाटी में जनमत संग्रह कराने पर जोर देने के कारण भारत ने डिक्सन के संशोधित प्रस्ताव को नकार दिया था।

कश्मीर से सेना हटाने का विचार बचकाना है। सेना की मौजूदगी के बावजूद कश्मीर में पाकिस्तान प्रशिक्षित आतंकवादियों की गतिविधियाँ थम नहीं रही हैं। निरापराध नागरिक और सुरक्षा बल के जवान आए दिन

आतंकवादियों की गोलियों के शिकार बन रहे हैं। ऐसे में सेना हटाने का निर्णय आत्मघाती होने के साथ पूरे देश की सुरक्षा के लिए खतरा बन सकता है। 2012 में जब भारतीय जनता पार्टी की युवा शाखा ने श्रीनगर के लाल चौक पर तिरंगा लहराने की घोषणा की थी, तब श्रीनगर से दिल्ली तक सेक्युलरिस्ट लामबंद हो गए थे। लाल चौक पर अलगाववादियों की जीत हुई, तिरंगा अपमानित हुआ, किंतु खुद को भारत की बहुलतावादी संस्कृति के संरक्षक बताने वाले सेक्युलरिस्ट खामोश रहे। क्या आप पार्टी भी इस कुनबे में शामिल हैं?

कश्मीर में चल रहा अलगाववाद इसलामी साम्राज्यवाद की विषाक्त मानसिकता से प्रेरित है, जिसका लक्ष्य शेष भारत के साथ कश्मीर के सदियों पुराने सांस्कृतिक और आर्थिक संबंधों को नकारना है। यदि यह सच नहीं है तो कश्मीरी पंडितों के उत्पीड़न और उन्हें पलायन के लिए मजबूर किए जाने पर इसके खिलाफ आवाज क्यों नहीं उठाई गई? दो लाख हिंदू, जो 1947 के पाक हमले के समय जम्मू आकर बस गए थे, आज भी राज्य की नागरिकता से वंचित हैं। ये लोग लोकसभा के लिए तो मतदाता हैं, किंतु इन्हें जम्मू-कश्मीर विधानसभा के लिए मताधिकार प्राप्त नहीं है। इस पर आप पार्टी को अपना मत स्पष्ट करना चाहिए।

जम्मू-कश्मीर में चल रहा अलगाववाद जवाहरलाल नेहरू की हिमालयी भूल का परिणाम है। धारा-370 के द्वारा दो विधान, दो प्रधान व दो निशान पर पंडित नेहरू की कृपा से संसद् की मुहर लगने से हमने कश्मीर को (जब तक यह धारा लागू है) एक तरह से सैद्धांतिक रूप से भारतीय गणतंत्र से बाहर मान लिया गया है। यदि नेहरू ने यह भूल नहीं की होती और कश्मीर के महाराजा के विलय पत्र पर सरदार पटेल को कारर्वाई करने दी होती तो आज वह राज्य भी बाकी के राज्यों की तरह 'अविवादित रूप से' भारतीय गणराज्य का हिस्सा होता, लेकिन दुर्भाग्य है कि नेहरू ने कश्मीर मसले को संयुक्त राष्ट्र में ले जाकर इसे हमेशा के लिए विवादित बना दिया। क्या आप पार्टी इस स्थापित सच को झुठला सकती है?

प्रशांत भूषण की राय की तार्किक परिणति क्या होगी? क्या एक गाँव में हत्या होने के बाद उस हत्या की जाँच पुलिस करे या न करे, इस पर जनमत संग्रह होगा? क्या हरियाणा और उत्तर प्रदेश की खाप पंचायतों द्वारा लिये जानेवाले निर्णय लागू होंगे या नहीं, इस पर जनमत संग्रह होगा? मुजफ्फरनगर के दंगों को काबू करने के लिए सेना भेजी गई थी। क्या सांप्रदायिकता दंगों की स्थिति में पुलिस और सेना भेजने से पूर्व लोगों की राय लेनी आवश्यक होगी? क्या आप पार्टी और प्रशांत भूषण इस राय की तार्किक परिणति की जवाबदेही लेंगे?

कश्मीर पर प्रशांत भूषण के आत्मनिर्णय जैसे बयानों ने हमें नेहरू युग की पुरानी यादें फिर ताजा करा दीं, जब भारत की तत्कालीन नेहरू सरकार का जनमत संग्रह का प्रस्ताव लेकर हम खुद संयुक्त राष्ट्र की चौखट पर दस्तक दे रहे थे। किसी से पीछे न रहते हुए उमर अब्दुल्ला ने जनवरी 2014 में पाकिस्तानी पत्रकार के इंटरव्यू में कह दिया कि कश्मीर समस्या का एक मात्र समाधान तब होगा, जब सरहदें अर्थहीन हो जाएँ। उन्होंने यूरोपियन यूनियन जैसी मुक्त व्यापार व्यवस्था की वकालत की। भारत सरकार के गृह मंत्रालय को सूचना है कि सीमा व्यापार की बानगी यह है कि पाकिस्तान से बादाम की खेप में करोड़ों की मादक द्रव्यों की तस्करी की जाती है। सीमाएँ निष्प्रभावी होने की बात का तात्पर्य यह हुआ कि कश्मीर किसी का नहीं है। ऐसा मजाक 1947 से ही चल रहा है। 1947 में कश्मीर के जनमत संग्रह के प्रस्ताव के पीछे नेहरू की सोच शायद यह रही हो कि वह लोकतांत्रिक युगपुरुष के रूप में राष्ट्रीय सीमाओं का अतिक्रमण कर अंतरराष्ट्रीय महानताओं की ओर अग्रसर हो जाएँगे। भारत उनकी अंतरराष्ट्रीय महत्त्वाकांक्षाओं का स्प्रिंगबोर्ड बना। उनकी इस वैश्विक उड़ान का जहाज 1962 में जब चीनी चुनौती की सख्त जमीन पर आ गिरा, तब कहीं जाकर आदर्शवाद की यह यात्रा समाप्त हुई। तब तक झेलम में बहुत पानी

बह चुका था। जिस दौर में दुनिया के देश अपने राष्ट्रीय हितों को प्राथमिकता दे रहे थे, हमने विश्व नेतृत्व के आकाश को अपना लक्ष्य बनाया। हम दुनिया में शांति के बड़े ठेकेदार बनने लगे और हमारे पैरों के नीचे से जमीन सरकती गई। कश्मीर किसका है? यह सवाल जिसे वह पहले दफन हो जाना चाहिए था, आज भी जिंदा है।

सवाल इस मुल्क से है कि कश्मीर हमारा जुनून क्यों नहीं बना? नेताओं द्वारा अकसर की जानेवाली घोषणा कि कश्मीर भारत का अभिन्न अंग है, की असलियत क्या है? 30 जनवरी, 2014 को विधिवेत्ता एवं लेखक ए.जी. नूरानी ने इस्लामाबाद में आयोजित एक अंतरराष्ट्रीय कार्यशाला में कश्मीर में जनमत संग्रह का पक्ष लिया है। इन्होंने बहस को वापस वहीं पहुँचा दिया है, जहाँ से हम चले थे। जनमत के भय के कारण अभी तक संभव नहीं हो सका, वरना हमारे नेता कश्मीर को कब का बाँट चुके होते।

कश्मीर का भारत में हुआ विलय अन्य 563 रियासतों के भारत में हुए विलय से भिन्न नहीं था। जब न महाराजा हरि सिंह और न ही शेख अब्दुल्ला पाकिस्तान का हिस्सा बनना चाहते थे तो विशेष दर्जे या धारा-370 का औचित्य ही क्या था? भारत सरकार ने अक्तूबर 1947 में श्रीनगर के निकट शालातेंग में भीषण हार के बाद भाग रहे कबायली हमलावरों का पीछा करती सेनाओं को उड़ी में रोक दिया था। यहीं से हमारी कश्मीर समस्या की शुरुआत हुई। 1 जनवरी, 1948 को अगर हम संयुक्त राष्ट्र न गए होते तो कश्मीर उसी तरह मुक्त हो जाता, जैसे बाद में हैदराबाद, फिर गोवा को मुक्त कराया गया। एक वर्ष बाद यानी 1 जनवरी, 1949 को जब युद्ध विराम की घोषणा हुई, उस वक्त भी शेष कश्मीर के मुक्ति के युद्ध में सेनाएँ विजय पथ पर थीं। साक्ष्यों से स्पष्ट होता है कि गवर्नर जनरल माउंटबेटन का ब्रिटिश एजेंडा यह था कि कश्मीरी पर्वतीय क्षेत्र, विशेषकर गिलगिट बालतिस्तान पाकिस्तान के कब्जे में रहे। शीतयुद्ध के उस प्रारंभिक काल में रूस-चीन की गतिविधियों पर नजर रखने के लिए कश्मीर के पर्वतीय क्षेत्रों में सैन्य अड्डे स्थापित करने का अमेरिकी-ब्रिटिश का उद्देश्य समझ में आता है। अगर पाक अधिकृत कश्मीर भी आजाद हो गया होता तो यह संभावना समाप्त हो जाती और अमेरिकी निगाह में कश्मीर और फिर पाकिस्तान भी, सामरिक-राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वहीन हो गया होता। उस स्थिति में कश्मीर समस्या की बुनियाद ही खत्म हो गई होती। पाक अधिकृत कश्मीर के बने रहने से कश्मीर आज भी दो भागों में विभाजित है और कश्मीर समस्या कायम है।

बहरहाल, आगे हम क्या कर रहे हैं? प्रारंभ से ही हमारा रुख रक्षात्मक रहा है। जब पाकिस्तान कारगिल की चोटियों पर कब्जा करता है तो उसे परवाह नहीं होती कि हम परमाणु शस्त्र संपन्न देश हैं, लेकिन जब हमारी सेनाएँ अपनी भूमि खाली कराने के लिए एल.ओ.सी. के पार जाना चाहती हैं तो हमारे राजनेता डर जाते हैं कि पाकिस्तान के पास तो परमाणु शस्त्र हैं। हमारी राजनीतिक बिरादरी तो अब माँग भी नहीं करती कि पाक अधिकृत कश्मीर खाली किया जाए, लेकिन देश की जनता से कहा जाता है कि कश्मीर भारत का अभिन्न अंग है। इच्छाशक्ति के बगैर कश्मीर को भारत का अभिन्न अंग कहते रहना केवल राजनीतिक लफ्फाजी बन जाती है। सत्ताएँ बदलती भी हैं। एक सत्ता जाती है और दूसरी आती है, लेकिन आतंकी घटनाओं में कमी नहीं आती।

1971 के युद्ध में हम विजयी देश थे, लेकिन शिमला वार्त्ताओं में हमने पाकिस्तान के सामने खुद ही युद्धविराम रेखा को अंतरराष्ट्रीय सीमा मान लिया, युद्ध में जीतने के बावजूद हम टेबल पर हार गए, हारे हुए भुट्टो शिमला से हमें मूर्ख बनाकर चले गए। दूसरी ओर हमने मान लिया कि कश्मीर समस्या का समाधान हो चुका है। जब पाकिस्तान प्रायोजित खालिस्तानी और कश्मीरी आतंकवादी अभियान चले, तब हम समझ पाए कि हम कितने बड़े मूर्ख सिद्ध हुए हैं। पाकिस्तान ने अधिकृत कश्मीर का 2000 वर्ग किमी. क्षेत्र सन् 1973 में चीन के हवाले कर

दिया। जाहिर है कि कश्मीर उनका सार्वभौम भाग नहीं, बल्कि एक उपनिवेश है, जिसे जरूरत पड़ने पर पड़ोसी को बाँटा जा सकता है। कश्मीर का एक भाग चीन को दे दिया जाना कश्मीरी अलगाववादियों के लिए कभी मुद्दा नहीं बना। दूसरी ओर हमारी कश्मीरी नीति कभी असलियत की जमीन पर नहीं चली। हमारे नेताओं ने आसान रास्तों की खोज में मुश्किलें बढ़ाई ही हैं। कश्मीर पर हमारी यथास्थितिवादी नीति ही मुख्य समस्या है। बहस और वार्त्ताओं ने क्या कभी कोई समाधान दिया है? कश्मीर अगर अभिन्न अंग है तो समाधान की राह का मुकाम अगली पीढ़ियों के जिम्मे छोड़ दिया गया। सत्ता को ही अपना परम लक्ष्य मानने वाली अगली पीढ़ियों ने कश्मीर की समस्या को लगातार बिगड़ते हुए देखा है। हमारे पास समाधान की कोई अपनी सोच नहीं है, सिर्फ दूसरों के सुझाए फॉर्मूले भर हैं।

जनवरी 2014 में हुए बँगलादेश में चुनाव के बाद की हिंसा महीनों चलती रही। इस हिंसा के सबसे अधिक शिकार हिंदू हुए थे। उसके बाद कट्टरपंथियों के हमले में ढाई सौ लोग हताहत हुए थे। एक बाँग्ला दैनिक के मुताबिक इस दौरान अल्पसंख्यकों के पाँच सौ घरों में आग लगाई गई थी। बँगलादेश के हिंदू व बौद्धों की सबसे अधिक आबादी दौचंगा, मेहरपुर, जेसोर और झेनाइडाह जिलों में है और उन पर हमले भी वहीं हुए, एक समाचार-पत्र में प्रकाशित खबर का शीर्षक है—चंपताला में सिर्फ रुदन। इसमें बताया गया है कि चुनाव के बाद किस तरह जमात-ए-इसलामी तथा बँगलादेश नेशनलिस्ट पार्टी के समर्थकों ने जेसोर जिले के चंपताला में हिंदू परिवारों पर अत्याचार किए और महिलाओं के साथ ज्यादती की। कालीगंज, टाला और कलरवा में प्राय: सभी हिंदुओं के घरों को आग लगा दी गई।

बँगलादेश के कट्टरपंथी इसलिए भी अल्पसंख्यकों से इस समय चिढ़े हैं, क्योंकि उनके चुनाव बहिष्कार के बावजूद अल्पसंख्यकों ने मतदान में हिस्सा लिया। बँगलादेश में अल्पसंख्यक अवामी लीग के समर्थक माने जाते हैं, इसीलिए जमात-ए-इसलामी तथा बँगलादेश नेशनलिस्ट पार्टी के कट्टरपंथियों के निशाने पर वे ही हैं। बँगलादेश में हिंदू नागरिकों की आबादी आज सवा करोड़ है और उसमें 72 लाख वोटर हैं, जो तीन सौ में 22 से 25 प्रतिशत संसदीय सीटों पर अहम भूमिका अदा करते हैं और इन्हीं संसदीय क्षेत्रों में उन पर जुल्म ढहाया जाता है। जिस तरह 2014 में उन पर जुल्म ढहाया जा रहा है, उसी तरह का जुल्म 1992 में भी किया गया था। तब बँगलादेश में हिंदुओं के 28 हजार घरों, 2200 वाणिज्यिक उद्यमों और 3600 मंदिरों को क्षतिग्रस्त किया गया था। हिंदुओं पर अत्याचार रोकने के लिए तत्कालीन प्रधानमंत्री खालिदा जिया ने कोई कोशिश नहीं की थी। 2001 के संसदीय चुनाव के दौरान भी अल्पसंख्यकों पर जमकर हमले हुए। हर बार की तरह इस बार भी कट्टरपंथियों के हमले से बचने के लिए हजारों बँगलादेशी हिंदू भागकर पश्चिम बंगाल के उत्तरी 24 परगना, नदिया, दक्षिण दिनाजपुर में आश्रय लेना पड़ा था। उस पार से जो हिंदू इस पार आ गए वे कभी नहीं लौटे। बँगलादेश के हिंदू शरणार्थी भी बंगाल और अन्यत्र आकर सम्मानपूर्वक रह लेते हैं, दिहाड़ी मजदूरी करते हैं, फेरी लगाते हैं, रिक्शा खींचते हैं और तरह-तरह के काम पर पैसा कमाकर जीवन काटते हैं, किंतु उस पार लौटने की सपने में भी नहीं सोचते।

बँगलादेश के लेखक सलाम आजाद ने अपनी किताब में जो आँकड़े दिए हैं, वे भयावह तसवीर पेश करते हैं। सलाम आजाद ने लिखा है कि कट्टरपंथी संगठनों के अत्याचार से तंग आकर 1974 से 1991 के बीच प्रतिदिन औसतन 475 लोग यानी हर साल एक लाख 73 हजार 375 हिंदू हमेशा के लिए बँगलादेश छोड़ने को बाध्य हुए। यदि उनका पलायन नहीं हुआ होता तो आज बँगलादेश में हिंदू नागरिकों की आबादी सवा तीन करोड़ होती। 1941 में पूर्वी पाकिस्तान (अब बँगलादेश) में हिंदुओं की आबादी 28 प्रतिशत थी, जो 1951 में 22 प्रतिशत, 1961 में

18.5 प्रतिशत, 1974 में 13.5 प्रतिशत, 1981 में 12.13 प्रतिशत, 1991 में 11.6 प्रतिशत, 2001 में 9.6 प्रतिशत और 2011 में घटकर 8.2 प्रतिशत हो गई। बँगलादेश के लेखक सलाम आजाद ने लिखा है कि बँगलादेश के हिंदुओं के पास तीन ही रास्ते हैं—या तो वे आत्महत्या कर लें या धर्मांतरण कर लें या पलायन कर जाएँ। बँगलादेश में शत्रु अर्पित संपत्ति कानून, देवोत्तर संपत्ति पर कब्जे ने अल्पसंख्यकों को कहीं का नहीं छोड़ा है। इसके अलावा उस पार हिंदुओं को भारत का समर्थक या एजेंट, काफिर कहकर प्रताड़ित किया जाता है। इसे बँगलादेश से हिंदुओं को भगाने के लिए जेहाद के रूप में भी देखा जा सकता है। जिस तरह वहाँ के कट्टरपंथी तत्त्व हिंदुओं और बौद्धों पर आक्रमण कर रहे हैं, उसका मकसद देश को अल्पसंख्यकों से पूरी तरह खाली कराना है। पंथ-निरपेक्षता के पैरोकार इस मामले पर क्यों खामोश रहे? क्या यह दु:खद नहीं कि मौजूदा प्रधानमंत्री शेख हसीना भी वहाँ अल्पसंख्यकों की रक्षा नहीं कर पा रही हैं? जो लोग बँगलादेश मुक्ति संग्राम के विरोधी थे, जिन्होंने मुक्ति संग्राम लड़ने वाले तीस लाख लोगों को मार डाला, तीन लाख महिलाओं के साथ दुष्कर्म किया, तीन हजार भारतीय सैनिकों को मार डाला, उसी जमाते इसलामी के लोग अराजकता फैलाने में जुटे हैं। जमाते इसलामी के कट्टरपंथियों ने मुक्ति संग्राम के दौरान सौ से ज्यादा बुद्धिजीवियों को मार डाला था। यदि बँगलादेश को आजादी मिलने में और हफ्ता भर की देरी होती तो बचे हुए बुद्धिजीवियों को भी उन्होंने मार दिया होता।

अब जमाते इसलामी के वही कट्टरपंथी बचे हुए हिंदुओं को खत्म कर देना चाहते हैं। वे बँगलादेश को एक दूसरा पाकिस्तान बनाना चाहते हैं। अब सवाल यह है कि बँगलादेश के हिंदू क्या करें? रास्ता कैसे निकलेगा? इसका जवाब यही है कि रास्ता तभी निकलेगा, जब बँगलादेश में सांप्रदायिक राजनीति को निषिद्ध किया जाए। राष्ट्र सबका है, चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान। कहने की जरूरत नहीं कि आज सबसे बड़ी चिंता दुनिया में ज्यादातर जगह बहुसंख्यक द्वारा अल्पसंख्यक का सांप्रदायिक उत्पीड़न है। कहीं भी सांप्रदायिक उत्पीड़न के शिकार निरीह लोग ही हैं। इस समय दुनिया कट्टरता के जिस खतरे में जूझ रही है, उसका सामना यदि सही तरह नहीं किया गया तो स्थितियाँ और अधिक बिगड़ेंगी।

फरवरी 2014 में तत्कालीन उत्तर प्रदेश की समाजवादी पार्टी की सरकार ने शृंखलाबद्ध बम धमाकों के आरोपी आतंकियों के मुकदमे वापस लेने के लिए सर्वोच्च न्यायालय में गुहार लगाई। दिसंबर 2013 माह में इलाहाबाद उच्च न्यायालय से फटकार पाने के बावजूद सपा सरकार हर हाल में आतंकियों के 14 मुकदमे वापस लेने पर आमादा थी। सपा सरकार ने सर्वोच्च न्यायालय में विशेष अनुमति याचिका दाखिल कर इलाहाबाद न्यायालय के फैसले पर रोक लगाने की विनती की। उच्च न्यायालय ने आतंकियों को रिहा करने के सपा सरकार के कुप्रयास पर अंकुश लगाते हुए कहा था कि संबंधित आतंकी गैर-कानूनी गतिविधि रोकथाम अधिनियम के अंतर्गत आरोपी हैं। केंद्रीय कानून होने के कारण ऐसे मुकदमे केंद्र की मंजूरी के बिना वापस नहीं लिए जा सकते।

उत्तर प्रदेश विधानसभा चुनाव के दौरान सपा ने मुसलिम समुदाय से वादा किया था कि सत्ता में आते ही ऐसे मुकदमे वापस लिये जाएँगे। लोक-लुभावन वादों के दम पर सत्ता में आ तो गए, किंतु तुष्टीकरण की नीतियों के कारण राज्य में सांप्रदायिक विद्वेष चरम पर रहा। मुसलिम समुदाय के कट्टरपंथी वर्ग को मिल रहे शासन संरक्षण के कारण पूरे कट्टरपंथियों के हौसले बुलंदी पर थे, इसकी तार्किक परिणति मुजफ्फरनगर और शामली दंगों में हुई। इन दंगों के कारण सपा पर मुसलिम समुदाय का विश्वास डिगा है। ऐसे माहौल में जब लोकसभा के चुनाव भी सिर पर आ गए तो सपा का शीर्षासन स्वाभाविक था। यदि वह मुकदमे वापस लेने के लिए केंद्र की अनुमति लेती है तो इसका श्रेय कांग्रेस को चला जाता। दृष्टिगोचर यह भी था कि तत्कालीन गृहमंत्री सुशील कुमार शिंदे राज्यों के

मुख्यमंत्रियों को पत्र लिखकर युवा मुसलिम आतंकियों की यथाशीघ्र रिहाई सुनिश्चित करने की अपील पहले ही कर चुके थे। कांग्रेस अल्पसंख्यकों के बीच खुद को उनका एक मात्र रहनुमा साबित करने के लिए केंद्रीय योजनाओं का पिटारा अलग खोले बैठी थी। स्वाभाविक प्रश्न है कि सभ्य समाज को लहूलुहान करनेवाले आतंकी का क्या कोई मजहब होता है? नहीं तो मजहब के नाम पर यह एक पक्षीय अतिरिक्त सहानुभूति क्यों? सेक्युलर दल क्या वोट बैंक की राजनीति के कारण देश की सुरक्षा को दाँव पर लगा देंगे?

2014 के लोकसभा चुनाव के दौरान मार्क्सवादी और कांग्रेस, दोनों के बीच मदनी का सबसे बड़ा शुभचिंतक दिखाने की प्रतिस्पर्धा छिड़ गई थी। मदनी से अद्भुत प्रेम के प्रदर्शन में जो कम्युनिस्टों सहित अन्य दलों ने किया, जरा थोड़ा मस्तिष्क पर जोर लगाए तो इतिहास के विद्रूप पन्ने सामने आ जाएँगे, मार्क्सवादियों ने तो 16 मार्च, 2006 को होली की छुट्टी के दिन केरल विधानसभा का विशेष सत्र बुलाकर कोयंबटूर बम धमाके में साठ निरपराधों की हत्या के आरोपी एक आतंकवादी अब्दुल नासिर मदनी की रिहाई के लिए सर्व-सम्मति से प्रस्ताव पारित किया था। पर्याप्त साक्ष्यों के अभाव में 2007 में सत्र न्यायालय ने उक्त आरोपी को दोषमुक्त कर दिया। किंतु उस निर्णय के खिलाफ ऊपरी अदालत में अपील नहीं की गई। क्यों? पीपल्स डेमोक्रेटिक पार्टी (पी.डी.पी.) के संस्थापक मदनी बेंगलूर बम धमाकों के आरोप में अभी कर्नाटक की जेल में बंद था, किंतु जेल में उसे बेहतर स्वास्थ्य सुविधाएँ उपलब्ध कराने के लिए केरल के मार्क्सवादी और कांग्रेसी चिंता से दुबले हो गए थे। दुनिया के इतिहास में शायद ही कोई ऐसा देश होगा, जहाँ विधायिका ने किसी राष्ट्रविरोधी शक्ति को अपना समर्थन दिया हो। मुसलिम बहुल इलाकों में पी.डी.पी. के प्रभाव से मोहग्रस्त होकर 2001 के चुनाव में कांग्रेस और 2006 में माकपा ने मदनी को अपने माथे पर रखा। बिहार के मुख्यमंत्री नीतीश कुमार पंथ-निरपेक्षता की रक्षा के नाम पर भाजपा के साथ 17 साल पुराना गठजोड़ तोड़ दिया। वास्तव में नीतीश मुसलिम वोट बैंक को लेकर चिंतित थे। इसीलिए जब इंडियन मुजाहिदीन के संस्थापक यासीन भटकल को नेपाल से गिरफ्तार कर बिहार लाया गया तो उन्होंने अपने राज्य में एफ.आई.आर. दर्ज कराने से मना कर दिया था। अंततः दिल्ली से एन.आई.ए. की टीम को दौड़ लगानी पड़ी। गुजरात में 2004 में लश्करे-तैयबा के आतंकियों के साथ मुठभेड़ में मारी गई आतंकी इशरत जहाँ को लेकर कांग्रेस का डर्टी थिंक्स डिपार्टमेंट एक लोकसभा चुनाव के दौरान बार फिर सक्रिय हो गया था। मुठभेड़ आई.बी. की सूचना पर हुई थी। तब लश्करे-तैयबा के आतंकवादी डेविड कोलमैन हेडली ने भी एफ.बी.आई. को बताया कि इशरत लश्कर के लिए काम कर रही थी, किंतु विडंबना है कि इस देश के सेक्युलरिस्ट इशरत को ज्यादा करीब से जानते हैं। नीतीश कुमार तो उसे देश की बेटी बता चुके हैं। सी.बी.आई. और आई.बी. के परस्पर विरोधी बयान आए, जब राजनीतिक प्रतिशोध के लिए इस देश की खुफिया एजेंसियों को ही टकराव की मुद्रा में खड़ा किया जाएगा तो निश्चित तौर पर जहाँ सुरक्षा बल हतोत्साहित होंगे, वहीं इस देश को तोड़ने वालों को भी सहज एक सहभागी भी मिल जाता है। ऐसे दोहरे सेक्युलर मानदंडों के कारण ही देशद्रोही ताकतों को देश को अस्थिर और खंडित करने का प्रोत्साहन मिल रहा है। लश्करे-तैयबा, जैशे-मोहम्मद जैसे सीमा पार के आतंकी संगठनों ने देश के कई भागों में अपना नेटवर्क विकसित कर लिया है। ये संगठन सिम्मी व इंडियन मुजाहिदीन जैसे प्रतिबंधित संगठनों से जुड़े लोगों का उपयोग कर छोटे-छोटे मुद्दों पर मजहबी भावनाओं को भड़काकर हिंसा करवाने का प्रयास करते रहते हैं। मालेगाँव, जयपुर, बेंगलूर, अहमदाबाद, सूरत, मुंबई, हैदराबाद की आतंकी घटनाओं के बाद यह साफ है कि स्थानीय आबादी के कुछ लोग उन जिहादी गुटों के लिए स्लीपर सेल के रूप में काम कर रहा है, जो यह मानता है कि हिंसा के बल पर पूरी दुनिया में इसलामी राज्य संभव है।

भारत में यदि मुसलिम समाज में कट्टरवादी हावी हो रहे हैं और मजहबी जुनून को हवा मिल रही है तो इसका बड़ा श्रेय छदम सेक्युलरिस्टों को जाता है, जो वोट बैंक की राजनीति के कारण मुसलिम कट्टरपंथ को आँख बंद कर पोषित करते हैं। यही कारण है कि सीमा पार बैठी शक्तियाँ स्थानीय मुसलिम युवाओं को काफिर और जिहाद के नाम पर उकसाने में सफल हो रही हैं। सेक्युलरिस्ट अशिक्षा को इसलामी आतंक की प्रमुख वजह बताते आए हैं, किंतु कड़वी सच्चाई यह है कि मुसलिम समुदाय के एक बड़े वर्ग में मौजूद कट्टरपंथी मानसिकता ही वह उर्वर भूमि है, जिसमें जिहाद की फसल लहलहा रही है। सेक्युलरिस्टों के दोहरे मानदंड सामाजिक शांति, सौहार्द और भारत के परंपरागत बहुलतावादी समाज के लिए गंभीर खतरा हैं।

2014 में अमेरिकी राजनयिक नैंसी पावेल की भारत से विदाई हो गई, नैंसी पावेल की विदाई का मुख्य कारण अमेरिका के हित में नरेंद्र मोदी से संबंध सँभाल पाने में विफलता को माना जा रहा है। कई कारणों से यह रोचक घटना है। यह जगजाहिर है कि दुनिया भर के वामपंथी आदतन अमेरिका विरोधी होते हैं। यह भारतीय वामपंथियों के लिए भी सच है। याद करें, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी ने अमेरिका के साथ परमाणु करार के विरोध में ही संप्रग से समर्थन वापस लिया था, किंतु नरेंद्र मोदी मामले में भारतीय वामपंथियों ने अमेरिका से ही सारी गुहार की थी। यह उस द्वेषपूर्ण अभियान की कड़ी थी, जो माकपा के सफदर हाशमी मेमोरियल ट्रस्ट, यानी सहमत ने 2002 से शुरू किया था। उसने अमेरिका में दो महीने तक प्रचार किया कि साबरमती एक्सप्रेस में 59 हिंदू कार्यकर्ताओं जलाने का षड्यंत्र हिंदुओं का ही था, ताकि मुसलिमों पर आरोप लगाकर उन्हें मारा जा सके। ऐसे झूठ को और रोमांचक बनाने के लिए मार्क्सवादियों ने गोधरा की तुलना 1933 के जर्मन संसद् को जलाए जाने से की। उन्होंने अमेरिका को विश्वास दिलाया कि गोधरा कांड हिंदू षड्यंत्र था। इस तरह मार्क्सवादियों ने पुन: साबित किया कि कम्युनिस्टों का हिंदू विरोध उनके अमेरिका विरोध से अधिक आवश्यक है।

ध्यान रहे कि मोदी पर अमेरिका का रुख भारतीय मार्क्सवादियों के दुष्प्रचार से भी प्रभावित हुआ था। 2005 में जब मोदी को वीजा नहीं दिए जाने की खबर आई तब सहमत ने इसका श्रेय लिया। उसने गलत नहीं कहा, क्योंकि जून 2002 में वाशिंगटन में यूनाइटेड स्टेट्स कमीशन ऑन इंटरनेशनल रिलीजियस फ्रीडम, यानी यू.एस.सी.आई.आर.एफ. के समक्ष उपस्थित होकर हमारे मार्क्सवादियों ने भारत पर प्रतिबंध लगाने के लिए अमेरिकी सरकार से गुहार लगाई थी। चूँकि अमेरिका व पश्चिमी देशों के लिए भारत उनकी रुचि का देश नहीं रहा है। भारतीय राजनयिक देवयानी खोबरागडे और वेंडी डोनिगर प्रसंगों ने भी आश्चर्यजनक तरह से सिद्ध किया था कि अमेरिका में हिंदुओं के बारे में कुछ भी ऊल-जुलूल बात चलाई जा सकती है। इसलिए अमेरिका की मोदी नीति वामपंथियों के उग्र हिंदू विरोधी प्रचार से प्रभावित हुई थी, यह सच है। समय का फेर कहें कि वही नीति बाद में मोदी के सत्तारूढ़ होने के बाद अमेरिका के गले की हड्डी बन गई है। अमेरिकी रुख का अनुकरण ब्रिटेन, फ्रांस आदि देशों ने भी किया, पर उन्होंने बहुत पहले गलती सुधार ली। चीन ने तो यह गलती की ही नहीं। इसे अमेरिकियों का अहंकार कहें या अरब नीति की जरूरतें, वे झुकने का संकेत नहीं देना चाहते थे। इसलिए उन्होंने अपने कूटनीतिज्ञों को मार्ग निकालने की जिम्मेदारी दी, ताकि अमेरिका की प्रतिष्ठा बची रहे और मोदी पर कुफ्र भी टूटे। यह आश्चर्य की बात नहीं कि मोदी माफी माँगें वाला अभियान अमेरिकी प्रेरणा से चल रहा हो। संभवत: नैंसी पावेल इसी में विफल रहीं।

हमारे देश के नेतागण और बुद्धिजीवी अंदरूनी राजनीति की सनक अंतरराष्ट्रीय संबंधों तक ले जाते हैं। तभी वे हमेशा फिलिस्तीन की फिक्र करते हैं और इजराइल को दैत्य जैसा दिखाने की फिराक में रहते हैं। वे बुनियादी बातों पर चुप रहते हैं कि कई मुसलिम शासक, संगठन इजराइल का अस्तित्व ही मिटा देना चाहते हैं। ईरान के पिछले राष्ट्रपति अहमदनेजाद ने इजराइल को दुनिया के नक्शे से हटा देने की बार-बार घोषणा की थी। इसलिए नहीं कि इजराइल ने उनके साथ कोई बदसलूकी की, बल्कि सिर्फ इसलिए कि वह यहूदियों से घृणा करते हैं। कभी हमारे नेताओं ने इस पर संसद् में चर्चा क्यों नहीं की? हमेशा फिलिस्तीन की फिक्र के पीछे वही इसलामपरस्ती है, जो उनकी अंदरूनी राजनीति की झक है। अत: यदि गाजा पर चर्चा हो तो 1948 से अब तक की पूरी स्थिति पर होनी चाहिए। इजराइल के जन्म के तुरंत बाद ही उस पर मिस्र, इराक, जॉर्डन, लेबनान, सीरिया ने हमला किया था। यानी शुरू से ही इजराइल की जान पर आफत है। मगर दुष्प्रचार से प्रभावित होकर अनेक लोग सदैव इजराइल को

ही दोषी मान लेते हैं। सच तो यह है कि हाल तक मुसलिम समाज यहूदियों को कायरता का दूसरा नाम समझता था। मशहूर शायर इकबाल ने अपनी ऐतिहासिक शिकवा (1909) में मुसलमानों को जिहाद के लिए प्रेरित करने के लिए ताना मारा था कि वे यहूदियों से भी कायर हैं।

सच्चाई यह है कि सदियों से यहूदी व्यापारी प्रकृति के शांति-प्रिय लोग रहे हैं। फिर भी मानव इतिहास में सबसे अधिक जिनका उत्पीड़न हुआ है, वे यहूदी हैं। प्रत्येक इसलामी, ईसाई, देशों में अपने उत्पीड़न से आहत होकर आखिर उन्होंने अपना एक अलग देश बनाने की माँग की, जिसे अंततः विश्व समुदाय ने स्वीकार किया। इस प्रकार इजराइल नामक यह देश संयुक्त राष्ट्र ने मई 1948 में निर्मित किया था। फिर वहाँ दुनिया के कोने-कोने से यहूदी आकर बसे, लेकिन उसके चारों तरफ जमे इसलामी शासकों को यह मंजूर नहीं था। यही झगड़े की जड़ है। इसलामी देशों ने बार-बार इजराइल को बलपूर्वक खत्म करने की कोशिशें की हैं। इस तरह के हालात ने यहूदियों को योद्धा बनाया। हमें उनका अभिनंदन करना चाहिए, भर्त्सना नहीं। इजराइल न केवल हमारा मित्र देश है, बल्कि आत्मरक्षा और आत्मसम्मान के पाठ में हमें उससे कुछ सीखना भी चाहिए। विगत कुछ वर्षों से इजराइल पर हमलों की प्रकृति वही है, जो हम कश्मीर में तेईस साल से झेल रहे हैं। यानी किसी देश द्वारा संगठित, आधिकारिक आक्रमण के बदले आतंकी संगठनों द्वारा जब-तब हमले। उनके पीछे कई देशों की सरकारें भी हैं, मगर उन्हें सीधे-सीधे जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता। जैसे पाकिस्तान लश्करे-तैयबा, हिजबुल, मुजाहिदीन, माओवादियों आदि को सहयोग, समर्थन देकर भारत को सताता है, उसी तरह पहले शिया आतंकी संगठन हिजबुल्ला ने इजराइल पर हमला किया, जिसने दक्षिण लेबनान में मजबूत ठिकाना बना लिया था। उसे ईरान व सीरिया का सहयोग और प्रोत्साहन प्राप्त था। फिर कुछ वर्षों से सुन्नी हमास गाजा से हमले कर रहा है। यूरोपीय संघ से लेकर जापान तक अनेक देशों ने हमास को आतंकवादी संगठन घोषित कर रखा है। हमास से कई पड़ोसी मुसलिम देश भी सशंकित रहते हैं। उसी की मदद में अभी हमारे वामपंथी नेता और बुद्धिजीवी बयान देते रहते हैं।

हमास जब तब गाजा में नागरिक बस्तियों पर हमला शुरू कर देता है। ऐसे में इजराइल क्या करे? हमास के रॉकेट लांचर के लक्ष्य गाजा की नागरिक बस्तियों में हैं। उन्हें चोट पहुँचाने में नागरिक आबादी को चोट पहुँचना स्वाभाविक है। यही हो रहा है। तो दोष किसका है, इसे संजीदगी से देखना चाहिए। यह हमास है, जिसे फिलिस्तीनी जनता की परवाह नहीं। वह अपने आक्रामक एजेंडे में फिलिस्तीन स्त्रियों, बच्चों का ढाल के रूप में दुरुपयोग करता रहा है। गाजा में ही एक बड़े हमास कमांडर निजार रयान ने इजराइली सैनिकों से बचने के लिए खुद को एक कमरे में अपनी चार बीवियों और 12 बच्चों के बीच बंद कर लिया था। उसे निशाना बनाने में बीवियाँ और कई बच्चे भी मारे गए। इसलिए फिलिस्तीनी बच्चों, स्त्रियों के लिए आँसू बहाने वाले जरा पूरे हालात को देखें और आतंकवादियों के हाथों खेलना बंद करें।

हमास जैसे आतंकवादी संगठन जानबूझकर फिलिस्तीनी बस्तियों के बीच अड्डे बनाते हैं। फिर वहाँ से जब चाहे इजराइल पर रॉकेट दागने लगते हैं, जिसे अरब अखबार भी अनुचित बता रहे हैं। तब अपने हमलावर पर जवाबी काररवाई से होनेवाली मौतों के लिए इजराइल कैसे जिम्मेदार है? भारतीय नेता और बुद्धिजीवी इजराइल के धर्मसंकट को समझ सकते हैं, पर समझना नहीं चाहते। हमास इजराइल को मिटाना अपना घोषित लक्ष्य रखता है। इजराइल के उत्तर अर्थात् लेबनान के दक्षिणी क्षेत्र में शिया आतंकवादी संगठन हिजबुल्ला का दबदबा है। इस प्रकार ईरान, सीरिया, हिजबुल्ला, हमास आदि कई घटक इजराइल को खत्म करना चाहते हैं। उनके पास शक्ति, आत्मबल और दुस्साहस भी है। मई 1948 में इजराइल पर हमले के बाद से 1956, 1967 और 1973 में तीन बार

पुन: इजराइल पर आक्रमण हुए, किंतु युद्धों में इजराइल की जीत उसका अस्तित्व सुरक्षित नहीं करती। इजराइल से बार-बार हारकर भी अरब देश बचे रहेंगे, किंतु इजराइल के पास यह विकल्प नहीं। यह समझना चाहिए कि कई इसलामी देशों, सत्ताओं को मन-ही-मन विश्वास है कि अपनी अति-सीमित, स्थिर जनसंख्या, छोटे क्षेत्रफल और नगण्य अंतरराष्ट्रीय समर्थन के कारण इजराइल को अंतत: हारना होगा। इजराइल के पास कोई स्थायी सेना तक नहीं है, उसकी नागरिक आबादी ही सैनिक सेवा करती है। इसलिए उस देश के लिए एक-एक सैनिक कीमती है, जिसे अपने सैनिकों की उपेक्षा करनेवाले उच्च-वर्गीय भारतीय नहीं समझ सकते। अपनी विशाल आबादी, संसाधन और मजहबी प्रतिबद्धता के बल पर अनेक मुसलिम देश व संगठन इजराइल को मिटा देना चाहते हैं। क्या इसे भूलकर इजराइल के आक्रामक रुख पर बंद आँख कर विरोध करना चाहिए। जुलाई 2017 के प्रथम सप्ताह में इजराइल की भारतीय प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी की सफल यात्रा का भारत के कई राजनैतिक दलों कांग्रेस, राजद, वाम दलों, जदयू ने यह कहकर निंदा की कि भारत सरकार ने फिलिस्तीन की उपेक्षा की, मोदी को फिलिस्तीन भी जाना चाहिए था, ये वक्तव्य केवल मुसलिमों को खुश करने के लिए दिए गए थे, सपा के राष्ट्रीय महासचिव रामगोपाल यादव ने इटावा में 10 जुलाई, 2017 को मीडिया से बात करते हुए कहा कि भारत के प्रधानामंत्री मोदी ने इजराइल की यात्रा करके 31 देशों को नाराज कर दिया।

जुलाई 2014 में राज्यसभा में इजराइल और फिलिस्तीन के 'हमास' के बीच चल रहे खूनी संघर्ष को लेकर जहाँ विपक्ष के कुछ सांसदों ने सरकार पर उदासीन होने का आरोप लगाया, वहीं कुछ कम्युनिस्ट सांसदों ने यह भ्रम फैलाने की कोशिश की कि सरकार इजराइल की पक्षधर है। विपक्ष ने प्रस्ताव लाकर इजराइल से युद्ध रोकने की अपील करने की माँग की थी। इस माँग को ठुकराते हुए सरकार ने यह स्पष्ट किया है कि भारत की विदेश नीति में कोई बदलाव नहीं किया गया है और सरकार फिलिस्तीन को समर्थन देने के साथ इजराइल से संबंध बनाए रखने की नीति पर ही अमल कर रही है। इजराइल के द्वारा 8 जुलाई, 2014 में जारी ऑपरेशन प्रोटेक्टिव एज, हमास के उकसावे का परिणाम था। हमास ने इजराइल के रिहायशी इलाकों में रॉकेट से सैकड़ों हमले कर इजराइल को अपने अस्तित्व और अपनी संप्रभुता की रक्षा के लिए विवश किया है। हमास ने फिलिस्तीन की गाजा पट्टी जैसे सघन आबादी वाले स्थानों में अपने बंकर रॉकेट लांचर आदि स्थापित कर रखे हैं। उनके सफाए के लिए ही इजराइल को फिलिस्तीन की आबादी वाले स्थानों पर हमले करने को मजबूर होना पड़ा है।

इजराइल का विरोध और सुन्नी आतंकी संगठन हमास का समर्थन करनेवाले बुद्धिजीवी वस्तुत: ऐसी विषबेल को सिंचित कर रहे हैं, जिसकी चपेट में न केवल दुनिया के गैर-मुसलिम देश आएँगे, बल्कि कई इसलामी राष्ट्रों पर भी इसलामी कट्टरवाद के हावी होने का खतरा मँडराएगा। हमास ऐसे इसलामी देशों का भी कट्टर विरोधी है, जो शरीयत का पूर्णत: पालन नहीं करते और व्यवस्था को उदार व आधुनिक बनाने के प्रयास में हैं। इसी समय अफगानिस्तान की एक घटना सामने आई। एक मौलवी ने मसजिद के अंदर 10 वर्ष से छोटी बालिका के साथ दुष्कर्म किया। उसके साथ अमानवीय व्यवहार हुआ, परिणामत: बालिका अस्पताल में भरती हुई। बाल अधिकार वाले एक संगठन ने उसे शरण देकर न्याय दिलाने की पहल की तो मौलवी उससे निकाह को तैयार हो गया, किंतु उसके घरवाले ऑनर किलिंग के नाम पर बच्ची को जान से मारने पर आमादा हुए। बाल अधिकार वाले कार्यकर्ताओं को कट्टरपंथियों की धमकियाँ मिलीं, बालिका को संरक्षण प्रदान करने की जगह पुलिस उसे उसके परिजनों को सौंप आई। क्या हम सभ्य समाज की जगह ऐसी व्यवस्था कायम करने के लिए हमास जैसे कट्टरपंथी आतंकी संगठनों का बचाव करना चाहते हैं? इजराइल भूमध्य सागर के पूर्वी तटीय क्षेत्रों से सटा हुआ मध्य-पूर्व में

स्थित है, जो लेबनान, सीरिया, जॉर्डन और ग्रीस से घिरा हुआ है। यह यूरोप, एशिया और अफ्रीका महादेशों के मिलन बिंदु पर स्थित है। इसलामी देशों के लिए यहूदी राष्ट्र इजराइल शुरू से ही खटकता रहा है। ईरान के पूर्व राष्ट्रपति अहमदीनेजाद ने तो सार्वजनिक तौर पर इजराइल को दुनिया के नक्शे से खत्म करने की धमकी दी थी। हमास का भी यही घोषित लक्ष्य है।

सन् 1948 में एक राष्ट्र के रूप में अपने उदय के बाद से ही इजराइल पर फिलिस्तीन और मध्य-पूर्व में सक्रिय कई अन्य आतंकवादी संगठनों, जिन्हें शस्त्र और धन विभिन्न अरब देशों से प्राप्त होता है, के हमले होते रहे हैं। सीरिया और ईरान जैसे कुछ अरब राष्ट्र हिजबुल्ला जुलाई 2014 में गोवा के उप-मुख्यमंत्री फ्रांसिस डिसूजा ने यह कहा है कि भारत जो एक हिंदू राष्ट्र है ही तब कुछ लोग भ्रमित भी हुए और कुपित भी, उन्होंने मोदी सरकार के किसी गुप्त एजेंडे पर सक्रियता देखी। वे बार-बार यह आरोप लगाते थे कि यह सरकार और पूर्व की वाजपेयी सरकार भी राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के छिपे हुए एजेंडे पर काम कर रही है। ऐसे लोगों को तब बहुत निराशा हुई थी, जब वाजपेयी सरकार विश्व हिंदू परिषद् और बजरंग दल सरीखे संगठनों से दूरी बनाती दिखी। मोदी सरकार को हिंदू राष्ट्र के कथित गुप्त एजेंडे पर काम करता हुआ देखनेवालों को उस विवाद से बल मिला है, जो गुजरात में दीनानाथ बत्रा की पुस्तक से उभरा। सनसनी के लिए व्याकुल रहनेवाले मीडिया के एक हिस्से और खासकर कुछ टी.वी. चैनलों ने फ्रांसिस डिसूजा के बयान के साथ शिवसेना सांसदों की ओर से एक रोजेदार को रोटी खिलाने की कोशिश और सानिया मिर्जा के खिलाफ दिए गए बयान को भी जोड़ दिया। मीडिया रिपोर्ट में बवाल के बाद फ्रांसिस डिसूजा ने एक स्पष्टीकरण दिया है। इस स्पष्टीकरण के अनुसार, "अगर मेरे बयान से किसी की भावनाएँ आहत हुई हैं तो मैं उसके लिए माफी माँगता हूँ। हिंदू मेरी संस्कृति है। मेरा धर्म ईसाई है। जब मैं हिंदू कहता हूँ तो इससे मेरा अर्थ संस्कृति से है, धर्म से नहीं। हिंदू संस्कृति पाँच हजार साल पुरानी है, जबकि हिंदू धर्म दो हजार साल पुराना।"

फ्रांसिस डिसूजा ने इसके पहले जो बयान दिया था, वह गोवा सरकार के ही एक मंत्री पांडुरंग दिलीप धवलीकर के उस कथन के संदर्भ में था कि नरेंद्र मोदी भारत को एक हिंदू राष्ट्र बनाएँगे। पता नहीं धवलीकर के यह कहने का आशय क्या था? यह भी उनके अलावा शायद ही किसी को पता हो कि उन्होंने ऐसा क्यों देखा-सुना, जिससे इस नतीजे पर पहुँच गए कि मोदी देश को हिंदू राष्ट्र में परिवर्तित करने जा रहे हैं, लेकिन उनके इसी बयान पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए फ्रांसिस ने कहा था कि भारत तो पहले से ही एक हिंदू राष्ट्र है। जब उनसे अपनी बात समझाने को कहा गया तो उन्होंने इस तरह समझाया, "इसमें दो राय नहीं होनी चाहिए कि भारत एक हिंदू राष्ट्र है। यह हमेशा से हिंदू राष्ट्र रहा है और रहेगा। हिंदुस्तान में सभी भारतीय हिंदू हैं। यहाँ तक कि मैं भी। ईसाई हिंदू हूँ। जब भारत एक हिंदू राष्ट्र है तो फिर किसी को ऐसा बनाने की जरूरत ही नहीं है।" यह समझने की जरूरत है कि फ्रांसिस डिसूजा भाजपा के सदस्य हैं और धवलीकर भाजपा के सहयोगी दल महाराष्ट्र गोमांतक पार्टी के। हालाँकि फ्रांसिस डिसूजा ने माफी माँगते हुए अपना स्पष्टीकरण दे दिया है, लेकिन वह अपनी बात पर कायम हैं। वस्तुत: उन्होंने अपनी पुरानी बात को नए सिरे से अच्छी तरह स्पष्ट किया है। किसी के लिए भी यह समझना कठिन हो सकता है कि आखिर एक ईसाई नेता को यह कहने की क्या जरूरत थी कि भारत तो पहले से ही हिंदू राष्ट्र है, लेकिन यह कोई नई-अनोखी बात नहीं है। जिस तरह भारत के नागरिक भारतीय कहलाते हैं, उसी तरह हिंदुस्तान के नागरिक हिंदू कहे जाते रहे।

हमारे संविधान में भले ही इंडिया दैट इज भारत लिखा हो और उसमें हिंदुस्तान शब्द को जगह न मिली हो,

लेकिन यह शब्द न तो निषेध है, न अवांछित और न ही अनुचित। यह करीब-करीब हर कहीं, यहाँ तक कि संसद् और विधानसभाओं में भी खुलकर इस्तेमाल होता है। हिंदुस्तान शब्द की उत्पत्ति के मूल में हिंदू है। हिंदू शब्द सिंधु से निकला और इसे निकाला अरब के लोगों ने। माना जाता है कि उन्हें सिंधु का उच्चारण करने में कठिनाई होती थी। इसलिए सिंधु धीरे-धीरे हिंदू बन गया, लेकिन यहाँ मामला सिंधु बनाम हिंदू का नहीं, बल्कि यह है कि क्या भारत एक हिंदू राष्ट्र है? इस सवाल का जवाब यही हो सकता है नहीं, भारत हिंदू राष्ट्र नहीं है। भारत एक पंथ-निरपेक्ष राष्ट्र यानी एक ऐसा राष्ट्र है, जहाँ किसी एक उपासना पद्धति, आस्था, मजहब को शासन का संरक्षण प्राप्त नहीं है। इस सबके बावजूद भारत में उन परंपराओं, प्रतीकों को महत्ता मान्यता मिलती है, जो हिंदू संस्कृति का हिस्सा हैं। निस्संदेह भारत राजनीतिक तौर पर हिंदू राष्ट्र नहीं है, लेकिन सांस्कृतिक तौर पर एक हिंदू राष्ट्र है।

पंथ-निरपेक्षता के नाम पर इस सांस्कृतिक स्वरूप को नकारने अथवा उससे मुक्ति पाने की कोशिश ठीक नहीं, क्योंकि हर एक राष्ट्र की अपनी एक विशिष्ट सांस्कृतिक रचना होती है—वह चाहे कोई पंथ-निरपेक्ष राष्ट्र हो या फिर गैर पंथ-निरपेक्ष यानी धार्मिक राष्ट्र। इंडोनेशिया सबसे अधिक मुसलिम आबादी वाला एक इसलामी राष्ट्र है, लेकिन उसकी संस्कृति में अनेक ऐसे तत्त्व हैं, जो अन्य इसलामी देशों में वर्जित और अवांछित माने जाते हैं। इंडोनेशिया ने वे सांस्कृतिक मूल्य और प्रतीक अभी भी सँजोए हुए हैं, जो इसलाम के आगमन से पहले वहाँ प्रचलित थे। यही कारण है कि वहाँ की सरकारी एयरलाइंस का नाम गरुड़ एयरलाइंस है। यह नामकरण पौराणिक पक्षी गरुड़ के नाम पर ही किया गया है। इंडोनेशिया ने ऐसे ही अन्य अनेक प्रतीक अपना रखे हैं, जो हिंदू संस्कृति का हिस्सा माने जाते हैं। 2013 में इंडोनेशिया ने अमेरिका को अपनी संस्कृति का एक प्रतीक भेंट किया। यह देवी सरस्वती की विशालकाय प्रतिमा थी। जी हाँ, इंडोनेशिया में भी सरस्वती को ज्ञान की देवी माना जाता है। भारत सरकार ऐसा कोई उपहार किसी अन्य देश को भेंट करें तो हमारे सेक्युलर सम्राट् बवाल खड़ा कर देंगे। इस तरह के सवाल खड़े भी किए जाते रहे हैं। कुछ वर्षों पहले जब ई. अहमद मनमोहन सरकार में मंत्री थे तो उन्होंने तमिलनाडु में आयोजित एक कार्यक्रम में दीप प्रज्वलित करने से इनकार कर दिया था। बेहतर हो कि पंथ-निरपेक्षता के हमारे पुरोधा यह समझें कि फ्रांसिस डिसूजा ने जो कुछ कहा, उस पर चीख-पुकार मचाने की जरूरत नहीं है।

राजनीति करनेवालों में प्रतिद्वंद्वी या विरोधी के कथन को तोड़-मरोड़कर प्रस्तुत करने का चलन अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाता जा रहा है। अभिव्यक्ति या आचरण को उसके मूल रूप में न समझने के कई दुष्परिणाम भी सामने आ रहे हैं। जिस प्रकार का आचरण अभिव्यक्तियों के बारे में हो रहा है, वैसा ही कुछ घटनाओं के संदर्भ में भी होने लगा है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि जो दोषी हैं अथवा जो मूल कारण है, उसकी उपेक्षा हो रही है। एक उदाहरण है कि जुलाई 2014 में महाराष्ट्र सदन में शिवसेना के सांसदों द्वारा कैंटीन के एक कर्मचारी को रोटी खिलाने के प्रयास का। इस घटना को सांप्रदायिक विद्वेष के रूप में उभारने की होड़ लग गई। परिणाम क्या हुआ? जो मूलत: दोषी था या है, वह नेपथ्य में चला गया। शिवसेना के सांसदों की शिकायत खाने के घटिया स्तर और सदन की आवास व्यवस्था में खामियों को लेकर थी, जिसके संबंध में वार्त्ता के स्थानीय आयुक्त ने उनके साथ बातचीत के लिए बुलाया था। स्थानीय आयुक्त गायब हो गए और अपने किसी उत्तरदायी सहयोगी को भी नहीं भेजा। अव्यवस्था से क्षुब्ध सांसद उत्तेजित हो गए। इसलिए जो सामने आया, उस पर उन्होंने अपना गुस्सा उतारा। किसी भी जनप्रतिनिधि के इस प्रकार के आचरण की सराहना नहीं की जा सकती। इसलिए उनके असंयमित होने की भर्त्सना को औचित्यपूर्ण कहा जा सकता है, लेकिन इसे किसी रोजेदार मुसलमान के मुँह में रोटी ठूँसने के रूप में चर्चित करने की अपेक्षा नहीं थी। सांसदों को यह कैसे पता चलता कि वह व्यक्ति मुसलमान है और रोजे से है।

वहाँ उपस्थित एक टी.वी. चैनल के पत्रकार के अनुसार सांसदों के चले जाने के बाद उसने कहा कि वह रोजे से था। टी.वी. संवाददाता के अनुसार यह जानकारी होने पर उसने स्वयं उस व्यक्ति से खेद प्रगट किया। इस घटना की जिस रूप में चर्चा हुई उसके परिणामस्वरूप ईश्वर की कृपा से सांप्रदायिक उन्माद नहीं फैला, लेकिन इस घटना की मनमानी व्याख्या करनेवालों ने नई दिल्ली स्थित राज्यों के सदनों की अव्यवस्था और अधिकारियों के गैर-जिम्मेदाराना आचरण पर परदा डालने का काम अवश्य किया।

हमारे देश में एक वर्ग दूषित मानसिकता के कारण किसी घटना या अभिव्यक्ति को सही परिप्रेक्ष्य में देखने से सदैव इनकार करता रहा है और जानबूझकर ऐसी अफवाहें फैलाता रहा है, जो सामाजिक विद्वेष का कारण बनती रही हैं। इन्हीं दिनों की दो-तीन घटनाएँ इसका उदाहरण हैं। तेलंगाना की सरकार ने सानिया मिर्जा को अपना ब्रांड एंबेसडर बनाया। वहाँ के एक भाजपा विधायक लक्ष्मण और कांग्रेस के वरिष्ठ नेता हनुमंत राव ने उसकी आलोचना की और कहा कि वह अब भारत की बेटी नहीं पाकिस्तान की बहू हैं। दिल्ली में भाजपा नेताओं ने अपने विधायक के कथन को नकार दिया। कांग्रेस अपने नेता के कथन पर मौन रही, लेकिन मीडिया ने लक्ष्मण के कथन को ही महत्त्व दिया। क्यों?

इसी प्रकार गोवा विधानसभा में एक सदस्य—जो महाराष्ट्र गोमांतक पार्टी के हैं—ने यह कहा कि नरेंद्र मोदी देश को हिंदू राष्ट्र बना देंगे, यह हमारे लिए सौभाग्य की बात होगी। उनके कथन के दुष्प्रभाव को रोकने के लिए वहाँ के उप-मुख्यमंत्री फ्रांसिस डिसूजा (जो भाजपा के सदस्य हैं) ने कहा कि भारत हिंदू राष्ट्र है ही, उसे ऐसा बनाने की क्या जरूरत है। भारत में रहनेवाले सभी हिंदुस्तानी हैं। मैं ईसाई हिंदू हूँ। विधायक के कथन को उप-मुख्यमंत्री की अभिव्यक्ति के साथ तोड़-मरोड़कर जिस निष्कर्ष के साथ पेश किया गया, वह औचित्यपूर्ण था? ईसाइयत या इसलाम के समान हिंदू या हिंदुत्व कोई धर्म, मजहब या पंथ नहीं है। यह सर्वोच्च न्यायालय भी कह चुका है और परंपरा से भी निर्धारित है। ईसाई या मुसलमान उसी प्रकार हिंदू या हिंदुस्तानी है, जैसे सनातनी, जैन, बौद्ध, सिख, आर्य समाजी आदि। हिंदू या हिंदुस्तान एक भौगोलिक अभिव्यक्ति है। आजादी के पूर्व और कुछ समय तक भारत, बर्मा, श्रीलंका और आज के पाकिस्तान तथा बँगलादेश से जो लोग हज करने जाते थे, उन्हें हिंदी कहा जाता था। हिंदी हाजियों की वैसी ही भौगोलिक पहचान थी, जैसे अन्य देशों से आनेवालों की। लेकिन गोवा के दो जनप्रतिनिधियों की अभिव्यक्ति को भगवाकरण अभियान के रूप में पेश किया गया। मीडिया ने भले ही इसमें अपनी टी.आर.पी. बढ़ाने के उद्देश्य से रंग भरा हो, लेकिन अर्से से खंडित सामाजिक आस्था को एजेंडा बनाए रखनेवालों ने इसे अपने लिए हथियार के रूप में अपना लिया। यह हमारा सौभाग्य है कि इसका प्रगटीकरण सांप्रदायिक तनाव के रूप में नहीं हुआ।

हमें हमारे समझदार पूर्वजों ने परामर्श दिया है कि पहले सोचो फिर समझो और तब आचरण करो, लेकिन आजकल इसका ठीक उल्टा हो रहा है। हम पहले आचरण कर बैठते हैं, फिर उसका परिणाम सामने आता है, तब सोचते हैं कि क्या यह उचित था और इस सोच की अभिव्यक्ति व्यक्ति या संस्था के तात्कालिक हानि-लाभ के आधार पर करते हैं। 'एक भारत, समर्थ भारत' के प्रति प्रतिबद्ध लोगों को भटकाने के लिए अभी और भी तेजी आएगी। जो भारत को पुन: वैभव दिलाने के लिए प्रतिबद्ध हैं, उन्हें इस भटकाव से खुद को बचाना होगा। संयम के साथ अपने लक्ष्य की प्राप्ति का एक मात्र उपाय है—सीधे रास्ता चलना। भटकाने वाली शक्तियों की अनदेखी करके ही सफलता के रास्ते पर आगे बढ़ा जा सकता है। पिछले कुछ दिनों में जो कुछ हुआ है, वह एक सबक है। जो लोग देश में सत्ता परिवर्तन को हजम नहीं कर पा रहे हैं, वे अपने मकसद को पूरा करने के लिए किसी भी

घटना को किसी भी रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं।

अगस्त 2014 में मेरठ के खरखौदा की रहनेवाली युवती के साथ सामूहिक दुष्कर्म की खबर आई, मामले की तत्कालीन उत्तर प्रदेश पुलिस और प्रशासन ने अपराध की जाँच और उसके बारे में काररवाई गंभीरता से नहीं की, इसे देखकर यह लगा कि सरकार ऐसा आरोपी और पीड़िता के मजहब को ध्यान में रखकर करती है? यह प्रश्न इसलिए प्रासंगिक हो गया कि खरखौदा (मेरठ) में एक युवती से सामूहिक दुष्कर्म और धर्मांतरण के मामले में पुलिस ने वीभत्स अपराध की जड़ तक जाँच न कर मजहबी कट्टरपंथ की शिकार महिला को निरंतर झूठा प्रमाणित करने का प्रयास किया। पुलिस ने जाँच पूरी कर अपनी जानकारी मीडिया से साझा करने की जगह टुकड़ों-टुकड़ों में दी, आखिर क्यों? पीड़ित युवती को झूठा साबित करने के लिए पुलिस दुष्कर्म को नकार कर मीडिया में यह खबर लीक कर रही है कि युवती ने स्वेच्छा से संबंध बनाए थे। पुलिस यह दावा कर रही है कि उक्त युवती और एक आरोपी थापर नगर स्थित एक होटल में 29 जून को पति-पत्नी के रूप में ठहरे थे, जिसमें उस युवक द्वारा होटल में एंट्री करने का खुलासा किया गया है। होटल मैनेजर सुरेश पंथी ने जब उस युवक और युवती को सामने लाने पर पहचाने जाने के बाबत पूछा गया तो उसने इनकार कर दिया। आई.डी. के साथ होटल रजिस्टर में दर्ज एंट्री का प्रमाण क्यों नहीं दिया गया, इस पर भी मैनेजर ने चुप्पी साध ली। पुलिस ने होटल एंट्री की छायाप्रति मीडिया को उपलब्ध क्यों नहीं कराई?

क्या कारण है कि पुलिस ने होटल मैनेजर के संदेहास्पद और बिना साक्ष्य के बयान को प्रसारित किया और पीड़ित युवती को झूठा साबित करने पर तुली? क्या विडंबना नहीं है कि तत्कालीन प्रदेश की सपा सरकार ने आतंकवादियों की रिहाई के लिए तो न्यायालय का दरवाजा खटखटाया था, वहीं आतंक की शिकार के साथ कोई सहानुभूति न रख उसे झूठा प्रमाणित करने का कुप्रयास कर पुनः प्रताड़ित किया। वास्तव में इस तरह के दोहरे मापदंड और न्याय के नाम पर होनेवाले खिलवाड़ से सांप्रदायिक सद्भाव को आघात पहुँचता है और सांप्रदायिकता की वह विषबेल भी पुष्ट होती है, जिसने 1947 में भारत का रक्तरंजित विभाजन कराया। इन सब कारणों से उत्तर प्रदेश में सपा सरकार के आने के बाद से अगस्त चौदह तक सांप्रदायिक हिंसा की 600 से अधिक घटनाएँ हुईं। प्रदेश में जबरन धर्मांतरण, दुष्कर्म और दूसरे धर्मों के उपासना स्थलों पर मजहब विशेष के कट्टरपंथियों के हमलों में तेजी आई। यहाँ पिलखुआ की घटना का जिक्र करना समीचीन होगा, जहाँ एक 14 वर्षीय किशोर को लालच देकर धर्म परिवर्तन कराया गया। इससे पूर्व दिल्ली से सटे लोनी में 15 वर्षीया नाबालिग बालिका को एक युवक ने अपने प्रेमजाल में फाँस लिया और धर्मांतरण के बाद उससे निकाह कर लिया।

2013 में मुजफ्फरनगर और उसके बाद शामली में फैले दंगों के पीछे भी लव जिहाद ही बड़ा कारण था। मुजफ्फरनगर के मुसलिम बहुल कवाल गाँव में स्कूल जाती हिंदू लड़कियों से छेड़छाड़ की गई, किंतु कोई सुनवाई नहीं हुई। जब पीड़िता का भाई अपने रिश्तेदार के साथ छेड़छाड़ का विरोध करने पहुँचा तो वहीं से हिंसा और प्रतिहिंसा की रक्तरंजित शृंखला शुरू हुई और उसकी परिणति भयावह दंगों के रूप में सामने आई। लव जिहाद का हौवा संघ परिवार ने खड़ा किया है, क्या यह वास्तविक है? दिसंबर 2009 में केरल उच्च न्यायालय ने लव की आड़ में होनेवाले धर्मांतरण पर चिंता व्यक्त की थी। न्यायाधीश के.टी. शंकरन ने कड़ी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा था कि पिछले चार साल में तीन-चार हजार धर्मांतरण हुए हैं। न्यायालय ने टिप्पणी भी की थी कि लव जिहाद कुछ मुसलिम संगठनों की पहल पर 1996 में प्रारंभ हुआ।

मेरठ के खरखौदा में हुए सामूहिक दुष्कर्म और जबरन धर्मांतरण पर सेक्युलर दलों की चुप्पी विषाक्त चिंतन की

छाप है। पीड़िता एक मदरसे में अंशकालिक शिक्षित थी। उसकी बचपन की सहेली ने उसकी मुलाकात मदरसे के मौलवी से कराई थी। एक प्रमुख समाचार-पत्र को दिए साक्षात्कार में पीड़िता ने बताया, "जब रमजान शुरू हुआ तो उन्होंने दोबारा मुझे अपने जाल में फँसाना शुरू कर दिया। मुझे हापुड़ के एक मदरसे में ले जाया गया, जहाँ मेरे साथ सामूहिक दुष्कर्म किया गया। मेरा अल्ट्रासाउंड और ऑपरेशन भी कराया गया, फिर मुझे मुजफ्फरनगर में एक दूसरे मदरसे में लाया गया। वहाँ और भी कई लड़कियाँ थीं। उन्होंने एक हलफनामे पर किसी अन्य से हस्ताक्षर करवाए, जिसमें दावा किया गया है कि मैं मुसलमान बन गई हूँ और अपना नाम जन्नत रखा है। एक मौलवी ने इन लड़कियों को किसी कलाम सिद्धीकी की लिखी पुस्तक 'आपकी अमानत, आपकी सेवा' पढ़ने को दी। इस पुस्तक में इसलाम का गुणगान और धर्मांतरण करनेवाली हिंदू लड़कियों की दास्तान है।" मदरसे में और युवतियों के कैद होने की शिकायत जब पुलिस से की गई तो पुलिस के एक वरिष्ठ अधिकारी ने मीडियाकर्मियों को बताया कि छापे में उन्हें एक भी लड़की नहीं मिली। क्या कोई अपराधी उसके अपराध का खुलासा होने के बाद पुलिस का इंतजार करेगा? इन समाचारों से यह प्रतीत हुआ कि प्रशासन जबरन धर्मांतरण को प्रेम-प्रसंग साबित करना चाहता था। पीड़िता पर कोर्ट में दिए बयान को बदलने का दबाव डाला गया। जबकि पीड़िता से मिलने के बाद राज्य महिला आयोग ने दुष्कर्म और जबरन धर्मांतरण की पुष्टि की।

कट्टरपंथियों को मिलने वाले सरकारी संरक्षण के कारण ही सहारनपुर में दंगे भड़के। वहाँ गुरुद्वारा प्रबंधन अपनी जमीन पर लंगर भवन का निर्माण कराना चाहता था। एक सुनियोजित साजिश के तहत लोगों के दुकान-मकान जलाए गए। दंगाइयों को किसने भड़काया? क्या इस घृणित कार्य को अंजाम देने वाले तथाकथित सेक्युलर दल के नेता नहीं थे? राजनीतिक दबाव के कारण वहाँ घंटों अराजकता का आलम था, पुलिस सड़क पर केवल डंडे पीटती रही और दंगाइयों को रोकने का कोई ठोस प्रयास नहीं किया। इसी तरह की मानसिकता ने 1947 में मजहब के आधार पर देश का बँटवारा कराया था, जिसे कांग्रेस ने स्वीकार किया और तथाकथित सेक्युलर 'वामपंथियों' ने पुरजोर समर्थन किया था। खंडित भारत के सामने क्या वही खतरा दोबारा मुँह बाए नहीं खड़ा है? यदि हम समय रहते नहीं चेते तो क्या इतिहास को पुन: दोहराने से रोक पाएँगे? 3 जनवरी, 2016 को पश्चिम बंगाल के मालदा जिले में हजारों मुसलिम गुंडों ने कई जगह हिंदुओं के घरों-दुकानों में लूटपाट, आगजनी, पुलिस बलों पर हमले, कई वाहनों में आगजनी की, यहाँ तक बी.एस.एफ. के वाहनों को भी नहीं छोड़ा, ये लोग 29 नवंबर, 2016 को हिंदू महासभा के नेता कमलेश तिवारी के उस बयान पर उग्र हुए थे, जिसमें कमलेश ने पैगंबर मुहम्मद साहब पर कुछ आपत्तिजनक टिप्पणी कर दी थी। कमलेश ने तत्कालीन यू.पी. के मंत्री आजमखाँ के आर.एस.एस. नेताओं पर अशोभनीय टिप्पणी पर प्रतिक्रिया कर दी थी, जबकि कमलेश तत्काल ही गिरफ्तार कर लिया गया था, ऐसी हिंसा पर पुरस्कार लौटाने वाली मंडली तथा सेक्युलर खेमे ने कोई निंदा करना भी उचित नहीं समझा, ऐसी ही हिंसा पश्चिम बंगाल के परगना जिले के बशरीहाट सहित कई इलाकों में हुई, जब एक हिंदू नाबालिग ने इसलाम धर्म के बारे में फेसबुक पर आपत्तिजनक टिप्पणी कर दी, उसको पुलिस ने तत्काल गिरफ्तार कर लिया, बावजूद मुसलिम धर्मांध भीड़ ने जबरदस्त तरह से हिंदू समुदाय के घरों में जमकर लूटपाट, आगजनी की, मंदिरों को जलाया गया, इस हिंसा में कई लोग घायल हो गए और एक हिंदू कार्तिक चंद्र घोष की मौत हो गई, सेक्युलर खेमे ने एक बार फिर हमेशा की तरह चुप्पी साध ली।

दिल्ली के जे.एन.यू. और हैदराबाद के उस्मानिया कैंपस में अक्तूबर 2014 में तथा इसके बाद कई बार और पहले भी कुछ एक्टिविस्टों द्वारा दुर्गा पूजा के समय देवी दुर्गा का अपमान और 'महिषासुर दिवस' मनाने की घटना

दोहराई गई। इन्हीं लोगों ने तीन साल पहले भी यह कार्य किया था। इस पर न केवल भाजपा से जुड़ी विद्यार्थी परिषद्, बल्कि अन्य छात्र-संगठनों ने भी विरोध जताया था। महिषासुर दिवस मनाने वाले अपने को पिछड़ा वर्ग, दलित, आदिवासियों का प्रतिनिधि बताते हैं। कुछ रेडिकल लेखक, पत्रकार भी उनसे जुड़े। एक द्विभाषी पत्रिका के माध्यम से यह सम्मिलित व्यापार कुछ वर्षों से चल रहा है। पर इन गतिविधियों की खोज-बीन करने पर दूसरा ही सच मिलता है। सबसे पहले तो यह कि दलितों, पिछड़ों की दावेदारी करनेवाले इन तत्त्वों का संचालन कोई दलित, पिछड़ा नहीं, बल्कि ईसाई मिशनरी कर रहे हैं। उक्त पत्रिका सीधे-सीधे मिशनरियों द्वारा नियंत्रित, पोषित है अर्थात् महिषासुर प्रेम दिखावा है। इस प्रपंच की आड़ में वही पुरानी, हिंदू-द्वेषी, भारतीय राष्ट्र विरोधी राजनीति हो रही है, जो मिशरियों का पुराना खेल है। इसके नाम और रूप बदलते जाते हैं, मगर अंतर्वस्तु वही रहती है।

इसे इतने खुले रूप में होते देख आश्चर्य भी होता है। जो रेडिकल-वामपंथी लेखक, बुद्धिजीवी उनका समर्थन करते हैं, उन्हें फर्क नहीं पड़ता कि इससे किसका हित सध रहा है। उनके लिए तो हिंदू धर्म, संस्कृति और भारत की अखंडता की खिल्ली उड़ाना ही पर्याप्त है। महिषासुर दिवस मनाने के नाम पर दलितों, पिछड़ों को दूसरे हिंदुओं से लड़ाने की इस कुटिलता को पहचानना कठिन नहीं है। जरूरत है केवल उन एक्टिविस्टों और उनके सरपरस्तों की सारी बातों, क्रियाकलापों और संसाधनों को सामने रखने की। तब समझने में कठिनाई नहीं होगी कि इन विचित्र दलितवादियों के लिए नारायण, गुरु स्वामी श्रद्धानंद और डॉ. आंबेडकर से भी अधिक अनुकरणीय विलियम बिल्बरफोर्स क्यों है? यह कोई अपवाद उदाहरण नहीं। यदि कथित महिषासुर-प्रेमियों के संपूर्ण लेखन, गतिविधियों आदि को सामने रखें तो उनके प्रेम की कलई खुल जाएगी। उनके दलित विमर्श के आवरण में मुख्य कार्य अनजान, भोले-भाले लोगों को ईसाइयत में धर्मांतरणि कराने के लिए मानसिक रूप से तैयार करना है। इसीलिए हिंदू पर्व-त्योहारों पर कीचड़ उछाला जाता है और हिंदू देवी-देवताओं के बारे में ऊल-जुलूल प्रचार होता है। 'महिषासुर दिवस' मनने से ज्यादा देवी दुर्गा के प्रति अशोभनीय बातें कहने की जिद रहती है, उसमें एक विघटनकारी राजनीतिक संदेश है, जिसे जानना-समझना चाहिए। उक्त पत्रिका ने अपने कैलेंडर में होली, दीवाली, रामनवमी, दशहरा त्योहारों तथा स्वामी दयानंद, स्वामी विवेकानंद की जयंतियों को गायब कर बदले में ईसाई मिशनरियों की जयंतियों और ईसाई त्योहारों को स्थान दिया है। इस उद्योग में अनेक वामपंथी बुद्धिजीवी भी शामिल हैं। अपनी हिंदू-विरोधी झक में वे देशी-विदेशी मिशनरी ताकतों के प्रचार-औजार बने हुए हैं।

यह संयोग नहीं कि जो एक्टिविस्ट महिषासुर दिवस मनाते हैं, वही गौमांस भक्षण समारोह भी करते हैं और दलितों का पहले बौद्ध, फिर ईसाइयत में धर्मांतरणि भी कराते हैं। इन सब कार्यों में मुख्य प्रेरक संगठन व प्रवक्ता वही मुट्ठी भर लोग हैं। मगर कटिबद्ध, संगठित और साधन-संपन्न अंतरराष्ट्रीय नेटवर्क से जुड़े होने के कारण खासे प्रभावी हैं। जब कोई हिंदू ऐसी चालों पर आपत्ति करता है, तो वही बुद्धिजीवी अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की दुहाई देकर ईसाइयत प्रचार के छल-छद्म को उचित ठहराते हैं। वे भूल जाते हैं कि धार्मिक संवेदनाओं के अतिरिक्त राष्ट्रीय सुरक्षा, अखंडता का प्रश्न भी ऐसे दुष्प्रचार से जुड़ा है। जस्टिस नियोगी समिति, जस्टिस वधवा समिति आदि कई न्यायिक आयोगों द्वारा बार-बार रेखांकित किया गया है कि ईसाई धर्मांतरणकारी योजनाएँ राष्ट्रीय विखंडन को भी प्रेरित करती हैं। अशांति और हिंसा बढ़ाती हैं, इन तथ्यों की पुष्टि विविध राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय अनुभवों से भी होती रही है।

महिषासुर प्रेम में 'आर्य-अनार्य' विभेद तथा 'बाहरी आर्यों द्वारा भारतीय अनार्यों पर आक्रमण' सिद्धांत को भी दोहराया जाता है, जैसे देवी दुर्गा बाहरी आर्य आक्रमणकारियों द्वारा भेजी गई थीं, जिन्होंने देशी राजा महिषासुर को

धोखे से मार डाला आदि। वस्तुत: आर्य आक्रमण/आगमन सिद्धांत तथा द्रविड़वाद जैसी काल्पनिक अवधारणाएँ भारत के विरुद्ध विघटनकारी परियोजना का एक बड़ा औजार बनाई गई हैं। दशकों से उसके दोहराव से उसे 'मान्य तथ्य' जैसा दिखाने की चाल सफल रही है। अब वही चाल महिषासुर को दलितवाद से जोड़ने में चली जा रही है, ताकि अनजान नई पीढ़ियों को हिंदू पर्व-त्योहार, परंपरा के विरुद्ध उभारा जा सके। साथ ही हिंदू धर्म को साम्राज्यवादी, अत्याचारी रूप में प्रचारित किया जा सके। ठीक दुर्गा-पूजा के अवसर पर दुर्गा को आर्य दुष्टा कहकर, अनार्य महिषासुर को नायक बनाने के सचेत प्रयत्न को पूरे संदर्भ में देखना जरूरी है। यह वस्तुत: हिंदू धर्म-समाज पर कालिख पोतने की पुरानी परियोजना का ही अंग है। समय के साथ इसमें मार्क्सवादियों तथा विचारधाराग्रस्त बुद्धिजीवियों को भी जोड़ लिया गया। अनेक बुद्धिजीवी जानबूझकर भरतीय सभ्यता के इतिहास, दर्शन और वास्तविकता को विकृत कर पेश करते हैं।

सच यह है कि भारत में हिंदू धर्म संस्कृति पर लंबे समय से कई प्रकार की ताकतों द्वारा संयुक्त प्रहार चल रहा है। हमारा देश आज एक बौद्धिक, भू-रणनीतिक कुरुक्षेत्र है। जरूरत है अपनी भूमिका पहचानकर सत्यनिष्ठ संघर्ष करने की। दुर्भावपूर्ण विचारधाराओं, निराधार प्रचार को खुली छूट देने की प्रवृत्ति छोड़नी चाहिए। हर वह बात जो भारतीय समाज को बाँटने, तोड़ने, अलगाव भरने के संकेत देती है, उसे ठोस तथ्य, तर्कों आँकड़ों पर जाँचना और समझना चाहिए। जिन मिथ्या दावों, नारेबाजी और द्वेषपूर्ण प्रचार से देश और समाज के लिए घातक विष फैल रहा है, उन्हें उनकी जगह दिखाएँ। यह हमारी नई पीढ़ियों की शिक्षा का अनिवार्य अंग होना चाहिए।

कट्टरवादी इसलाम के बर्बर रूप को दरशाते कई वीडियो सामने आते रहते हैं। अगस्त 2014 में इराक और सीरिया में सक्रिय जिहादी संगठन 'इसलामिक स्टेट' (आई.एस.) ने नृशंसतापूर्वक अमेरिकी पत्रकार जेम्स फोले का सिर कलम करने का वीडियो जारी किया था। इसके साथ ही एक वीडियो जारी कर बड़ी संख्या में यजीदियों का इसलाम में धर्मांतरण करते दिखाया गया था। इस तरह की विशेष धर्म प्रेरित बर्बरता पर जहाँ पूरी दुनिया का सभ्य समाज चिंतित और स्तब्ध है, वहीं भारत का सेक्युलर खेमा मौन क्यों रहता है। क्यों? जबकि ये सेक्युलर भारत में हो रही गौरक्षा पर एक दो घटनाओं पर ही बवंडर कई सप्ताह तक करते रहते हैं, दोनों हिंसाओं पर समान तरह से न्यायपूर्वक, वोटों के लालच छोड़कर क्यों निंदा नहीं करते, आई.एस. के लड़ाकों ने उत्तरी इराक के निनेवाह प्रांत और उत्तर-पूर्वी कुर्दिस्तान में रहनेवाले अल्पसंख्यक यजीदियों का नरसंहार कर दिया, दो-तीन महीने के बच्चों तक को गोली मारने से लेकर यजीदियों को सामूहिक रूप से जिंदा दफनाया गया। विश्व भर में करीब छह लाख यजीदी हैं, जिनमें से अधिकांश (4 से 5 लाख) इराक में निवास करते हैं और खुद को कुर्द मानते हैं, किंतु कट्टरपंथी सुन्नी उन्हें शैतान का उपासक बता उनके सफाए की निरंतर कोशिश करते आए हैं। सद्दाम हुसैन के राज में उन पर बेइंतहा जुल्म ढहाए गए। जब इराक और सीरिया के अनेक भागों में सुन्नी आतंकी संगठनों का कब्जा हुआ था, यजीदियों को बड़े पैमाने पर मौत के घाट उतारा गया। यजीदियों ने पलायन कर पहाड़ों में शरण ली, जिन्हें चारों ओर से आतंकियों ने घेर लिया था। छोटे बच्चे और बूढ़े भूख-प्यास से दम तोड़ते दिखाई दिए।

यजीदियों के धर्मांतरण से संबंधित वीडियो में पहाड़ों में शरण लिये यजीदियों से प्राणरक्षा के बदले इसलाम कबूल करने के लिए कहा गया। आगे बड़ी संख्या में यजीदियों के नीचे आने और जमीन पर बैठकर इसलाम कबूल करते हुए दिखाने के बाद यह उद्घोष किया गया कि अब तुम दीनईमान वाले और अल्लाह को प्राप्त हो गए। बंदूकों के साए में हुए धर्मांतरण की खबर पढ़ते हुए ध्यान में आता है कि किस तरह शैव और बौद्ध मत के प्रमुख अध्ययन केंद्र अफगानिस्तान में इसलाम का परचम लहराया होगा और कैसे विभाजन के बाद पाकिस्तान से

हिंदू-सिखों को समाप्ति के कगार पर लाया गया है।

विभाजन के दौरान पाकिस्तान की आबादी में हिंदू-सिखों का अनुपात 20-22 प्रतिशत के लगभग था, जो आज घटकर एक प्रतिशत से भी कम रह गया है। उनकी आबादी में कमी का कारण यह नहीं है कि उन्होंने पाकिस्तान से पलायन कर भारत में शरण ले ली। ऐसा होता तो भारत के हिंदुओं का प्रतिशत कुल आबादी में बढ़ा होता। कटु सत्य तो यह है कि भारतीय उप-महाद्वीप के तीनों देशों—खंडित भारत, पाकिस्तान और बँगलादेश में 1947 के बाद हिंदू आबादी के अनुपात में कमी आई है। यह स्थापित सत्य है कि उनमें से अधिकांश मजहबी उत्पीड़न से त्रस्त होकर तलवार के दम पर इसलाम कबूलने को मजबूर हुए। जो हिंदू-सिख वहाँ बचे हैं, उन्हें अपनी जान और अपनी महिलाओं के सम्मान की रक्षा के लिए जजिया चुकाना पड़ता है। क्या स्वतंत्र भारत में भी कश्मीर घाटी इस तरह की बर्बरता से हिंदू विहीन नहीं हुई?

यह जिहादी मानसिकता केवल पाकिस्तान तक सीमित नहीं है। मध्य-पूर्व के देशों में चल रहा हिंसक घटनाक्रम इसी जिहादी जहर से प्रेरित है। जिहादी कट्टरपंथियों का संदेश साफ है कि वे इसलाम के जिस रूप को सच्चा बताते हैं, दुनिया उस इसलाम को स्वीकार करे या फिर मरने को तैयार रहे। इंटरनेट पर भारत को लक्षित कर जिहाद छेड़ने के आह्वान वाले कई वीडियो भी सामने आए हैं। महाराष्ट्र और तमिलनाडु से कई मुसलिम युवाओं के इराक और आई.एस. के साथ जिहाद में शामिल होने की खबरें चिंताजनक हैं। कश्मीर घाटी में यू.पी. के मुजफ्फनगर के रहनेवाले हिंदू मूल के आतंकी संदीप शर्मा उर्फ आदिल का 10 जुलाई, 2017 को पकड़ा जाना कम चिंताजनक नहीं है, वैश्विक घटनाक्रमों के बीच कश्मीर से लेकर केरल तक चल रही जिहादी साजिश बहुत गंभीर है। केरल समेत देश के कई भागों में लव जिहाद का षड्यंत्र चल रहा है। यू.पी. के मैनपुरी, जहाँ अल्पसंख्यकों की अपेक्षाकृत कम आबादी है, अकेले जून 2017 के माह में दो घटनाएँ लव जेहाद की हुईं, दोनों शिकार हुई लड़कियाँ नाबालिग थीं, एक ब्राह्मण जाति की थी, जबकि दूसरी दलित समुदाय से ताल्लुक रखती थी, यहाँ चौंकाने वाली बात यह है कि आरोपी एक मुसलिम युवक मुरादाबाद का रहनेवाला था, दोनों की पहचान की शुरुआत मोबाइल पर एक मिस काल से शुरू हुई थी।

वेब साइटों पर भी कट्टरपंथी अपना मकड़जाल फैलाने की कोशिश कर रहे हैं। अल इसाबा मीडिया की ओर से मजनवी हिंदी नामक वेब साइट पर हिंदी में 'जिहाद में शिरकत के 44 तरीके' और उर्दू में 'जिहाद-दि फॉरगोटन आब्लिगेशन' डालकर मुसलिम समुदाय में मजहबी उन्माद पैदा करने का प्रयास किया गया। मीडिया खबरों के अनुसार यह प्रचार सामग्री कथित तौर पर किसी अनवर अवलाकी द्वारा लिखित है, जिसका अनुवाद उबैदा अल हिंदी ने किया है। इसके पूर्व दुनिया के मुसलिमों के लिए खुद को खलीफा घोषित किए बैठा आई.एस. का मुखिया अबू बकर अल बगदादी ने भारत के खिलाफ जिहाद छेड़ने का आह्वान करते हुए कहा था, "भारत भी उन देशों में से एक है, जहाँ मुसलिमों के अधिकार जबरन दबाए रखे गए हैं।" कश्मीर घाटी के अलगाववादियों के साथ देश के अन्य भागों में यदि ऐसे वीडियो मजहबी उन्माद पैदा करने में सफल हो रहे हैं तो इसके लिए सेक्युलरिस्टों के दोहरे मापदंड ही कसूरवार हैं, जो वोट बैंक की राजनीति के लिए कट्टरपंथ का पोषण करते आए हैं। क्या यह महज संयोग था कि कश्मीर घाटी में आई.एस. का झंडा जून-जुलाई 2014 के महीनों में तीन बार लहराया गया और सत्ता अधिष्ठान खामोश रहा? सबसे पहले 27 जून को शिया बहुल जादीबल में हुर्रियत नेता मीर वाइज की रैली में आई.एस. का झंडा लहराया गया था। इसके बाद ईद वाले दिन ईदगाह में आई.एस. का झंडा लहरा कर सुरक्षा बलों को उकसाने की कोशिश की गई। ईद वाले दिन ही श्रीनगर के बख्शी स्टेडियम में भी आई.एस. के

झंडे लहराए गए थे। अलगाववाद से सुलग रहे जम्मू-कश्मीर के कट्टरपंथी युवाओं को इंटरनेट के माध्यम से ही कट्टरता का पाठ पढ़ाया जा रहा है, जिससे प्रेरित होकर महाराष्ट्र के चार युवा आई.एस. के साथ इराक में लड़ने चले गए।

अंसार उल तौहिद नामक वेब साइट पर भी भारतीय मुसलमानों से वैश्विक जिहाद में शामिल होने की अपील करता एक वीडियो अपलोड हुआ है। इसमें एक नकाबपोश, जिसकी पहचान इंडियन मुजाहिदीन के लिए रंगरूट उपलब्ध कराने वाले भटकल (कर्नाटक) निवासी 39 वर्षीय सुल्तान अब्दुल कादिर अरमार के रूप में हुई है, अपने मजहब के लोगों से इराक और सीरिया में चल रहे हिंसक रक्तपात में शामिल होने की अपील करने के साथ एकजुट होकर मतावलंबियों के सफाए के लिए ललकारता है। सुल्तान दारूल-उलूम, देवबंद से पढ़ा था। उसके जिहादी अवतार से समझा जा सकता है कि मजहबी जुनून में पले-बढ़े युवकों के हाथ में कंप्यूटर व अन्य आधुनिक संचार माध्यम कितने घातक हो सकते हैं। समाज का एक वर्ग मदरसों का आधुनिकीकरण कर इस तरह की सारी समस्याओं का निदान करने का ख्वाब पाले हुए है, क्या ये घटनाएँ समस्या समाधान के विषय में और कुछ सोचने के लिए मजबूर नहीं करतीं।

दक्षिण एशिया का सुरक्षा परिदृश्य दिनोदिन भयावह होता जा रहा है। अफगानिस्तान छिन्न-भिन्न हो चुका है। पाकिस्तान भी विनाश की कगार पर दिखता है। अस्थिरता एवं अशांति की लहरें भारत की सीमा पर भी थपेड़े ले रही हैं। इसलामिक स्टेट (आई.एस.) की बर्बरता और उसके मध्य-पूर्व एशिया में प्रभाव से सारे विश्व में चिंता हो रही है। यद्यपि सीरिया के मेसुल शहर से आई.एस. का कब्जा जुलाई 2017 के मध्य में खत्म हो गया है, जान बचाने के लिए कई आतंकी नदी में कूद गए, अल बगदादी ने अपने विरोधियों और अल्पसंख्यकों पर जो कहर बरपाया वह हमें मध्यकालीन युग की याद दिलाता है। अमेरिका के पूर्व रक्षामंत्री चक हेगेल के अनुसार, आई.एस. जैसा कोई संगठन उन्होंने अभी तक नहीं देखा था, जिसमें विचारधारा और सैन्य शक्ति का ऐसा खतरनाक संगम हो। आई.एस. ने अमेरिका को खुलेआम धमकी दी है कि वह उसे खून से नहला देगा। एक अन्य सूचना के अनुसार, आई.एस. समर्थक ब्रिटेन और अन्य यूरोप के देशों में मुंबई में हुए 26 नवंबर जैसे हमलों को अंजाम देने की कोशिश में लगे हैं। भारत में भी आई.एस. का प्रभाव परिलक्षित होने लगा है, भले ही वह छोटे पैमाने पर है। सबसे पहली बार हमने 2014 साल के 27 जून, 11 जुलाई को और बाद में ईद के दिन 29 जुलाई को कश्मीर में कुछ युवाओं को आई.एस. के झंडे फहराते देखा, इसके बाद भी कई बार ऐसा होते देख चुके हैं। अल कायदा भी फुँकार मारने लगा है। इसके नेता अल जवाहिरी ने एक वीडियो जारी किया है, जिसमें उसने अलकायदा की भारतीय शाखा 'कायदात अल जेहाद' की स्थापना का ऐलान किया है। वीडियो में अल जवाहिरी ने कहा है कि भारत मुसलिम साम्राज्य का हिस्सा हुआ करता था, यहाँ फिर से इसलामिक राज्य स्थापित किया जाएगा। उसने यह भी कहा कि अल कायदा ब्रिटिश साम्राज्य के समय खींची गई कृत्रिम सीमाओं को, जो मुसलमानों को अलग-अलग देशों में बाँटती हैं, ध्वस्त कर देगा। सवाल यह उठता है कि अल जवाहिरी के वीडियो जारी करने के पीछे क्या मंशा थी? सच्चाई यह है कि जब से इसलामिक स्टेट चर्चा में आया है, तब से अलकायदा की उग्र छवि धीरे-धीरे धूमिल हो रही थी। कई देशों के इसलामिक संगठन, जैसे इंडोनेशिया, मलेशिया और पाकिस्तान के भी कुछ संगठन, जो अभी तक अलकायदा से संबद्ध थे, वे धीरे-धीरे आई.एस. की ओर झुकने लगे थे। इन परिस्थितियों में अपने महत्त्व को बनाए रखने के लिए संभवत: अलकायदा ने यह पैंतरा चला है। भारत, बँगलादेश और म्याँमार— इन तीनों ही देशों में मुसलमानों की अच्छी खासी आबादी है। अलजवाहिरी का लक्ष्य इन लोगों में धार्मिक उन्माद

बढ़ाकर अलकायदा को प्रासंगिक बनाए रखना प्रतीत होता है। वीडियो में उसने साफ-साफ कहा है कि सारी दुनिया के मुसलमानों में नई चेतना का संचार हो रहा है तो दक्षिण एशिया के मुसलमान कैसे शांत रह सकते हैं। 'इस समुद्र में कोई तूफान क्यों नहीं है।'

भारत सरकार ने अलकायदा के वीडियो को गंभीरता से लिया था। सुरक्षा एजेंसियों को सतर्क कर दिया गया। सभी राज्यों को अलर्ट भी भेजे गए। इसमें संदेह नहीं कि इस तरह के वीडियो के संदेश को गंभीरता से लेने की आवश्यकता होती है। परंतु इतने भर से कुछ नहीं होनेवाला, वास्तव में आंतरिक सुरक्षा व्यवस्था के सुदृढ़ीकरण की तात्कालिक आवश्यकता है। वर्तमान व्यवस्था लगभग वही है, जो पूर्व सरकार के समय में थी। दुर्भाग्य से आंतरिक सुरक्षा का क्षेत्र ही ऐसा है, जहाँ कोई नए ठोस कदम नहीं दिख रहे हैं। ऐसे तो सारी सुरक्षा व्यवस्था के पुनरीक्षण की आवश्यकता है, परंतु विशेष तौर से आतंकवाद से निपटने का हमारा, जो ढाँचा है, उसे सशक्त बनाने की जरूरत है। इसके लिए तीन मुद्दों पर तुरंत काररवाई होनी चाहिए। पहला तो यह कि हम आतंकवाद से निपटने की अपनी नीति को सुस्पष्ट कर दें। पिछले छह दशकों में हमारे नेतृत्व ने दुर्भाग्य से इस दिशा में ध्यान नहीं दिया। जो सरकार आती है, अपने राजनीतिक आकलन के अनुसार नीति बनाती और चलाती है। दूसरा यह कि आतंकवाद निरोधक कानून और सख्त बनाने की जरूरत है। जहाँ-तहाँ राष्ट्रविरोधी प्रदर्शन व अन्य गतिविधियाँ होती रहती हैं और हम उन्हें बर्दाश्त करते रहते हैं। स्लीपर माड्यूल पर कड़ी काररवाई की जरूरत है। बरदाश्त की सीमा होती है। लोकतांत्रिक स्वतंत्रता का राष्ट्रविरोधी गतिविधियों के लिए दुरुपयोग बंद होना चाहिए। सुरक्षा विशेषज्ञों का मानना है कि देश की एकता और संप्रभुता को चुनौती देने वाले को सीधे-सीधे एक निर्धारित अवधि के लिए अंदर कर दिया जाना चाहिए। एक नेशनल काउंटर टेररिज्म की स्थापना विवादों को सुलझाते हुए अविलंब की जानी चाहिए। इसी क्रम में राष्ट्रीय स्तर पर एक काउंटर टेररिज्म एकेडमी भी बनाई जानी चाहिए, जहाँ सशस्त्र पुलिस बलों को आतंकवाद से निपटने का प्रशिक्षण दिया जाए।

हमें अपनी पश्चिमी सीमाओं को आधुनिक तकनीक का सहारा लेते हुए और अधिक सुदृढ़ करना होगा। जब-तब घुसपैठ की सूचनाएँ आती रहती हैं। बँगलादेश की सीमा पर वर्तमान में बी.एस.एफ. यानी सीमा सुरक्षा बल तैनात है, परंतु बी.एस.एफ. को और अधिक अत्याधुनिक संसाधन उपलब्ध कराने चाहिए। हालाँकि अभी वर्तमान में संभावित चुनौतियों से तैयार रहने का कोई मौजूद ढाँचा हमारे देश में विकसित नहीं है।

पश्चिम बंगाल के बद्र्धमान जनपद में 2 अक्तूबर, 2014 को हुई घटना के तथ्य जैसे-जैसे सामने आ रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रदेश में आतंकवादियों ने अपनी अच्छी-खासी पैठ बना ली है। अफसोस होता है कि इस प्रदेश का कितना पतन हो गया है? भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में बंगाल की भूमि ने शायद सबसे अधिक सेनानी दिए। सुभाष चंद्र बोस का अद्वितीय योगदान अभी भी जनमानस के सामने सही तरीके से नहीं आया है। श्री अरविंद ने ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध जिस क्रांतिकारी आंदोलन का आह्वान किया था, वह अपने आप में विलक्षण था। वंदे मातरम् का सृजन भी बंकिम चंद्र चटर्जी ने किया था।

वोट बैंक की राजनीति प्रदेश को गर्त में ले गई है। पश्चिम बंगाल की वर्तमान दशा समझने के लिए पिछले करीब चार दशकों की दो महत्त्वपूर्ण घटनाओं को समझना आवश्यक होगा। पहला तो बँगलादेश से भारी संख्या में जनसंख्या की घुसपैठ। यह सर्वविदित है कि बंगाल की प्रमुख राजनीतिक पार्टियों ने इन घुसपैठियों की मदद की और उनको प्रदेश के नागरिक बनने में हर संभव सहायता की। कारगिल युद्ध के बाद भारत सरकार ने चार टास्क फोर्स का गठन किया था, इसमें से एक जो सीमा प्रबंधन से संबंधित थी, के प्रमुख माधव गोडबोले थे। इस टास्क

फोर्स ने बड़ी ईमानदारी से अपनी रिपोर्ट बनाई और सीमावर्ती समस्याओं पर प्रकाश डाला, गोडबोले ने सभी राजनीतिक पार्टियों की अवसरवादिता और निष्क्रियता पर भी कठोर टिप्पणी की। नतीजा यह हुआ कि रिपोर्ट दबा दी गई। रिपोर्ट में साफ-साफ लिखा गया था कि पश्चिम बंगाल में बँगलादेशियों की घुसपैठ के कारण मुसलिम जनसंख्या में भारी बढ़ोतरी हुई है और सीमावर्ती जनपद मुसलिम बाहुल्य हो गए हैं। टास्क फोर्स ने अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए जनपदवार आँकड़े भी दिए थे। रिपोर्ट वर्ष 2000 में दी गई थी और उस समय लिखा गया था कि प्रदेश के 292 विधानसभा क्षेत्रों में 52 ऐसे हो गए हैं, जहाँ बँगलादेशी तय करेंगे कि कौन प्रतिनिधि चुना जाए और 100 विधानसभा क्षेत्र ऐसे थे, जिसके परिणाम बँगलादेशी प्रभावित करने की स्थिति में थे। जाहिर है कि यह स्थिति पिछले 14 वर्षों में और बदतर हो गई होगी। आतंकवाद की गतिविधियों को जनंसख्या संतुलन बिगड़ने के परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। वर्ष 2001 में मंत्रिमंडल समूह ने चेतावनी देते हुए कहा था कि बँगलादेश से भारी संख्या में जो लोग अवैध तरीके से आ गए हैं, वह देश की सुरक्षा, सामाजिक सौहार्द और आर्थिक प्रगति के लिए एक गंभीर खतरा हैं। सुप्रीम कोर्ट ने जुलाई 2005 में अपने एक फैसले में कहा था कि बँगलादेशियों को भारत में रहने का कोई वैधानिक अधिकार नहीं है और इन्हें अपने देश वापस भेजा जाए, परंतु भारत सरकार ने इस चेतावनी और फैसले पर कोई काररवाई नहीं की। दुष्परिणाम सामने दिख रहा है। छोटी-छोटी बातों को लेकर बंगाल में मुसलिम कट्टरपंथी भीड़ ने कई जगह सामूहिक हमले किए, जिसमें भारी मात्रा में जान-माल को नुकसान पहुँचा।

टास्क फोर्स ने एक और महत्त्वपूर्ण तथ्य उजागर किया था। रिपोर्ट में गोडबोले ने लिखा था कि अंतरराष्ट्रीय सीमा से लगे हुए क्षेत्र में भारी संख्या में मसजिदों और मदरसों का निर्माण हुआ है। आश्चर्य की बात यह है कि ऐसे निर्माण उन जगहों पर भी किए गए हैं, जहाँ अल्पसंख्यक आबादी है ही नहीं या नगण्य है। इन मदरसों में उन्होंने पाया कि भारतीय मुसलमानों को जो अरबी या सलाफी इसलाम की शिक्षा दी जा रही है, वह उन्हें मुख्यधारा से अलग कर रही है। एक रिपोर्ट के अनुसार वर्तमान में बँगलादेश में लगी सीमा पर करीब 2800 मसजिदें और 1680 मदरसे हैं।

बद्र्धमान घटना अपने आप में साधारण थी। जनपद के खारागढ़ बस्ती में विस्फोट हुआ, जिसमें दो व्यक्तियों—शकील गाजी और शोभन मंडल की मृत्यु हो गई, जबकि तीसरा व्यक्ति अब्दुल हाकिम घायल हो गया। घटना स्थल से गाजी की पत्नी रजिया और हकीम की पत्नी अमीना बी गिरफ्तार की गई। घटना स्थल से विस्फोटक पदार्थ और अलकायदा से संबंधित कुछ साहित्य बरामद हुआ। प्रारंभिक जाँच से संकेत मिले कि ये व्यक्ति देशी बम और आई.ई.डी. बना रहे थे। राज्य सरकार ने घटना पर परदा डालना चाहा, परंतु जैसे-जैसे तथ्य सामने आते गए भारत सरकार ने यह आवश्यक समझा कि अपराध की जाँच का दायित्व राष्ट्रीय जाँच एजेंसी, यानी एन.आई.ए. को दे दिया जाए। एन.आई.ए. की अभी तक की जाँच के अनुसार घटना से संबंधित व्यक्ति जमात-उल-मुजाहिदीन, बँगलादेश के सदस्य हैं, जो एक प्रतिबंधित संगठन है। ये व्यक्ति बम एवं आई.ई.डी. बना रहे थे, जिसे बाद में बँगलादेश भेजा जाना था। इसी क्रम में एक अन्य गाँव सिमुलिया स्थित मदरसे की आपत्तिजनक गतिविधियाँ भी प्रकाश में आईं। जाँच से मालूम हुआ है कि इस मदरसे में युवाओं को जिहादी विचारधारा में रँगा जाता है और खागरागढ़ विस्फोट से संबंधित व्यक्तियों ने इसी मदरसे से अपनी कार्ययोजना बनाई थी। बड़े शर्म की बात है कि पश्चिम बंगाल में आतंकवाद के निर्यात की योजना बनाई जा रही थी और वह भी एक मित्र राष्ट्र के विरुद्ध। ऐसी गतिविधियों की शुरुआत भविष्य में क्या रूप ले, कहा नहीं जा सकता। कल यही व्यक्ति भारत के विभिन्न राज्यों में भी विस्फोटक पदार्थ भेज सकते थे। ऐसा नहीं कि बद्र्धमान में ही कुछ लोग ऐसी आतंकी

गतिविधियों में लिप्त हैं। एन.आई.ए. के प्रमुख के अनुसार बंगाल में 58 आतंकी मॉड्यूल सक्रिय हैं। कट्टरपंथियों के विरुद्ध ममता बनर्जी के नरम रुख के कारण स्थिति और बिगड़ी है। दुर्भाग्य से बंगाल जैसे हालात कुछ अन्य प्रदेशों में भी हो रहे हैं। असम के कांग्रेस सरकार के तत्कालीन मुख्यमंत्री तरुण गगोई ने भी अपने शासनकाल के दौरान कहा था कि प्रदेश में जिहादी तत्त्वों का खतरा बहुत बढ़ गया है और असम की स्थिति जम्मू-कश्मीर से ज्यादा भयावह हो सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि सभी पूर्वोत्तर राज्यों में जहाँ-जहाँ जनसंख्या संतुलन बिगड़ है, वहाँ या तो सांप्रदायिक स्थिति बिगड़ेगी या आतंकवादी गतिविधियों को प्रश्रय मिलेगा।

देश के अन्य भागों में भी स्थानीय नेताओं की दुल-मुल नीतियों के कारण शांति-व्यवस्था की स्थिति बिगड़ती जा रही है। केरल में कुछ ऐसे संगठन खड़े हो गए हैं, जो खुलेआम पाकिस्तान का झंडा लेकर चलते हैं। यू.पी. में फैजाबाद की कचहरी कांड के आतंकियों के तत्कालीन सपा सरकार द्वारा मुकदमे वापस लेना और केरल में कोयंबटूर में आडवाणी की जनसभा में बम विस्फोट के आरोपी पलानी बाबा की रिहाई के लिए विधानसभा में प्रस्ताव पास करना, जिसमें वामपंथी और कांग्रेस दोनों एक मत थे। चाहे बंगाल हो, केरल हो अथवा उत्तर प्रदेश— सत्ता में बने रहने के लिए हमारे नेता कहाँ तक जा सकते हैं, इसकी कोई सीमा प्रतीत नहीं होती।

(4)

देश के पूर्व प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी और महामना मदन मोहन मालवीय को दिसंबर 2014 को भारत रत्न दिए जाने के बाद से महामना को लेकर सेक्युलर तबके ने खूब हाय-तौबा की। इस खेमे का कुतर्क है कि बनारस हिंदू विश्वविद्यालय स्थापित करनेवाले मदन मोहन मालवीय को यदि भारत रत्न दिया गया तो अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय की नींव रखनेवाले सर सैयद अहमद को इससे वंचित क्यों किया गया? उन्हें यह सम्मान देकर प्रधानमंत्री मोदी अपनी कथित सर्वग्राही चिंतन पर मुहर लगवा सकते थे।

इस सेक्युलर खेमे को मालवीयजी के हिंदू महासभा से जुड़ाव को लेकर भी आपत्ति है। वहीं सर सैयद को भारत और भारत के मुसलमानों के हित में काम करनेवाला बताया गया है। क्या यह सच है? महामना और सर सैयद के चिंतन में राष्ट्रवाद के लिए क्या स्थान है? हिंदू महासभा से जुड़ने के बावजूद प्रखर पत्रकार, साहित्यविद् और न्यायविद् मदन मोहन मालवीय कांग्रेस के सक्रिय कार्यकर्ता भी थे। 1909, 1913, 1919 और 1932 में वह कांग्रेस के अध्यक्ष बने। वे हिंदू महासभा के साथ कांग्रेस से भी जुड़े रहे। 1936 के बाद वे कांग्रेस की तुष्टीकरण की नीति के चलते कांग्रेस से अलग हो गए, उन्होंने 1916 के लखनऊ समझौते के अंतर्गत मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन मंडल का मुखर विरोध किया था। उनका मानना था कि सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व और जनसंख्या से अधिक प्रतिनिधित्व को स्वीकार कर कांग्रेस ने अपने मूल आधार को समाप्त कर सांप्रदायिकता से समझौता कर लिया है। बाद में मालवीयजी की बात सही निकली। लखनऊ समझौता ही भारत के विभाजन का सूत्रधार बना जैसा कि बाद के इतिहासकारों ने भी इस घटनाक्रम को विश्लेषित करते हुए लिखा है, महामना का भी मानना था कि यह समझौता लीग के प्रति कांग्रेस की तुष्टीकरण नीति का प्रारंभ था कि यह समझौता सौदे का अंतिम अध्याय है, परंतु वास्तव में यह केवल पहला अध्याय निकला और उसका अंतिम अध्याय पाकिस्तान के रूप में सामने आया। कुछ विद्वानों का यह भी मानना है कि इस पाकिस्तान को अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय ने साकार किया, जिसकी नींव सर सैयद अहमद ने रखी थी। ईरानी परिवार में जनमे सर सैयद 1837 में कंपनी सरकार की सेवा में आए और उनके वफादार बने रहे। अपनी पुस्तक 'असबाब-ए-गदर' में उन्होंने यह प्रमाणित करने का प्रयास किया कि 1857 का

विद्रोह मुसलमानों द्वारा संचालित नहीं था। 1877 में अलीगढ़ में उन्होंने 'एंग्लो ओरिएंटल कॉलेज' की स्थापना की, जो कालांतर में अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय बना।

1857 के प्रथम स्वाधीनता संग्राम का ज्वार थमते ही बंबई के तत्कालीन गवर्नर लॉर्ड एलफिंस्टन ने ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा गठित समिति को एक गूढ़ मंत्र भेजा था—'फूट डालो···और यह हमारा होगा।' सर जॉन स्ट्ची जो एक प्रशासनिक अधिकारी थे, ने भी लिखा था—भारत में विभिन्न धर्मों का एक साथ होना हमारी राजनैतिक स्थिति के लिए बहुत अच्छी बात है।

सर सैयद ने हिंदू बनाम मुसलमान, हिंदी बनाम उर्दू और संस्कृत बनाम फारसी का मुद्दा उठाकर मुसलमानों की मजहबी भावनाओं का दोहन किया। 16 मार्च, 1888 को मेरठ में दिए उनके भाषण से तत्कालीन माहौल और मानसिकता को समझा जा सकता है। उन्होंने कहा था, "फर्ज करो कि ब्रितानी भारत में नहीं हैं तो कौन शासक होगा? क्या यह संभव है कि दो राष्ट्र, हिंदू और मुसलमान एक ही ताज पर बराबर के हक से बैठेंगे?" मुसलिम आबादी में हिंदुओं से कम हैं और अंग्रेजी शिक्षित तो और भी कम, किंतु उन्हें गौण या कमजोर नहीं समझा जाए। वे अपने दम पर अपना मुकाम पाने में सक्षम हैं। किंतु कल्पना करो कि ऐसा नहीं हुआ तो क्या होगा? सर सैयद ने सबसे पहले ही द्वि-राष्ट्रवाद की वकालत करते हुए कहा था कि हिंदू और मुसलिम दो अलग-अलग राष्ट्र हैं, उनके पूर्वज अलग हैं, उनकी संस्कृति भिन्न है, वे साथ-साथ कभी नहीं रह सकते। सैयद के ही विचार के प्रभाव से ही मुसलिम राजाओं और शिक्षित मुसलमानों ने मुसलिम लीग बनाई, बाद में इसी विचार को ग्रहण कर इकबाल और जिन्ना ने द्वि-राष्ट्रवाद को बढ़ावा देकर भारत का विभाजन करवाया। इतिहासकार बी.एल. ग्रोवर के मुताबिक सैयद ने मुसलमानों से अपील की थी कि वे कांग्रेस से न जुड़ें, मुसलमानों का हित अंग्रेजी शासन में ही है, अंग्रेजों के जाने के बाद हिंदू शासन आने का डर है। क्या राष्ट्रनिष्ट मालवीयजी की तुलना सांप्रदायिक शिक्षाविद् सर सैयद से हो सकती है।

सर सैयद के चिंतन को अधिकांश शिक्षित मुसलिमों का समर्थन प्राप्त था। उन्होंने अंग्रेज सरकार और मुसलिम समाज के सहयोग से एक अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। सेक्युलरिस्ट देश के विभाजन के लिए हिंदू महासभा को कसूरवार बताते हैं, किंतु सावरकर के 1937 में अखिल भारतीय हिंदू महासभा के सभापति बनने से पूर्व 19 दिसंबर, 1930 के मुसलिम लीग के वार्षिक अधिवेशन में इकबाल ने मजहब के आधार पर अलग राष्ट्र का खाका खींचा तो 1933 में कैंब्रिज के स्नातक चौधरी रहमत अली ने पाकिस्तान की रूपरेखा निर्धारित की थी। अपनी प्रसिद्धि के चरमोत्कर्ष काल में भी हिंदू महासभा, हिंदू आबादी के चार प्रतिशत हिस्से को भी अपने साथ नहीं कर सकी थी। हिंदू आबादी का अधिकांश भाग गांधीजी की कांग्रेस के साथ था। इसके विपरीत मुसलमानों का बड़ा वर्ग जिन्ना के साथ खड़े होकर 'लड़कर लेंगे पाकिस्तान' का नारा लगाता रहा। इस मजहबी जुनून के पोषण में सर सैयद अहमद के अलीगढ़ विश्वविद्यालय की महती भूमिका थी।

इसके विपरीत महामना मालवीय का चिंतन सनातन हिंदू संस्कृति की बहुलतावादी विचारधारा से प्रभावित था। हरिद्वार की हर की पौड़ी में गंगा आरती आरंभ कराने या काशी में विश्वविद्यालय का नाम हिंदू रख देने से मालवीयजी सांप्रदायिक कैसे कहे जा सकते हैं? अपना तमाम जीवन उन्होंने राष्ट्र साधना में व्यतीत किया।

इस बात के संकेत रहे हैं कि भारत इसलामिक स्टेट या आई.एस.आई.एस. से बढ़ते खतरे को झेल रहा है। 11 सितंबर, 2015 को अधिकारियों ने 38 वर्षीय अफशा अबीनका जोसेफ को हैदराबाद हवाई अड्डे पर उतरते ही गिरफ्तार किया गया था। उसे आई.एस.आई.एस. समर्थक गतिविधियों के कारण संयुक्त अरब अमीरात ने प्रत्यर्पित

कर दिया था। अफशा पर सलमान मोहिउद्दीन को आई.एस. के लिए भरती करने का आरोप है। भारत बड़ा देश है, लेकिन बीते पिछले महीनों के दौरान मुख्यत: दो इलाके—हैदराबाद और मुंबई को मुसलमानों में कट्टरता के लिए चिह्नित किया गया। हैदराबाद में दुनिया की प्रतिष्ठित आई.टी. कंपनियाँ हैं, जबकि मुंबई को देश की आर्थिक राजधानी माना जाता है। दोनों ही जगह मुसलमानों की अच्छी-खासी संख्या है।

मोहिउद्दीन जिहादी गतिविधियों के लिए अमेरिकी खुफिया एजेंसियों की नजर में पिछले साल आया। उसका वीजा समाप्त हो गया था और उसे भारत वापस भेज दिया गया। गत 16 जनवरी को हैदराबाद पुलिस ने उसे तब पकड़ लिया, जब वह हथियार प्रशिक्षण के लिए सीरिया जाते हुए दुबई की फ्लाइट पर सवार हो रहा था। पिछले साल एक पूर्व सॉफ्टवेयर इंजीनियर मुनावद सलमान को भी हैदराबाद में गिरफ्तार किया गया था, जब उसने आई.एस.आई.एस. में शामिल होने की योजना बनाई थी। हैदराबाद पुलिस ने आतंकी संगठन इंडियन मुजाहिदीन और देश में सक्रिय सिमी से संबद्ध दो लोगों को भी गिरफ्तार किया था। ये लोग चार अन्य लोगों के दिमाग में आई.एस. में शामिल होने का कीड़ा भर रहे थे। कतर में रहनेवाली हैदराबाद की एक किशोरी भी आई.एस. में शामिल होने फरवरी में जा रही थी, लेकिन वह बीच रास्ते में तुर्की से ही लौट आई।

अरब क्रांति की विफलता का कारण मुसलिम समाज में खुले विचारों की कमी है। आई.एस.आई.एस. सरीखे संगठनों को मुसलिम समाज के एक हिस्से का समर्थन इसलिए मिलता है, क्योंकि वह वर्तमान वातावरण में जिहाद को सही मानता है। इस वर्ग को जिहाद के बारे में खूब बरगलाया भी जाता है। हैदराबाद में इसलाम के नाम पर राजनीति करनेवाले असदुद्दीन ओवैसी का केंद्र है। उनकी ऑल इंडिया मजलिस-ए-इत्तेहादुल मुस्लमीन को मुंबई और कुछ अन्य मुसलिम बहुल इलाकों में समर्थन भी हासिल हो रहा है। हैदराबाद का एक युवक मोहम्मद हनीफ वसीम सीरिया में भी मारा गया। इन सबके बीच 6 मई, 2015 को यह खबर भी आई कि आई.एस.आई.एस. में शामिल होने जा रहे हैदराबाद के 14 युवकों को भारत से जाते वक्त रोक लिया गया। यह साफ नहीं है कि ये युवक उन लोगों में शामिल हैं, जो हैदराबाद के ही हैं और इंजीनियर हैं।

कट्टरता फैलाने वाले लोगों के लिए हैदराबाद के साथ मुंबई भी प्रमुख ठिकाना बनता जा रहा है। 2014 में मुंबई के ही चार युवक शिया तीर्थयात्रियों के समूह के हिस्से के तौर पर सीधे इराक गए। इनमें से एक अरीब मजीद को तुर्की से वापस लाया गया। मजीद ने खुलासा किया कि उसने सीरिया में आई.एस. के शिविर में 13 भारतीयों को देखा है। अगस्त 2015 में मुंबई के एक पत्रकार जुबेर खान को फेसबुक पर आई.एस.आई.एस. समर्थक टिप्पणियों के लिए नई दिल्ली में पकड़ा गया। उसकी काउंसिलिंग की गई। मुंबई लंबे समय से आतंकवाद का शिकार रहा है। 1993, 2006 और 2008 में यहाँ बड़ी आतंकी घटनाएँ हुईं। 2008 में 26 नवंबर की घटना पर पूरे विश्व का ध्यान गया, क्योंकि इसमें कई देशों के लोग फँसे हुए थे। घटना को अंजाम देने वाले दस आतंकी पाकिस्तान से आए थे। आई.एस. समर्थक कट्टरता मुंबई और हैदराबाद तक सीमित नहीं है। दक्षिणी राज्य केरल का एक पत्रकार आई.एस. में शामिल हो गया। इसी तरह गत 15 सितंबर, 2015 को तिरुअंतपुरम और कोझिकोड हवाई अड्डे पर पहुँचते ही केरल के चार लोगों को गिरफ्तार कर लिया गया। उन्हें यू.ए.ई. से यहाँ लाया गया था। दिसंबर 2014 में बेंगलुरु में पुलिस ने मेहदी मसरूर बिस्वास को गिरफ्तार किया। वह आई.एस.आई.एस. समर्थक गतिविधियों को फैलाने के लिए अपने ट्विटर अकाउंट का इस्तेमाल कर रहा था। कुछ युवक भारत के खिलाफ प्रदर्शन करते हुए कश्मीर में आई.एस.आई.एस. के झंडे भी लहराते हैं, जबकि झारखंड और तमिलनाडु के कुछ मुसलमानों ने आई.एस.आई.एस. की टी-शर्ट पहनकर फोटो भी खिंचवाए। इन्हीं दिनों एक साल के दौरान मीडिया रिपोर्टों में इस

तरह के भ्रमित मुसलिम युवकों की अलग-अलग संख्या बताई गई। यह चार-पाँच से लेकर 300 या उससे भी ज्यादा भी है।

कश्मीर का मामला कुछ अलग है। 26 जुलाई, 2015 को एक रिपोर्ट प्रकाशित हुई कि 2015 के शुरुआती छह माह के दौरान 33 युवक कश्मीर घाटी में सशस्त्र संघर्ष में शामिल हो गए और जरूरी नहीं कि वे आई.एस.आई.एस. समर्थक हों। यह संख्या कुल मिलाकर अब 142 हो गई। इनमें से 54 विदेशी हैं, जो मुख्यत: पाकिस्तानी हैं। 3 अगस्त, 2015 को एक मीडिया रिपोर्ट में बताया गया कि सात भारतीय अब भी सीरिया में आई.एस.आई.एस. में हैं, जबकि वहाँ संघर्ष के दौरान छह मारे गए हैं। भारत दो तरह के जिहादी खतरों का सामना कर रहा है। पहला खतरा तो लश्कर-ए-तैयबा और जैश-ए-मुहम्मद से है, जिन्हें पाकिस्तानी सेना की खुफिया एजेंसी आई.एस.आई. का समर्थन हासिल है। भारत को आई.एस.आई. समर्थक जिहादियों से निपटने का खास तौर पर कश्मीर घाटी में अनुभव है। दूसरा खतरा, वह शायद पहले खतरे से बड़ा है, जो देश के मुसलमानों को ब्रेन वाश कर कट्टर बनाए जाने से पैदा हो रहा है। आई.एस.आई.एस. में शामिल होने के लिए भारत के लोग दो रास्ते अपना रहे हैं। पहला रास्ता, भारत से सीधी उड़ान का है और दूसरा रास्ता, ऑस्ट्रेलिया, सिंगापुर, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, ओमान, संयुक्त अरब अमीरात से जाता है। भारत अभी भी अपने देश में कट्टरता फैलाने वाले तत्त्वों और समूहों से निपटने के तरीके सीख रहा है। 1 अगस्त, 2015 को हुई केंद्रीय गृह मंत्रालय की बैठक से संकेत मिला है कि करीब एक दर्जन राज्यों में आई.एस.आई.एस. का असर है। भारत को इस खतरे को गंभीरता से लेना चाहिए। हमें अमेरिका में 11 सितंबर की आतंकी घटना को कभी नहीं भूलना चाहिए, जब सिर्फ 19 आतंकियों ने अमेरिकी शहरों पर हमले कर कई देशों को अपनी विदेश नीति बदलने के लिए मजबूर कर दिया था। 26/11 का सबक भी महत्त्वपूर्ण है, जब मुंबई पर हमला करनेवाले दस पाकिस्तानियों ने भारत-पाकिस्तान रिश्तों को लंबे समय के लिए नुकसान पहुँचाया।

भारत में विभिन्न धर्मों के लोग रहते हैं। यहाँ एक हमला देश के सामाजिक सद्भाव को आघात पहुँचा सकता है। यह ध्यान में रखने की बात है कि इसलामी कट्टरपंथी इसी कोशिश में लगे हैं। भारतीय युवाओं के लिए वैयक्तिक धर्म के साथ भारतीय संविधान भी धर्म होना चाहिए।

बिहार विधानसभा 2015 के चुनाव में ओवैसी की पार्टी एम.आई.एम. का चुनाव लड़ना मीडिया के लिए सुर्खियों भरी खबर रही। कुछ समय पहले तक ओवैसी की पार्टी को ऑल इंडिया मजलिस-ए-इत्तेहादुल मुस्लमीन (एम.आई.एम.) को एक मामूली राजनीतिक दल के रूप में देखा जाता था। एक ऐसा दल जिसका प्रभाव पुराने हैदराबाद और निजाम की बादशाहत वाले कुछ अन्य इलाकों में ही केंद्रित था, लेकिन 2014 साल के महाराष्ट्र के विधानसभा चुनावों में सफल हस्तक्षेप के बाद एम.आई.एम. को प्रमुखता मिली। महाराष्ट्र में एम.आई.एम. ने बीस सीटों पर अपने उम्मीदवार उतारे और दो जगह जीत हासिल की। फिलहाल एम.आई.एम. देश के चुनिंदा इलाकों में मुसलिम मतों के लिए कांग्रेस और भारतीय जनता पार्टी जैसे स्थापित दलों को चुनौती दे रही है। इसी समय यह मुसलमानों के बीच चर्चा भी हो रही है कि बहुत जल्दी ही ओवैसी भारतीय राजनीति में सबसे महत्त्वपूर्ण मुसलिम राजनेता के रूप में उभर सकते हैं और आजादी के बाद की भारत की मुसलिम राजनीति की प्रकृति तय करने में उनकी प्रमुख भूमिका होगी।

ओवैसी पूरे भारत में अपना आधार बनाने में कितना सफल होते हैं और असम में यू.एम.एफ.ए., केरल और तमिलनाडु में मुसलिम लीग और उत्तर प्रदेश में पीस पार्टी सरीखे पहले से मौजूद मुसलिम संगठनों के साथ

एम.आई.एम. का किस तरह का संबंध बनता है, इस पर करीबी निगाह रखी जाएगी। रणनीति के तहत ओवैसी उर्दू बोलने वाले मुसलिमों के साथ अपने तार जोड़ने में सफल रहे हैं। इसके लिए उन्होंने ऐतिहासिक कल्पनाओं, सांस्कृतिक दृढ़ता और इस समुदाय के कथित रूप से राजनीतिक मोहरा बनने संबंधी अपनी सोच को हथियार बनाया है। वह केंद्र में सरकार बनाने से मोदी को रोकने में कथित सेक्युलर दलों, विशेषकर कांग्रेस की नाकामी को लेकर मुसलिम समुदाय की निराशा का भी फायदा उठाने की कोशिश कर रहे हैं। 2014 के चुनावों में भाजपा की बड़ी जीत ने वैकल्पिक मुसलिम एकीकरण के लिए राजनीतिक जगह का निर्माण कर दिया है। एम.आई.एम. इस रिक्तता के एक हिस्से को भरने की कोशिश कर रही है।

ओवैसी के उभार को कोई नया घटनाक्रम मानना एक गलती होगी और न ही यह कहा जा सकता है कि वह पहले शख्स हैं, जो भाजपा के प्रति घृणा को आधार बनाकर मुसलिम समुदाय को अपनी ओर आकृष्ट करने की कोशिश कर रहे हैं। भाजपा और एक हद तक हिंदू राष्ट्रवाद पर व्यंग्य करने, उसका उपहास उड़ाने और यहाँ तक कि धमकी देने का एम.आई.एम. का लंबा इतिहास रहा है। यह सिलसिला तभी से चल रहा है, जब सुल्तान सलाहुद्दीन ओवैसी ने 1975 में अपने पिता से पुराने रजाकर संगठन की कमान सँभाली थी। तेलंगाना विधानसभा में एम.आई.एम. के नेता अकबरूद्दीन ओवैसी ने अपने भाषणों से क्षेत्र में खासी प्रसिद्धि हासिल कर ली है। उनके भाषणों ने एक ऐसे समुदाय को प्रभावित किया जो खुद को इतिहास और मौजूदा राजनीति का शिकार मानता है और अपने पुराने राज्य आने का सपना संजोए है। चूँकि एम.आई.एम. खुद को एक मुसलिम संगठन के रूप में प्रस्तुत करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाती इसलिए उसके पास अपनी अपील को इसी समुदाय तक केंद्रित करने की पूरी सुविधा है। आखिर उसे यह चिंता नहीं करनी कि उसकी बात का गैर-मुसलिम समुदायों पर क्या असर होगा? इससे एम.आई.एम. के लिए उन मुद्दों पर भी मुसलिम समुदाय को संदेश देना आसान हो जाता है, जो अन्य समुदायों के वोट भी हासिल करने की कोशिश कर रहे दलों के राजनीतिक दायरे से बाहर हैं। हालाँकि एम.आई.एम. की रैली में मौजूद भीड़ और एक मसजिद के भीतर मौलवी को सुन रहे लोगों में कोई अंतर नहीं होता।

एम.आई.एम. कोई आध्यात्मिक संस्था न होकर खुले तौर पर एक राजनीतिक संगठन है। ओवैसी बंधुओं ने एक अलग तरह की भाषाशैली और राजनीतिक रास्ता अख्तियार किया है, जो भारत में 1947 के बाद से अब तक नहीं देखा गया। यह कुछ उसी तरह है जैसे कि मुसलिम लीग ने पाकिस्तान के निर्माण के समय उत्तरी भारत में चलाए गए खिलाफत आंदोलन के दौरान अपनी एक अलग पहचान के मद्देनजर किया था। एम.आई.एम. का ध्येय मुसलिमों में अपने कथित खोए साम्राज्य के भाव को फिर से जगाना है। इसके लिए उन्हें उनकी शानदार विजित संस्कृति और उनके सम्मान को फिर से बहाल करने की जरूरत की याद दिलाई जाती है। हमें मुसलिम लीग के शुरुआती और मध्य दौर के क्रियाकलापों को याद करना चाहिए, जब लीग मुसलिम हितों के लिए उत्तेजक भाषाशैली का प्रयोग करती थी, यद्यपि तब उसका प्रभाव मुसलमानों में अधिक नहीं था। कई वर्षों के बाद खिलाफत आंदोलन खासकर 1930 के बाद लीग मुसलमानों के दिलों में यह बात जमाने में सफल हो गई कि लीग ही उनका एकमात्र दल है, जो उनकी सभी तरह की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक समस्याओं का निदान करेगा, इसी आकांक्षा से लीग का व्यापक प्रभाव मुसलमानों के अंदर फैल गया। खेद है कि ओवैसी बंधुओं और उनकी पार्टी भी इसी रास्ते पर चल रही है। यही तो वह आधार था, जिस पर 1947-48 में रजाकरों ने अपनी लड़ाई लड़ी थी। अपनी अलग राजनीतिक पहचान को लेकर हैदराबादी मुसलिमों की पुरानी यादें, फिर से नया

आकार ले रही हैं। इस तरह ओवैसी अपने पंख फैला रहे हैं और हैदराबाद से बाहर रह रहे उर्दूभाषी मुसलिमों को साध रहे हैं। जिस बात को प्राय: भुला दिया जाता है, वह है मुसलिम लीग की वास्तविक जीवनधारा। यह धारा न केवल उस क्षेत्र में थी, जहाँ आज पाकिस्तान बसा है, बल्कि यूनाइटेड प्रोविंस, बिहार, मध्य प्रांत और बॉम्बे प्रेसीडेंसी के मुसलिम अल्पसंख्यकों वाले इलाके तक विस्तृत थी। इन्हीं इलाकों के मुसलिमों ने पाकिस्तान की परिकल्पना की थी। ओवैसी स्पष्ट रूप से अलगाववादी बात नहीं कर रहे हैं। वह अलग मुसलिम ब्लॉक का सपना देख रहे हैं, जो सत्ता में केवल भारत के नागरिक के तौर पर नहीं, बल्कि मुसलिम के तौर पर साझेदारी हासिल कर सके। क्या ये क्रियाकलाप मुसलिम लीग की तरह नहीं हैं, जिसका निर्माण 1906 में हुआ था, जो प्रारंभ में केवल अंग्रेजी हुकूमत से मुसलमानों के लिए अधिक अधिकारों की माँग करती थी, बाद में बदलते राजनैतिक परिदृश्य में अलग देश की माँग करने लगी?

सितंबर 2015 को गौमांस खाने के कारण उत्तर प्रदेश में दादरी इलाके में इकलाख नामक व्यक्ति को मार डाला गया। इस मुद्दे पर भारत दो भागों में बँट सा गया। एक ओर वामपंथी, उदारवादी, पंथ-निरपेक्ष हैं और दूसरी ओर दक्षिणपंथी और मुसलिम विरोधी हैं। इन दोनों गुटों ने पत्र-पत्रिकाओं, टी.वी. चैनलों, ब्लॉगों, ट्विटर और फेसबुक में एक-दूसरे के खिलाफ अभियान भी छेड़ा, समूहों में साहित्यकारों ने पुरस्कार भी लौटाए। निरपेक्ष छवि वाले प्रसिद्ध शायर मुनव्वर राणा ने तो एक बड़े न्यूज चैनल के स्टूडियो में जाकर अपना पुरस्कार लौटाने की घोषणा की, इस दौरान कई फिल्मकारों और वैज्ञानिकों ने भी पुरस्कार लौटाने शुरू कर दिए। इसका विरोध भी हुआ। विरोध करनेवालों का कहना है कि अन्याय तो पहले भी हुए और तब ये लोग कहाँ थे? जब सलमान रुश्दी और तसलीमा नसरीन पर हमले हुए, तब ये लोग क्यों खामोश थे? तसलीमा नसरीन ने इस मुद्दे पर प्रतिक्रिया देते हुए कहा था कि साहित्यकारों ने अपने पुरस्कार लौटाकर दोहरा मानदंड अपनाया है।

भारत के अधिकांश पंथ-निरपेक्ष लोग हिंदू विरोधी हैं। वे हिंदू कट्टरपंथियों के कृत्यों पर तो विरोध प्रदर्शन करते हैं, लेकिन मुसलिम कट्टरपंथियों की घृणित कार्रवाइयों का बचाव करते हैं। अधिकांश लेखक उस समय चुप थे, जब पश्चिम बंगाल में तसलीमा की पुस्तक 'लज्जा' पर प्रतिबंध लगाया था, जब तसलीमा के खिलाफ भारत में पाँच फतवे जारी किए गए, जब तसलीमा को पश्चिम बंगाल से बाहर निकाल दिया गया, जब तसलीमा दिल्ली में घर में महीनों कैद रहीं और उनको भारत छोड़ने के लिए मजबूर किया गया, जब उनके टी.वी. सीरियल पर रोक लगाई गई। नसरीन ने जीवन के अधिकार और अभिव्यक्ति की आजादी के लिए अकेले ही रहकर संघर्ष किया। ये लोग न केवल चुप थे, बल्कि सुनील गंगोपाध्याय और शंख घोष जैसे प्रख्यात लेखकों ने पश्चिम बंगाल के तत्कालीन मुख्यमंत्री बुद्धदेव भट्टाचार्य से अपील तक की कि वह मेरी पुस्तक पर प्रतिबंध लगाए।

हैदराबाद में जब एक कार्यक्रम के दौरान स्टेज पर तसलीमा पर मौलवियों और कट्टरपंथियों का हमला हुआ तो ये मौन रहे।

2 नवंबर, 2015 को बॉलीवुड स्टार शाहरुख खान ने कहा, "इस देश में सेक्युलर न होना सबसे खराब किस्म का अपराध है, जो आप देशभक्त के रूप में कर सकते हैं।" शाहरुख के बयान को इस रूप में भी पेश किया गया कि कोई तब तक देशभक्त नहीं हो सकता, जब तक वह सेक्युलर नहीं है। शाहरुख ने यह भी कहा कि लोग बिना सोचे हवा में शब्द उछाल देते हैं। व्यावहारिक स्तर पर सेक्युलरिज्म भारतीयों के व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन पर छाया रहता है। यह पत्रकारों, राजनीतिज्ञों, बौद्धिकों और साथ ही आम आदमी की सोच को प्रभावित करता है।

इसी व्यावहारिक अर्थ के बारे में शाहरुख खान बोल रहे थे। व्यावहारिक रूप से सेक्युलरिज्म तब भी भारतीय राज व्यवस्था की नीतियों को निर्धारित करता है, जब वे जनता के हितों को चोट पहुँचा रही हों। ध्यान दें, राजीव गांधी की सेक्युलर सरकार ने शाहबानो मामले में महिला विरोधी कानून पारित किया, अयोध्या में ताले खुलवाए और सलमान रुश्दी की किताब 'द सेटेनिक वर्सेस' पर रोक लगाई।

धार्मिक और जातिगत पहचानों पर केंद्रित होकर सेक्युलरिज्म भारत की जनता को विभाजित करता है। फरीदाबाद के सुनपेड़ में आग लगने से दो बच्चों की मौत की घटना को सेक्युलर पत्रकारों ने राजपूतों द्वारा दलितों पर हमले के रूप में पेश किया। सेक्युलर पत्रकारों ने दादरी में मुहम्मद इकलाख की हत्या पर हंगामा मचा दिया, क्योंकि वह मुसलमान था, लेकिन वे तब मौन रहे, जब हैदराबाद से तसलीमा नसरीन पर हमला किया गया, हापुड़ में एक मुसलिम महिला की उसके हिंदू पति के साथ हत्या कर दी गई या फिर जब केरल में इसलामी कट्टरपंथियों ने सुधारवादी इसलामी विद्वान् चेकन्नूर मौलवी की हत्या कर दी। स्पष्ट है कि सामान्यत: सेक्युलर चुप रहकर इसलामी कट्टरपंथियों का बचाव करते हैं।

1920 के दशक में जब तुर्की में इसलामी खिलाफत समाप्त हो गई, सेक्युलरिज्म ने अली बंधुओं से हाथ मिलाने के लिए महात्मा गांधी को प्रभावित किया। अली बंधु उस वक्त इसलामी कट्टरपंथी थे। वे उस खिलाफत आंदोलन के समर्थक थे, जिसका वर्तमान में हिंसक रूप दिखाई देता रहता है, अलीगढ़ आंदोलन के साथ खिलाफत आंदोलन ने 1947 में भारत देश के बँटवारे में मुख्य भूमिका निभाई। इसी तरह सेक्युलरिज्म ने भारत का विभाजन किया। सेक्युलरिज्म ने 1969 में तब अपना रंग फिर दिखाया, जब कम्युनिस्ट नेता और केरल के मुख्यमंत्री ई.एम.एस. नंबूदरीपाद ने कोझिकोड और पलक्कड़ के मुसलिम बहुल हिस्सों को मिलाकर मलप्पुरम जिला बनाया। जरा इस पर भी गौर किया जाए कि वर्तमान में पिछड़ी जाति के आरक्षण में मुसलिम समुदाय की 32 जातियाँ लाभ उठा रही हैं, फिर भी भारत के कई प्रदेशों से हिंदू सेक्युलर नेता मुसलमानों के लिए अलग कोटे का भरोसा उसी तरह देते हैं, जिस तरह मुहम्मद अली जिन्ना ने इसलाम को मानने वालों के लिए अलग क्षेत्र की माँग की थी। इस तरह यह सिद्ध होता है कि सेक्युलरिज्म मुसलमानों से नहीं कट्टर इसलाम से प्रेम करता है।

सेक्युलरिज्म भारतीय मुसलमानों से कहता है—मैं तुम्हें नौकरियों एवं कॉलेजों में पाँच प्रतिशत आरक्षण दूँगा। वह उनसे यह नहीं कहता कि मैं शुरू से ही तुम्हारी बच्चियों को गणित, अर्थशास्त्र और विज्ञान की शिक्षा दूँगा। सेक्युलर हिंदू और मौलवियों के बीच एक ही तरह का एजेंडा दिखाई देता है, क्योंकि सेक्युलर हिंदू, बुर्का, तीन तलाक और बहु विवाह प्रथा की खुलकर आलोचना नहीं करते। इस तरह देखें कि दोनों ही महिला विरोधी, प्रगति विरोधी और मानवाधिकार विरोधी हैं। कभी-कभी सेक्युलरिज्म आतंकवाद से प्रेम करने लगता है। जब नक्सली और जिहादी पकड़े जाते हैं तो सेक्युलर विद्वान् नाराज हो जाते हैं। सेक्युलर सैनिकों के लिए कभी आँसू नहीं बहाते। प्रशांत भूषण जैसे सेक्युलर वकील आतंकी याकूब मेनन का जीवन बचाने उच्चतम न्यायालय का दरवाजा आधी रात को खटखटाते हैं। जाने-माने लेखक मिन्हाज मर्चेंट ने 2 नवंबर, 2015 को ही शाहरुख खान के बयान के संबंध में ट्विट किया—मैं समझता हूँ कि अगर शाहरुख खान ने कभी-न-कभी भारत के खिलाफ पाकिस्तानी आतंकवाद की निंदा करते हुए जरूर ही बयान जारी किया होगा, मैं उसे देखना चाहूँगा। छद्म सेक्युलरिज्म भारत को अंदर से खोखला कर रहा है। 1940 के दशक में सेक्युलर हिंदुओं ने सोचा कि स्थायी शांति के लिए अपना एक हिस्सा छोड़ दें और इस तरह 1947 में पाकिस्तान बना है। वर्तमान परिदृश्य को देखकर यह लगता है कि सेक्युलरिज्म भारत की जनता को बाँटता है, जबकि देशभक्ति उन्हें जोड़ती है। 1985 में शाहबानो मामले में

सर्वोच्च न्यायालय ने समान नागरिक संहिता पर बल दिया था। सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था कि भारतीय अपराध दंड विधान की धारा-125 किसी तलाकशुदा मुसलिम पत्नी को उसके पूर्व पति से गुजारा भत्ता पाने से नहीं रोकती, चाहे इसके लिए मुसलिम पर्सनल लॉ इजाजत दे या नहीं। कई उदारवादी मुसलमानों और महिला अधिकार संगठनों ने इसे इसलाम की रूढ़िग्रस्त गलत व्याख्या का सही प्रतिकार बताया था। तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी के मंत्री आरिफ मोहम्मद इससे सहमत हुए, किंतु जैसे ही मुसलिम कट्टरवादियों का दवाब उन पर बढ़ा, उनका सेक्युलरवाद जाग्रत् हो गया और उन्होंने घुटने टेक दिए। सरकार ने मुसलिम कट्टरपंथी तत्त्वों को तुष्ट करने के लिए एक नया अधिनियम मुसलिम महिला (तलाक पर अधिकार रक्षा), 1986 बनाया। 'अधिकार रक्षा' के नाम पर जो प्रावधान रखे गए, वह कांग्रेस के दोमुँहेपन का सबसे बड़ा प्रमाण है। इसके द्वारा तलाकशुदा मुसलिम महिलाओं को दमन का शिकार होने के लिए छोड़ दिया गया। लोकतंत्र का सिपाही होने का दावा करनेवाला सेक्युलर मीडिया मुसलिम महिलाओं के दमन पर तब भी खामोश था। क्यों?

समान नागरिक संहिता को सांप्रदायिक रंग देना अत्यधिक दुर्भाग्यपूर्ण है। इसके लिए कांग्रेस प्रमुख रूप से जिम्मेदार है। संविधान के मूल सिद्धांतों पर विचार के समय जब विवाह, तलाक, उत्तराधिकार के विषयों पर चर्चा हो रही थी, तब कांग्रेस ने इन विषयों पर प्रावधान केवल बहुसंख्यक समुदाय के लिए ही बनाने पर बल दिया था। उसका तर्क था कि पहले बहुसंख्यकों को इन विषयों पर मिसाल कायम करने दिया जाए, ताकि अल्पसंख्यक उनका अनुसरण कर सकें। यदि हिंदू विवाह अधिनियम और 1950 के विशेष विवाह अधिनियम की बजाय 'भारतीय विवाह अधिनियम' होता तो आज अलग-अलग सामुदायिक पहचान की जगह एक भारतीय पहचान विकसित होने की प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिलता। 1956 में आंबेडकर की प्रखर माँग पर हिंदू विवाह अधिनियम तो बन गया, जिसमें हिंदुओं के बहु-विवाह पर कानूनी रूप से प्रतिबंध लग गया, हालाँकि रामराज्य परिषद् और हिंदू महासभा ने इस अधिनियम का प्रबल विरोध किया था, लेकिन तबसे आज तक अल्पसंख्यक समुदाय, खासकर मुसलिम समुदाय के अंदर कोई सुधार लाना संभव नहीं हो सका है, जबकि कई अन्य अल्पसंख्यक समुदायों ने आधुनिक कानूनों को अपना कर अपनी उदार मनोवृत्ति का परिचय दिया। लिंग आधारित समानता देने का अर्थ महिलाओं को बराबर का अधिकार देने से संबद्ध है। किंतु मुसलिम महिलाओं को उनके अधिकारों से वंचित कर उन्हें अमानवीय जीवनयापन के लिए कौन मजबूर कर रहा है? किसने ऐसा विधान बनाया, जिससे एक मुसलिम पति केवल 'तलाक, तलाक, तलाक' बोलकर अपनी पत्नी का त्याग कर दे और पत्नी चाहे भी तो पति को छोड़ नहीं पाए? हिंदू, ईसाई, पारसी, सिख आदि की पंथीय अवधारणाएँ यदि हमारे संविधान के आड़े नहीं आतीं तो समाज के केवल एक समुदाय के साथ नरमी बरत कर उसे मुख्यधारा से अलग रखने की कवायद क्यों होती है? विडंबना है कि ऐसी मानसिकता को तो सेक्युलरवाद के नाम पर संरक्षित किया जाता है, जबकि इसके विरोध को सांप्रदायिक और फासीवादी बताने की होड़ लग जाती है।

शाहबानो मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने समान नागरिक संहिता नहीं बनाने पर गंभीर चिंता व्यक्त की थी। सर्वोच्च न्यायालय की संविधान पीठ ने तब कहा था, "यह खेद का विषय है कि संविधान का अनुच्छेद-44 अब तक मृतप्राय: पड़ा है। नीति निर्देशक तत्त्वों का अनुच्छेद-44 कहता है कि राज्य अपने नागरिकों के लिए अपने पूरे क्षेत्र में समान नागरिक संहिता सुनिश्चित करने का प्रयास करेगा। मुसलिम समुदाय के कट्टरपंथी रहनुमाओं और सेक्युलरिस्टों के रहते ऐसा माहौल विकसित हो पाना कड़ी चुनौती है। गोवा राज्य पहले पुर्तगालियों के शासन में था, जहाँ समान कानून सबके लिए लागू किए गए। पुर्तगालियों के जाने के बाद गोवा भारत का अंग बना और वहाँ

के हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी समान नागरिक संहिता का पालन करते हैं। यदि गोवा के मुसलमानों के मामले में शरीयत कानून आड़े नहीं आते तो शेष भारत में यह इसलाम के लिए खतरा कैसे बन सकते हैं?

जब कभी नक्सल प्रभावित क्षेत्रों में किसी तरह के चुनाव होते हैं, तब सरकार को सही ढंग से चुनाव कराने के लिए पुख्ता प्रबंध करने पड़ते हैं, वे बातचीत के लिए तैयार नहीं होते हैं। उन्हें न तो चुनाव प्रक्रिया पर भरोसा है, न भारतीय लोकतंत्र पर और न ही भारतीय संविधान पर। नक्सली आर्थिक और सामाजिक समस्या के बहाने बंदूक के बल पर अपना शासन चाहते हैं, मौजूदा शासन द्वारा इन समस्याओं के ठोस हल के आश्वासन और समाधान पर उन्हें कोई दिलचस्पी नहीं है, इसीलिए सरकार की सभी विकास योजनाओं—सड़क, स्कूल के निर्माण का विरोध करते हैं, वे मौजूदा शासन तंत्र को बंदूकों के बल पर ध्वस्त करना चाहते हैं। उन्हें भरोसा है कि वे एक न एक दिन अपने मकसद में कामयाब हो जाएँगे। इस मकसद को पाने के लिए वे ट्रेन की पटरियों को उखाड़ते हैं, मोबाइल टावरों को ध्वस्त करते हैं और मौका पाकर सुरक्षा बलों के जवानों को भेड़-बकरियों की तरह मारते हैं। कभी 10, कभी 20 और कभी एक साथ 70-80 जवानों को मारने वाले नक्सलियों के साथ क्या किया जाना चाहिए? आम लोगों को इस सवाल का चाहे, जो जवाब सूझे, वामपंथी, उदारवादी, बुद्धिजीवियों को सदैव यही जवाब सूझता है कि उनसे बात की जानी चाहिए और उनके खिलाफ सुरक्षा बलों का इस्तेमाल बंद किया जाना चाहिए। नक्सलपंथी विचारधारा के प्रति ऐसी नरम-मुलायम सोच रखनेवाला वामपंथी बौद्धिक खेमा दक्षिणपंथी विचारधारा वालों के प्रति कितना असहिष्णु है, यह जानने की जरूरत है।

इस खेमे के एक खास नाम और इतिहासकार प्रो. इरफान हबीब का कहना है कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और इसलामिक स्टेट में ज्यादा अंतर नहीं है, क्योंकि दोनों की सोच एक जैसी ही है। हबीब साहब ने यह बात दिल्ली में अक्तूबर 2015 में असहिष्णुता के खिलाफ आयोजित 'प्रतिरोध' सम्मेलन में कही। इस सम्मेलन में राष्ट्रीय सम्मान पुरस्कार लौटाने वाले और उनके मत से सहमत बुद्धिजीवियों ने भाग लिया। सबने एक स्वर में केंद्र सरकार को इसके लिए कोसा कि वह अपनी भीड़ को नियंत्रित नहीं कर पा रही है। साहित्यकारों, फिल्मकारों, इतिहासकारों और उनके अभियान को हवा दे रहे पत्रकारों ने अपनी सुविधा के लिए की अखलाक, महाराष्ट्र के नास्तिक सामाजिक कार्यकर्ता, दाभोलकर पनसारे की हत्या के लिए भी मोदी सरकार को जवाबदेह बना दिया और पहले बाबरी, फिर दादरी जैसे जुमले भी गढ़ लिये, लेकिन इनमें से न तो किसी ने केरल के प्रोफेसर टी.एस. जोसेफ की सुध ली और न ही कर्नाटक के मूदबिदरी की, कर्नाटक में ही जहाँ अक्तूबर 2015 में गौरक्षक दल के सदस्य प्रशांत पुजारी को मार डाला गया था।

प्रो. जोसेफ की 2010 में हथेली काट दी गई थी—इस आरोप में कि उन्होंने मुहम्मद साहब से संबंधित एक प्रश्न पूछकर उनका अपमान किया है। हथेली काटने का यह काम पापुलर फ्रंट ऑफ इंडिया नामक संगठन ने किया। माना जा रहा है कि प्रशांत पुजारी की हत्या के पीछे भी इसी संगठन का हाथ है। प्रो. जोसेफ की किसी ने मदद नहीं की। उल्टे उन्हें कॉलेज से हटा दिया गया। आर्थिक और मानसिक परेशानी से घिरी उनकी पत्नी ने आत्महत्या कर ली। असहिष्णुता से चिंतित किसी विद्वान् ने पश्चिम बंगाल के बीरभूम जिले के एक गाँव में दुर्गा पूजा पर पाबंदी को लेकर भी कुछ कहना जरूरी नहीं समझा। किसी को इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि बौद्धिक तबका उक्त मामलों का संज्ञान लेना भूल गया होगा। उसने तो उस लोक गायक का भी संज्ञान नहीं लिया, जिसे जयललिता विरोधी गान के लिए गिरफ्तार कर उसके खिलाफ देशद्रोह का मामला दर्ज किया गया। इस तबके का एक मात्र इरादा मोदी सरकार को असहिष्णुता फैला रहे तत्त्वों का समर्थक-संरक्षक घोषित करना है। इस तबके में

से किसी की भी दिलचस्पी मोदी सरकार से बात-संवाद करने की नहीं है। शायद उन्हें जनता द्वारा चुनी गई सरकार के मुखिया पर उतना भी भरोसा नहीं, जितना बंदूक के बल पर समानांतर शासन कायम करनेवाले नक्सलियों पर है। जब मुनव्वर राणा ने पी.एम. से बात करने की इच्छा जताई तो पी.एम.ओ. से एक फोन उनके पास गया कि आप कब मिलना चाहेंगे? फोन आने के बाद मुनव्वरजी की शर्तें सामने आ गईं, बाद में यह मुलाकात पता नहीं क्यों नहीं हुई, वामपंथी बौद्धिक तबके के बेसुरे राग से देश की आम जनता पर असर नहीं, लेकिन उससे अंतरराष्ट्रीय स्तर पर देश की बदनामी हुई। यह बेसुरा राग मीडिया के एक हिस्से और खासकर टी.वी. चैनलों में ज्यादा गूँजा।

यदि बौद्धिक तबके को समाज-राष्ट्र के भले की तनिक भी परवाह होती तो वह राष्ट्रीय पुरस्कारों की फजीहत करने के बजाय पी.एम. से मिलना पसंद करता। वह अगर पी.एम. से मिलकर भाजपा, संघ और अन्य संगठनों की आपत्तिजनक रीति-नीति पर ऐतराज जताता तो यह कहीं अधिक श्रेयकर और प्रभावी होता। इसके बजाय उसने सरकार को बदनाम करने का रास्ता चुना। दाभोलकर, पनसारे और कलबुर्गी की हत्या के साथ ही दादरी सरीखी घटनाओं की अनदेखी नहीं की जा सकती, लेकिन सेलेक्टिव लक्ष्य के लिए सेलेक्टिव विरोध करना कहाँ तक उचित है?

अब जरा कुछ ऐसे मामलों पर गौर करें कि जिसे स्पष्ट और किसी भी तौर पर धर्मनिरपेक्ष नहीं कहा जा सकता है, 28 मई, 2012 को आंध्र प्रदेश हाई कोर्ट ने तत्कालीन कांग्रेस सरकार ने उस फैसले पर रोक लगा दी, जिसमें सरकार ने धर्म के आधार पर मुसलमानों के लिए 4.5 प्रतिशत आरक्षण की घोषणा की थी, कोर्ट ने इसे मजहबी आधार बताकर असंवैधानिक बताया, क्या पंथ-निरपेक्षता की बात-बात में दुहाई देने वाली कांग्रेस को आत्मचिंतन करने की जरूरत नहीं है? 21 दिसंबर, 2012 को मजलिस एइत्तेहादुल मुसलमीन के नेता और विधायक अकबरूद्दीन ओबैसी ने एक हैदराबाद की जनसभा में हिंदुओं के खिलाफ अभद्र टिप्पणी की, इतना ही नहीं ओवैसी ने 24 घंटे के लिए पुलिस हटा ली जाए तो हिंदुओं से निपटने के लिए मुसलमानों ने खुली चुनौती तक दे डाली।

9 फरवरी, 2013 को संसद् हमले के गुनाहगार अफजल गुरु को फाँसी की सजा दी गई, अलगाववादियों ने कश्मीर में निषेधाज्ञा के बावजूद चार दिनों तक हिंसक प्रदर्शन किए, प्रदर्शन के दौरान तीन मौतें भी हुईं। इतना ही नहीं, 12 फरवरी को अलीगढ़ यूनिवर्सिटी में कश्मीरियों ने अफजल के समर्थन में प्रदर्शन किया, इसके बावजूद विश्वविद्यालय प्रशासन ने सख्त रुख नहीं अपनाया, इसी दौरान देहरादून में भी कश्मीरी छात्रों ने प्रदर्शन किया, परंतु वहाँ शिव सैनिकों ने उन्हें पीट दिया।

9 अप्रैल, 2013 को उलेमा कौंसिल के अध्यक्ष मौलाना आमिर रसीदी ने देवरिया में शहीद डी.एस.पी. के घर कहा कि मुख्यमंत्री अखिलेश यादव के दोनों बेटों की कीमत एक करोड़ रुपए लगाते हैं, जिंदगी भर खिलाएँगे, मुझे दोनों बेटे दे दे, मौलाना ने यह बयान शहीद के परिजनों को अखिलेश सरकार द्वारा पच्चीस लाख रुपए की राहत राशि की घोषणा के एवज में दिया।

8 जुलाई, 2013 को बोधगया में सीरियल ब्लास्ट के बारे में कांग्रेस महासचिव दिग्विजय सिंह ने मोदी को इसके लिए जिम्मेदार ठहराया, इसके पहले दिग्विजय शहीद ए.टी.एस. मुंबई प्रभारी हेमंत करकरे की मौत के बारे में हिंदू संगठनों को दोषी ठहरा चुके थे।

15 नवंबर, 2013 को तत्कालीन केंद्र सरकार ने सुप्रीम कोर्ट में हलफनामा देकर कहा कि सशस्त्र नक्सलियों से

ज्यादा बुद्धिजीवी नक्सली ज्यादा खतरनाक हैं, भारत के तत्कालीन आई.बी. चीफ आसिफ इब्राहीम ने 22 नवंबर, 2013 को राज्यों के महानिदेशकों की मीटिंग में कहा कि इंडियन मुजाहिदीन देश के भीतर कही भी हमला करने में सक्षम है, इसी सम्मेलन में तत्कालीन प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने भी इसकी पुष्टि की।

मार्च 2014 में बँगलादेश में पाकिस्तान से भारत की हार पर मेरठ के सुभारती विश्वविद्यालय के कश्मीरी छात्रों ने पाकिस्तान के समर्थन में नारे लगाए, जिस पर भारतीय छात्रों के साथ मारपीट हुई, फलस्वरूप स्थानीय प्रशासन ने कश्मीरी छात्रों के खिलाफ मुकदमा तो लिख लिया, पर बाद में तत्कालीन अखिलेश सरकार के दबाव के चलते मुकदमा वापस ले लिया गया। दो दिन बाद नोएडा में भी कश्मीरी छात्रों ने पाकिस्तान के समर्थन में नारे लगाए।

3 मार्च, 2014 को रालोद के अध्यक्ष अजीत सिंह ने कहा कि जाट आरक्षण दिलाने के बाद वे मुसलिम आरक्षण के लिए संघर्ष करेंगे।

12 दिसंबर, 2014 को मीडिया में इंटरपोल की रिपोर्ट आई, इस रिपोर्ट में कहा गया कि 15,000 लोग सीरिया और ईराक में इसलामिक स्टेट से जुड़े, इंटरपोल की आतंकरोधी इकाई के उप-महानिदेशक जुलाअ फ्रांसिको हेरास ने बताया कि अकेले फ्रांस से 1,000 लोग आई.एस. से जुड़े, ब्रिटिश से 500, ऑस्ट्रेलिया से 250, और जर्मनी से भी अकेले 250 लोग आई.एस. से जुड़े, इसी दिन बी.वी.सी. और इंटरनेशनल सेंटर फॉर स्टडी ऑफ रेडिकलाइजेशन रिपोर्ट की रिपोर्ट प्रकाशित हुई, रिपोर्ट में कहा गया कि विश्व में प्रतिदिन जेहादी हिंसा में अकेले 168 लोगों की मौतें होती हैं, अकेले नवंबर '14 में 5,042 लोग जेहादी हिंसा में मारे गए।

7 जनवरी, 2015 को फ्रांस में पत्रिका शार्ली शब्दों के कार्यालय में आतंकी हमला हुआ, जिसमें 12 पत्रकार मारे गए, मारे गए लोगों में संपादक स्टीफन कार्बिनयर शामिल थे। इस घटना के बारे में मेरठ के रहनेवाले बसपा नेता और पूर्व विधायक हाजी याकूब कुरैशी ने कहा कि वे आतंकियों को इस कृत्य के लिए 51 करोड़ का ईनाम देंगे, इस पर कुछ लोगों की तहरीर पर मुकदमा भी कुरैशी के खिलाफ लिखा गया, 10 जनवरी को फ्रांस के आतंकी हमले के बारे में कांग्रेस नेता मणिशंकर अय्यर ने भी कहा कि यह असंतुष्ट मुसलिमों की प्रतिक्रिया है।

फ्रांस के आतंकी हमले के बाद मुंबई से प्रकाशित उर्दू अखबार अवधनामा की संपादक शिरीन दलवी को नौकरी से निकाल दिया गया। उन्होंने शार्ली शब्दों में प्रकाशित मुहम्मद साहब के व्यंग चित्र को शार्ली शब्दों पर हुए हमले के बाद छापा था, उन्हें जान से मारने की धमकी दी गई। वे अज्ञात स्थान पर चली गईं। इस मामले में किसी भी सेक्युलर बुद्धिजीवी ने उनके पक्ष में आवाज नहीं उठाई, यहाँ तक कि हिंदूवादी दल भी आश्चर्यजनक चुप्पी साधे रहे।

4 अक्तूबर, 2015 को यू.पी. के मिनिस्टर आजम खाँ ने नोएडा के बिसबाड़ा में गाय के मांस खाने के आरोप में आरोपी को भीड़ द्वारा दुर्भाग्यपूर्ण तरीके से मार डाला गया। आजम खाँ ने बयान में कहा कि मैं संयुक्त राष्ट्र संघ में चिट्ठी भेज रहा हूँ कि भारत में मुसलमान सुरक्षित नहीं है, भारत को हिंदू राष्ट्र बनाने से रोका जाए।

9 फरवरी, 2016 को जे.एन.यू. में वामपंथी छात्र संगठनों ने न केवल भारत विरोधी नारे लगाए, बल्कि भारत के टुकड़े-टुकड़े करने के भी नारे लगाए, जिसका वामपंथी पार्टियों, कांग्रेस ने सीधा विरोध नहीं किया, बल्कि विरोध करनेवालों का कुतर्क कर विरोध किया।

पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री ममता बनर्जी ने 19 फरवरी, 2016 को कैबनेट में प्रस्ताव पास कर केंद्र से माँग की कि बँगलादेशी घुसपैठियों को नागरिकता देने के लिए डी.एम. को अधिकार दिए जाएँ। इस मामले में वोटों की खातिर ममता सरकार का यह रवैया देश की अखंडता को खतरे में डालने वाला है।

❑❑❑

Notes

[←1]

‘स्ट्रगल फॉर फ्रीडम’, भाग-9, आर.सी. मजूमदार, पृ. 885

[←2]

'द अलीगढ़ मूवमेंट', जान मुहम्मद, पृ. 17; 'टू नेशन थ्योरी, मरकज ए शरार ओ अदाब', शफीक अली खाँ, पृ. 615; 'आधुनिक भारत का इतिहास', बी.एल. ग्रोवर, पृ. 420

[←3]

'आधुनिक भारत का इतिहास', बी.एल. ग्रोवर, पृ. 422

[←4]

‘स्ट्रगल फॉर फ्रीडम’, भाग-11, आर.सी. मजूमदार, पृ. 152

[←5]

'फाउंडेशन ऑफ पाकिस्तान', भाग-1, सैयद शरीफुद्दीन पीरजादा, पृ. 357, 416

[←6]

‘ए रिव्यू ऑफ द हिस्टरी एंड द वर्क्स ऑफ द हिंदू महासभा’, इंद्र प्रकाश, पृ. 28

[←7]

‘स्ट्रगल फॉर फ्रीडम’, भाग-11, आर.सी. मजूमदार, पृ. 532

[←8]

‘द एनुअल रजिस्टर, 1937’, भाग-1, पृ. 49

[←9]

‘कॉरसपोंडेंट विद द सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया’, भाग-5

[←10]

‘आधुनिक भारत का इतिहास’, बी.एल. ग्रोवर, पृ. 420

[←11]

वही, पृ. 420

[←12]

‘भारतीय स्वतंत्रता का इतिहास’, भाग-3, ताराचंद, पृ. 405

[←13]

‘द अवेकनिंग ऑफ इंडिया’, आर. मैकडोनाल्ड, पृ. 176; प्रभुता संपन्न राज्य की ओर, इग्नू की बुकलेट, पृ. 53

[←14]

‘भारतीय स्वतंत्रता का इतिहास’, भाग-3, ताराचंद, पृ. 424

[←15]

‘आधुनिक भारत का इतिहास’, बी.एल. ग्रोवर, पृ. 419

[←16]

‘भारतीय स्वतंत्रता का इतिहास’, भाग-3, ताराचंद, पृ. 429

[←17]

‘आधुनिक भारत का इतिहास’, बी.एल. ग्रोवर, पृ. 423

[←18]

‘माउंटबेटन और भारत का विभाजन’, लैपियर पुस्तक में, पृ. 58,

[←19]

वही, पृ. 59

[←20]

वही पृ. 59-60

[←21]

‘इग्नू की इतिहास की बुकलेट—प्रभुता संपन्न राज्य की ओर’, पृ. 36

[←22]

‘माउंटबेटन और भारत विभाजन’, लैरी कॉलिंस एंड डोमिनिक लैपियर, पृ. 61

[←23]

‘भारतीय स्वतंत्रता का इतिहास’, भाग-3, ताराचंद, पृ. 440

[←24]

‘इग्नू की इतिहास की बुकलेट—प्रभुता संपन्न राज्य की ओर’, पृ. 59

[←25]

‘सांप्रदायिक राजनीति व भारत का विभाजन’, तेजवीर सिंह, पृ. 18

[←26]

‘स्ट्रगल फॉर फ्रीडम’, भाग-11, आर.सी. मजूमदार, पृ. 362

[←27]

वही, पृ. 363

[←28]

'आधुनिक भारत का इतिहास', बी.एल. ग्रोवर, पृ. 25, 27

[←29]

'स्ट्रगल फॉर फ्रीडम', भाग-9, आर.सी. मजूमदार, पृ. 884; 'सांप्रदायिक राजनीति व भारत का विभाजन', तेजवीर सिंह, पृ. 2

[←30]

‘सांप्रदायिक राजनीतिक व भारत का विभाजन’, तेजवीर सिंह, पृ. 14 व पृ. 15

[←31]

‘मिंटो को पत्र’, जे. बुकन, पृ. 232-233

[←32]

'मिंटो पेपर्स, मार्ले से मिंटो को', 2 अगस्त, 1906

[←33]

‘मिंटो को स्मरण-पत्र’, 21 मार्च, 1907, ‘इंडिया मिंटो और मार्ले’, पृ. 110

[←34]

‘काउंट्स ऑफ मिंटो’, मेरी, पृ. 46, 47

[←35]

‘भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास’, खंड-3, ताराचंद, पृ. 392

[←36]

'सांप्रदायिकता का ऐतिहासिक संदर्भ', प्रभा दीक्षित, पृ. 61

[←37]

‘सांप्रदायिकता का ऐतिहासिक संदर्भ’ प्रभा दीक्षित, पृ. 32

[←38]

‘सोर्स मैटीरियल ऑफ फ्रीडम इन इंडिया’, पृ. 72

[←39]

वही, पृ. 73

[←40]

वही, पृ. 81-82

[←41]

‘वहाबी मूवमेंट इन इंडिया’, पृ. 142, 145

[←42]

‘सांप्रदायिकता का ऐतिहासिक संदर्भ’, प्रभा दीक्षित, पृ. 44

[←43]

‘द पायनियर अक्तूबर 1906’

[←44]

वही, पृ. 48-49

[←45]

‘सांप्रदायिक राजनीति व भारत का विभाजन’, तेजवीर सिंह, पृ. 23

[←46]

'सेलेक्टेड स्पीचेज एंड राइटिंग्स ऑफ मौलाना मुहम्मद अली लाहौर', अफजल इकबाल, 1963, पृ. 213

[←47]

‘महात्मा’, डी.जी. तेंदुलकर, पृ. 183

[←48]

वही

[←49]

‘द हिंदुस्तान टाइम्स’, 21 मार्च, 1927

[←50]

वही

[←51]

‘द हिंदुस्तान टाइम्स’, 3 जून, 1928

[←52]

‘सांप्रदायिकता का ऐतिहासिक संदर्भ’ प्रभा दीक्षित, पृ. 68

[←53]

‘सांप्रदायिकता का ऐतिहासिक संदर्भ’ प्रभा दीक्षित, पृ. 66

[←54]

वही

[←55]

‘सांप्रदायिकता का ऐतिहासिक संदर्भ’ प्रभा दीक्षित, पृ. 78

[←56]

‘दि मीनिंग ऑफ पाकिस्तान लाहौर’ (1943), दुर्रानी एफ.के. खान, पृ. 114

[←57]

'सोशल टेंशन इन इंडिया बंबई' (1968), सी.एस. जुर्मे, पृ. 261

[←58]

‘इज पाकिस्तान नेसेसरी बंबई’, (1941), वी.वी. कुलकर्णी, पृ. 145-146

[←59]

'इकबाल के पत्र', पूर्व उद्धृत, पृ. 19

[←60]

'कांग्रेस एंड दि हिंदू महासभा' (दिल्ली-1942), व्हेअर बी. डिफर, पृ. 259

[←61]

'हिस्टरी ऑफ इंडिया फिलॉसफी जिल्द II', दास गुप्ता, सी.एस.एन., पृ. 420 से 439

[←62]

'बर्नियर' पूर्व उद्धृत, पृ. 335

[←63]

‘मनूची जिल्द III’, पृ. 412

[←64]

‘भारत में ब्रिटिश राज्य के अंतिम दिन’ लियोनार्ड मोसले, पृ. 5

[←65]

वही

[←66]

वही

[←67]

'भारत में ब्रिटिश राज्य का अंत', लियोनार्ड मोसले, पृ. 5-6

[←68]

‘भारत में ब्रिटिश राज्य के अंतिम दिन’, भाग-1, 2, 3, 4, लियोनार्ड मोसले, पृ. 49, 50, 51, 52; ‘जिन्ना एंड हिज टाइम्स, बाबर एंड आमेर पब्लिकेशंस’, 1986 इस्लामाबाद, पृ. 84-89

[←69]

‘जवाहरलाल नेहरू : आटोबायोग्राफी’, पृ. 67-68

[←70]

‘भारत में ब्रिटिश राज्य के अंतिम दिन’, लियोनार्ड मोसले, पृ. 15

[←71]

'एम.सी. छागला : रोजेज इन दिसंबर' पृ. 18; 'एन. आटोबायोग्राफी', पृ. 55, 'अजीज बेग : जिन्ना एंड हिज टाइम्स', पृ. 165

[←72]

वही, पृ. 18

[←73]

‘ब्रिटिश शासन के अंतिम दिन’, लियोनार्ड मोसले, पृ. 18-19

[←74]

‘ब्रिटिश शासन के अंतिम दिन’, लियोनार्ड मोसले, पृ. 20

[←75]

‘ब्रिटिश शासन के अंतिम दिन’, लियोनार्ड मोसले, पृ. 22

[←76]

‘भारत का विभाजन’, विपिन चंद्र, पृ. 393

[←77]

'भारत में ब्रिटिश राज्य के अंतिम दिन' मोसले, पृ. 66

[←78]

‘गांधी की दिल्ली डायरी’, खंड-3, ब्रजकृष्ण चाँदीवाला, पृ. 118

[←79]

‘जवाहरलाल नेहरू’, ए. बायोग्राफी, खंड-1

[←80]

‘गांधीजी की दिल्ली डायरी’, खंड-3, ब्रजकृष्ण चाँदीवाला, पृ. 64-65

[←81]

‘गांधीजी की दिल्ली डायरी’, खंड-3, ब्रजकृष्ण चाँदीवाला, पृ.116

[←82]

‘भारत में ब्रिटिश राज्य के अंतिम दिन’ मोसले, पृ. 77

[←83]

वही, पृ. 78

[←84]

‘भारत में ब्रिटिश राज्य के अंतिम दिन’ पृ. 80

[←85]

‘भारत में ब्रिटिश राज्य के अंतिम दिन’ पृ. 81

[←86]

‘भारत में ब्रिटिश राज्य के अंतिम दिन’ पृ. 140

[←87]

वही पृ. 145-146

[←88]

‘भारत में ब्रिटिश राज्य के अंतिम दिन’ पृ. 190

[←89]

‘भारत में ब्रिटिश राज्य के अंतिम दिन’ पृ. 191

[←90]

‘भारत के ब्रिटिश राज्य के अंतिम दिन’ पृ. 199

[←91]

वही, पृ. 201

[←92]

‘इग्नू की इतिहास की बुकलेट—प्रभुता संपन्न राज्य की ओर’, पृ. 64

[←93]

'भारत में ब्रिटिश राज्य के अंतिम दिन' पृ. 201

[←94]

जे. बुकन मिंटो, पृ. 232-233

[←95]

वही, पृ. 222

[←96]

'लॉर्ड सभा' 23 फरवरी, 1909 मार्ले इंडियन स्पीचेज, पृ. 126-127

[←97]

‘कामना सभा का कार्यवृत्त’, मार्च 1909

[←98]

‘मार्ले से मिंटो’ (बुकन कृत), पृ. 285

[←99]

'भारत मंत्री का खरीता', 17 मई, 1907

[←100]

‘मार्ले से लैमिंग्टन को’ 20 जून, 1907, पृ. 150

[←101]

‘इंडियन स्पीचेज’, 6 जून, 1907, पृ. 18

[←102]

वही, पृ. 35-36

[←103]

वही, पृ. 91-92

[←104]

‘जवाहरलाल नेहरू, फर्स्ट सिक्सरी ईयर्स’, खंड-1, पृ. 16

[←105]

‘भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास’, ताराचंद, पृ. 38

[←106]

'मिंटो पेपर्स मिंटो से मार्ले को' 17 मई, 1908

[←107]

‘मिंटो एंड मार्ले’, पृ. 110

[←108]

'मिंटो पेपर्स' 21 मार्च, 1907

[←109]

‘भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास’, ताराचंद, पृ. 384

[←110]

वही, पृ. 289

[←111]

‘आधुनिक भारत का इतिहास’ बी.एल. ग्रोवर, पृ. 521

[←112]

वही, पृ. 422

[←113]

वही, पृ. 402

[←114]

‘भारतीय स्वतंत्रता का इतिहास’, ताराचंद, पृ. 402

[←115]

‘भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास’, ताराचंद, पृ. 420

[←116]

‘द इंडियन नेशन कांग्रेस’, पृ. 1042

[←117]

वही, पृ. 422

[←118]

'सांप्रदायिक राजनीति व भारत का विभाजन', तेजवीर सिंह, पृ. 14

[←119]

वही

[←120]

‘द इंडियन मुसलिम’, भाग-1, शान मुहम्मद, संदर्भ अलीगढ़ इंस्टीटयूट-1906

[←121]

‘द कामरेड’ 13 जनवरी, 1912

[←122]

‘मेकर्स ऑफ पाकिस्तान एंड मॉडर्न मुसलिम इंडिया’, ए.एच. अलबरूनी पृ. 107

[←123]

‘लोकमान्य तिलक’, के.डी.वी. साहम्नकर, पृ. 248

[←124]

'भारतीय स्वतंत्रता का इतिहास', ताराचंद, पृ. 476

[←125]

‘भारतीय स्वतंत्रता का इतिहास’, ताराचंद, पृ. 493

[←126]

‘भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन का इतिहास’, खंड-3, ताराचंद, पृ. 460

[←127]

'नेहरू संग्रहालय, द टाइम्स ऑफ इंडिया', 7 सितंबर, 1921

[←128]

‘स्ट्रगल फॉर फ्रीडम’, भाग-2, आर.सी. मजूमदार, पृ. 362

[←129]

वही, पृ. 363

[←130]

‘राष्ट्रवाद, विश्वयुद्धों के दौरान’, इग्नू, पृ. 28

[←131]

'मोहम्मद अली जिन्ना', एम.एच. सैयद, पृ. 28

[←132]

‘लाला लाजपत राय’, खंड-2; राइटिंग, खंड-2, वी.सी. जोशी, पृ. 18

[←133]

‘गांधी एज आई न्यू हिम’, इंदुलाल याज्ञिक, पृ. 129-130

[←134]

वही, पृ. 51

[←135]

'गांधीजी की दिल्ली डायरी', भाग-3, ब्रजकृष्ण चाँदीवाला, पृ. 438

[←136]

‘गांधीजी की दिल्ली डायरी’, खंड-3, ब्रजकृष्ण चाँदीवाला, पृ. 64-65

[←137]

‘गांधीजी की दिल्ली डायरी’, ब्रजकृष्ण चाँदीवाला, पृ. 85

[←138]

‘गांधीजी की दिल्ली डायरी’, ब्रजकृष्ण चाँदीवाला, पृ. 63

[←139]

वही, पृ. 65

[←140]

वही, पृ. 90

[←141]

वही, पृ. 116

[←142]

वही, पृ. 117

[←143]

‘हिंदू मुसलमान’, महात्मा गांधी, पृ. 13

[←144]

‘कम्युनल यूनिटी’, एम.के. गांधी, पृ. 4-5; ‘पाकिस्तान द फार्मेटिव फेज’, खालिद बिन सैयद, पृ. 62

[←145]

‘हिंदू मुसलमान’, महात्मा गांधी, पृ. 21

[←146]

‘हिंदू मुसलमान’, महात्मा गांधी, पृ. 61-62

[←147]

'गांधीजी की दिल्ली डायरी', ब्रजकृष्ण चाँदीवाला, पृ. 267

[←148]

'गांधीजी की दिल्ली डायरी', ब्रजकृष्ण चाँदीवाला, पृ. 269

[←149]

‘गांधीजी की दिल्ली डायरी’, ब्रजकृष्ण चाँदीवाला, पृ. 151

[←150]

‘गांधीजी की दिल्ली डायरी’, ब्रजकृष्ण चाँदीवाला, पृ. 156

[←151]

‘गांधीजी की दिल्ली डायरी’, ब्रजकृष्ण चाँदीवाला, पृ. 294

[←152]

‘गांधीजी की दिल्ली डायरी’, ब्रजकृष्ण चाँदीवाला, पृ. 348

[←153]

'गांधीजी की दिल्ली डायरी', ब्रजकृष्ण चाँदीवाला, पृ. 366

[←154]

‘गांधीजी की दिल्ली डायरी’, ब्रजकृष्ण चाँदीवाला, पृ. 389, 503

[←155]

'गांधीजी की दिल्ली डायरी', ब्रजकृष्ण चाँदीवाला, पृ. 366

[←156]

‘गांधीजी की दिल्ली डायरी’, ब्रजकृष्ण चाँदीवाला, पृ. 117-118

[←157]

‘गांधीजी की दिल्ली डायरी’, ब्रजकृष्ण चाँदीवाला, पृ. 509, 524, 523

[←158]

‘गांधीजी की दिल्ली डायरी’, ब्रजकृष्ण चाँदीवाला, पृ. 524, 532, 537

[←159]

‘भारत विभाजन के गुनाहगार’, राममनोहर लोहिया, पृ. 26, 28, 29

[←160]

वही, पृ. 39

[←161]

वही, पृ. 85

[←162]

वही, पृ. 41

[←164]

‘भारत अथवा पाकिस्तान विभाजन’, भीमराव आंबेडकर, पृ. 121, 122

[←165]

‘भारत अथवा पाकिस्तान विभाजन’, भीमराव आंबेडकर, पृ. 123, 124

[←166]

‘भारत अथवा पाकिस्तान विभाजन’, भीमराव आंबेडकर, पृ. 125

[←167]

‘भारत अथवा पाकिस्तान विभाजन’, भीमराव आंबेडकर, पृ. 221

[←168]

‘भारत अथवा पाकिस्तान विभाजन’, भीमराव आंबेडकर, पृ. 248

[←169]

वही, पृ. 366

[←170]

वही, पृ. 249, 250

[←171]

वही, पृ. 253, 254

[←172]

वही, पृ. 256, 258,259

[←173]

वही, पृ. 259, 262, 269

[←174]

वही, पृ. 260, 261

[←175]

वही, पृ. 262, 264

[←176]

वही, पृ. 264

[←177]

वही, पृ. 70, 71, 72

[←178]

वही, पृ. 72

[←179]

वही, पृ. 150

[←180]

वही, पृ. 153

[←181]

वही, पृ. 152

[←182]

‘यंग इंडिया का’ 2 जून, 1920 का अंक

[←183]

‘भारत अथवा पाकिस्तान विभाजन’, भीमराव आंबेडकर, पृ. 162

[←184]

‘भारत अथवा पाकिस्तान विभाजन’, भीमराव आंबेडकर, पृ. 164

[←185]

‘भारत अथवा पाकिस्तान विभाजन’, भीमराव आंबेडकर, पृ. 165

[←186]

‘भारत अथवा पाकिस्तान विभाजन’, भीमराव आंबेडकर, पृ. 188

[←187]

‘भारत अथवा पाकिस्तान विभाजन’, भीमराव आंबेडकर, पृ. 171-185

[←188]

‘भारत अथवा पाकिस्तान विभाजन’, भीमराव आंबेडकर, पृ. 189

[←189]

‘आधुनिक भारत का इतिहास’, बी.एल. ग्रोवर, पृ. 342

[←190]

‘आधुनिक भारत का इतिहास’, बी.एल. ग्रोवर, पृ. 343

[←191]

‘पाकिस्तान रिजाल्यूशन रिविजेटिड’, सिकंदर हयात, पृ. 541-542, ‘कैन पाकिस्तान सरवाइव’, पृ.-35 से 39

[←192]

‘विभाजन अस्वीकार पुस्तक में’ महेश शर्मा दीनदयाल शोध संस्थान 15 अगस्त, 1997 की गोष्ठी

[←193]

‘सांप्रदायिकता का ऐतिहासिक’, प्रभा दीक्षित, पृ. 78; ‘यशपाल आधुनिक भारत का इतिहास’, बी.एल. ग्रोवर, पृ. 423

[←194]

3. 'मिंटो के स्मरण-पत्र', 21 मार्च, 1907, 'इंडिया मिंटो और मार्ले', पृ. 110

[←195]

‘आधुनिक भारत का इतिहास’, बी.एल. ग्रोवर, पृ. 420; ‘भारतीय स्वतंत्रता का इतिहास’, भाग-3, ताराचंद, पृ. 405

[←196]

बँगलादेश सरकार के 2014 के जनसांख्यिकी आँकड़े

[←197]

‘यशपाल आधुनिक भारत का इतिहास’, बी.एल. ग्रोवर, पृ. 419

[←198]

‘आधुनिक भारत का इतिहास’, बी.एल. ग्रोवर, पृ. 420; ‘भारतीय स्वतंत्रता का इतिहास’, भाग-3, ताराचंद पृ. 405,